श्री वीतरागाय नमः।

निश्चयधर्मका मनन।

संपादक—

श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी,

अनुभवानन्द, स्वसमरानन्द, समयसार टीका, इष्टोपदेश टीका, प्रवचनसार टीका, पञ्चास्तिकाय टीका, गृहस्थ धर्म, जैन शतक टीका, सामायिक-पाठ टीका आदि २ ग्रंथोंके रचयिता व "जैनमित्र" के भूतपूर्व सम्पादक।

प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दि० जैन पुस्तकालय, चंदावाडी-सूरत।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४५५ [प्रति ५

जैनविजय प्रिन्टिंग प्रेस-सूरतमें मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने मुद्रित किया।

लागतमात्र मूल्य—[illegible] रुपया।

२। २)

भूमिका ।

आत्माको सुख शांतिकी आवश्यक्ता है, वह सुखशांति आत्मामें ही है क्योंकि आत्माका स्वभाव सुख शांतिमय है इसलिये हरएक मानवको सुख शांतिके आस्वादके लिये अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करना चाहिये अथवा उसका वारवार मनन करना चाहिये । यही मानव-जन्मका सार है । इसी बातको उपयोगी समझकर '**जैनमित्र**' नामके साप्ताहिक पत्रमें हरएक अंकमें आत्म मननमें उपयोगी ऐसा एक छोटा लेख कई वर्षोंसे दिया जाता है जिसमें **निश्चयधर्मका मनन** नामक शीर्षकको जैनमित्र वर्ष १८ अंक २ ता० ४-११-१६ से प्रारम्भ किया गया और वर्ष २७ अंक ५२ ता० २८-१-२६ तक पूर्ण किया गया था इतने कालमें ४४३ लेख भिन्न २ चर्चाको लिये हुए प्रकाश किये गए थे। इन लेखोंको अध्यात्म-प्रेमियोंने बहुत ही पसन्द किया । वास्तवमें एक एक लेख एक प्रकारका अमृतका घड़ा है जिसको पीनेसे आत्मिक आनन्दका स्वाद आता है । भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषदके प्रमुख व जैन सिद्धांतके मर्मज्ञ व प्रकाशक श्रीमान् वारिष्टर चम्पतरायजी विद्या-वारिधिने यह इच्छा प्रगट की कि इन सब लेखोंका संग्रह पुन पुस्त-काकार मुद्रणकर प्रकाशित किया जाय । उनकी प्रेरणाको ध्यानमें लेकर उदारचित्त दो जैन महिलाओंसे २००) की सहायता प्राप्त हुई तब जैन-मित्रके परोपकारी प्रकाशक सेठ मूलचन्द किसनदासजी कापड़िया द्वारा उक्त संग्रहको वड़े परिश्रमसे पुस्तकाकार प्रगट कराया जाता है जिसको हरएक आत्मप्रेमीको शीघ्र ही एक एक प्रति मगाकर नित्य पाठकर आत्मरस पान करना चाहिये । दाम भी लागतको ही ध्यानमें लेकर अतीव कम रक्खा गया है । इस पुस्तकमें कहीं कोई त्रुटि हो तो विद्वज्जन कृपाकर सूचना करनेका कष्ट उठावेंगे ।

अंकलेश्वर ।
ता० २८-५-२९

आत्मरसिक—
ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद ।

विषयसूची ।

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीकृत-

पूर्वप्रकाशित दो अध्यात्मिक ग्रंथ-

अनुभवानन्द

इसमें अध्यात्मरस पूर्ण ५६ विषयोंका संग्रह,
जैनमित्रसे उद्धृत है। पृष्ठ १२८ व
मूल्य—आठ आने।

मेनेजर,
दि० जैन पुस्तकालय,
सूरत।

स्वसमरानन्द

अथवा

चेतन-कर्म-युद्ध।

इसमें आध्यात्मिक ३८ विषयोंका संग्रह जैनमित्रसे
उद्धृत है। पृष्ठ ८१ लागतमात्र
मूल्य—तीन आने।

निश्चयध[illegible]

१—आत्मिक दुर्ग।

मै अविनाशी चैतन्य प्राणोका धारी, शुद्ध दर्शन और ज्ञान उपयोगसे पूर्ण, पुद्गल द्रव्यसे बनी हुई स्पर्श, रस, गंध वर्णवाली मूर्तिसे रहित, अपने शुद्ध अतीन्द्रिय भावोंका करनेवाला, अपने असंख्यात प्रदेशोंमे सदा स्थित अखंड उनको कभी भी कम बढ़ नहीं करनेवाला, अपने ही अतिन्द्रिय आत्मजनित परमानंदका भोगनेवाला, संसारकी चतुर्गतिमय अवस्थासे रहित तथा सिद्ध समान परम शुद्ध अपने स्वभावमें ही सर्वोच्च रहनेवाला हूं। मेरे सामान्य रूपमें संसारी सिद्धकी कल्पना नही है, न यहां १४ जीवसमास, १४ गुणस्थान अथवा १४ मार्गणा रूप विकल्पोंकी तरंगें हैं। मै सर्व भेदसे रहित परमानन्दमई सिद्ध जातिका धारी, कलंकरहित, द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्मसे शून्य एक चिर्तिपड, ज्ञातादृष्टा, अनंतगुणरूप परन्तु गुणोंसे अभेद, सदा अस्तिरूप, अनुपम, शुद्ध एक जीव पदार्थ हू। स्फटिकमणि सदृश निर्मल पुरुषाकार मूर्तिका धारी मैं अपने ही परम पारिणामिक भावरूपी अखड दुर्गमें निवास करनेवाला, अपने ही स्वरूपमें मस्त, अपने रूप सिवाय अन्यको न अनुभवता हूँ, न देखता हूँ, न स्पर्श करता हूँ, न दूसरा कोई मुझे अनुभवता है, देखता है

और स्पर्श करता है । मैं आप आपी आपका श्रद्धालु ज्ञानी होकर आपमें ही निरंतर चारित्रवान होता हुआ निज स्वभाव परिणमनसे उत्पन्न परम सुखामृतका पान करता हू ।

२—आत्मिक जहाज ।

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वोंके भीतरसे यदि कोई इन सबको निचोड़कर इनका सत—इत्र निकालकर उसका अनुभव करना चहे तो उसको एक निज स्वभावमई कारण समयसाररूप सहज अनंतदर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य्य, आनंदका धारी आत्मतत्त्व ही प्राप्त होगा । इसीका श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र अथवा यों कहिये कि इन तीन गुणोंको अपने सम्पूर्ण प्रदेशोंमें व्यापकर रखनेवाला एक आतमा ही वह धर्मरूपी जहाज है जिसपर चढ़कर यह आत्मा आप ही विना खटकेके अपनी शुद्धपरिणति रूप शुद्ध अवस्थाको उपलब्ध कर लेता है। आत्मा ही जहाज है, आत्मा ही समुद्र है, आत्मा ही रत्नद्वीप है, आत्मा ही खेवटिया है और आत्मा ही पथिक है कि जिसको उस रत्नद्वीपमें जाना है ।

शुद्ध पारणामिक भावमें तल्लीन होनेवाला कारण समयसार भावमई जहाज है । शुद्धसे हीन परिणामोंमें तिष्ठनेवाला आत्मा समुद्र है, जिसको पार करना है; कार्य्य समयसाररूप परम व्यक्त, आवरणरहित, आनन्दस्वरूप चैतन्य घन आत्मा रत्नद्वीप है, स्ववीर्य्य द्वारा निज तल्लीनमय भावको गिरने न देकर उसे स्थिर रखनेवाला भाव खेवटिया है; तथा समय समय विशुद्धताकी वृद्धिको प्राप्त करनेवाला आत्मा पथिक है, जिसे अपने पूर्ण शुद्ध स्वभावरूप रत्नद्वीपमें पहुंचना है। इस यात्रामें रहते हुए सम्यग्ज्ञानी आत्माको

किसी तरहका कष्ट नहीं होता। यही वह योगाभ्यास है जहां मन, वचन, काय अपने आप विना प्रयत्नके गुमसुम हो जाते है। यह योगाभ्यास वास्तवमें श्रुतज्ञानद्वारा अनंत गुणात्मक आत्मद्रव्यका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञानमें उपयुक्त होता हुआ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान व केवलज्ञान अपेक्षा परोक्षज्ञान या वीतराग चारित्रका मननरूप भाव है। जो इस भावके भानेवाले है वे ही मोक्षमार्गी है, और उन्हीको आत्मजन्य अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद आता है, कि जिसकी तृप्तिमें उनका जीवन सफलमनोरथ होता जाता है।

३–अपूर्व औषधि।

सुखका अभिलाषी आत्मा जब अपने अनुभवसे इस वातका अच्छी तरह विश्वास कर लेता है कि इंद्रिय विषयोंमें राग–भाव सुखकारी नहीं, किन्तु दुःखकारी है तथा अपनी सुख शांतिकी अवस्थामें क्षोभ उपजानेवाला है। सच्चा सुख आत्माका स्वभाव है और वह आत्माके ही विशेष गुणोंमेंसे एक गुण है। जब गुण गुणीसे अलग नहीं होता तब वह अपने उपयोगकी चालको अपने शुद्ध स्वभाव रूप वीतराग स्वरूपमें ले जानेका वडी रुचिके साथ उद्यम करता है। यद्यपि अपनेसे भिन्न अनेक कार्य, जो कि चारों तरफ फैले हुए है इस उद्यमशील आत्माके उपयोगको स्वस्वरूपसे छुटाकर अपनी ओर उपयुक्त होनेके लिये निमित्त कारण होते हैं, तो भी परम विश्वास रूपी दृढ़ आश्रयके वलसे, यह उत्साही प्राणी उनकी चाह न करता हुआ अपनी दृष्टि, अपनी श्रद्धारूपी भूमिकामें ही रखता है। निश्चयनयसे जगतका स्वरूप जब उसके ज्ञानदर्पणमें झलकता है तब छह द्रव्योंका पिंडरूप जगत एक विस्तरा

हुआ विश्व मालूम होता है, जिसमें एकसी सदृशताको दिखानेवाले ६ द्रव्य पृथक्२ झलकते हैं। इनमें पुद्गलके परमाणु और स्कन्ध रूप द्रव्य, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच द्रव्य ज्ञान दर्शनकी शक्तिसे रहित हो अजीवपना प्रगट करते हैं और शेष अनंतानन्त जीवद्रव्य इन पांचोके सम्बंधसे छूटे हुए अपने निर्मल ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमई स्वभावमें भरे हुए परम शुद्ध, निर्विकारी, चेतन ज्योतिधारी और असंख्यात प्रदेशी प्रदर्शित होते है, उन्हींके समान आप भी झलकता है। एक जातिमई एकताके दृश्यमें लवलीन होने हुए उस दर्शक उत्साहीको राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अशुद्ध भावोंका दर्शन नहीं होता। इसी दशामें शुद्ध स्वरूपका अनुभव होता है कि जिस अनुभवके भीतर इस ज्ञानीको आत्म सुखका भलेप्रकार स्वाद आता है। यही निश्चयनयके मननका मजा है। इसकी वार वार प्रवृत्ति ही इस भव्यजीवके लिये परम कल्याणकारिणी औषधि है, जो इसकी पूर्वकी सर्व निर्बलताओंको मिटाकर इसकी परिणतिको स्वास्थ्य प्रदान करती है।

४--मेरा राज्य।

मैं अपने राज्यका आप ही स्वामी हूं। मेरा राज्य मेरी ही ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय सम्पदा है। यह सम्पदा और मेरी सत्ता जुदी२ नहीं है। धन, कन, कंचन व्यवहारमें उसके स्वामीसे जुदे दीखते हैं, ऐसा मेरी विभूति मुझसे भिन्न नहीं है। मैं इस विभूतिका आप ही उपभोग करता हूं। इसमें नाना प्रकारके आरम्भ व व्यापार करता हूं। इन आरम्भ व व्यापारोंका असर भी मेरे ही राज्यमें

होता है, दूसरे किसीको न उससे लाभ होता है और न हानि, न दूसरा उसमें कोई अंतराय डाल सक्ता है, इसतरह मै अपनी विभूतिका आप ही भोक्ता हू। मै कितना भी चाहू कि दूसरा कोई उसका भोग कर ले पर मेरी सम्पदाको दूमरा कोई भोग नहीं सक्ता। मैं अपने अतीन्द्रिय धनका आप ही व्यापारी और आप ही भोक्ता होता हुआ आप ही परमानन्दका विलास करता हू। व्यवहारमें उन्मत्त जीव कहते हैं कि मैं राग करता हूं, मै द्वेष करता हू, मै दया करता हू, मैं हिंसा करता हू, अथवा मै मकान बनाता हूं, मै आभूषण गढ़ता हूं, मै वस्त्र बनाता हू, मैं मिठाई बनाता हू, इत्यादि कथन सर्व कल्पनाजाल है। मेरा वीतरागमई स्वरूप शुद्ध है इसलिये मैं शुद्ध ज्ञान दर्शनमई परिणतिके सिवाय और परिणामको कभी नही करता हूं। जो वस्तु जिस स्वभावरूप होती है उसका वैसा ही परिणमन होता है, जैसे—चेतनाका चेतनरूप, अचेतनाका अचेतन रूप। जब मैं शुद्ध चिन्मात्र पिंड हू, तब जैसे शुद्ध सुवर्णके बने कड़े कुंडल आदि सब ही आभूषण उस शुद्ध सुवर्णमई ही होंगे उसीतरह मेरी शुद्ध चैतन्य धातुसे रचे हुए सर्व ही भाव शुद्ध चैतन्यमई होंगे। व्यवहारमें उलझे हुए जीव कहते है कि मै मनुष्य हूं, देव हू, नारकी हू, पशु हू, मै मूर्ख हूं, प्रवीण हूं, मै राजा हूं, मै रंक हूं, मै सबल हू, निर्बल हू, मै योद्धा हू, मै कायर हूं, मैं बंधा हूं, मै खुला हू, मैं निरोगी हू, मै पुण्यात्मा हूं, मैं पापी हूं, मै भागवान हू, मै अभागी हूं इत्यादि, सो यह सर्व उन्मत्तोकेसे वचन हैं। मै इन कही हुई बातोंको आदि लेकर किसी भी विकार रूप परिणतिमे न होकर अविकारी निर्दोष सहज ही चिदानन्दघन

हूं। मै जब अपने साम्हने देखता हूं तो मुझे अलग२ सर्व ही इस विश्वके पदार्थ शुद्ध ही दिखलाई पड़ते हैं। जिसतरह आकाश परम निर्मल एक अखंड द्रव्य अलग प्रतीत होता है उसी तरह मुझे गमन सहकारी धर्मद्रव्य, स्थिति सहकारी अधर्मद्रव्य ये जुदे२ लोकव्यापी मालूम होते है। कालद्रव्य एक२ लोकाकाशके प्रदेशमें अपनी जुदी२ शुद्ध सत्ताको लिये हुए बैठा है। पुद्गल द्रव्य यद्यपि व्यवहारी जीवोंको कोई अणुरूप और कोई स्कंधरूप दिखता है, परन्तु मुझे तो सर्व ही एक२ परमाणु अपनी शुद्ध स्पर्श, रस, गंध, वर्णमई सत्तामें अपना रूप दिखा रहे हैं। यद्यपि विश्वमें जीव अनंत हैं पर उनमें और मेरेमें मुझे कोई अंतर नहीं मालूम पड़ता। जैसा मैं शुद्ध हूं वैसे वे भी शुद्ध हैं। मै क्या करूं, मेरी दृष्टिमें धतूरेका नशा नहीं है जिससे मुझे कोई हरा, कोई पीला दीखे। मैं शुद्ध हूं, मेरी दृष्टि शुद्ध है, और मेरी दृष्टिकी देखनेकी आदत शुद्ध है। मुझे तो सर्व ही जीव शुद्ध मेरे ही समान गुणवाले दीखते हैं। मुझे तो इस सर्व जगतभरमे कही भी अशुद्धता, सरागता, क्षोभपना—दुःखपना दृष्टि-गोचर नही होता। यद्यपि छह द्रव्योंके समुदायरूप जगतमे सर्व जीव चेतन हैं और शेष पांच अचेतन द्रव्य हैं, और यद्यपि एक जीव दूसरेको देखता भी है, पर अपनी२ परिणतिमें हरएक लीन है इससे कोई किसीसे बातचीत नही करता न उपकार व अपकार करता है। मैं अपने स्वपदका धारी होता हुआ अपनी वीतराग सम्पदाका राजा होकर उसीके भोगमे एकचित्त हो लौलीन होता हूं और निज रसके परम अनुभवमई स्वादको लेता हुआ तृप्त होरहा हूं।

५—आत्मिक गुफा।

जब यह आत्मा अपनी शक्तिको सम्हाल अपनी चैतन्यमय भूमिकामें स्थिर होजाता है तब आश्रव चोर दूरसे ही शंका करते हैं और वहां आ नहीं सकते। संवरका झंडा गाड़े हुए यह चित् भूप अपनी अनन्त गुणमय राज्यधानीका राज्य करता हुआ अपने स्वरूपमें ऐसा उन्मत्त होरहा है कि इसके चित्तसे पूजक और पूज्य-भाव, ध्याता और ध्येयभाव तथा ज्ञाता और ज्ञेयभाव निकल गया है। यह अपने अनन्त चतुष्टय स्वरूप और परम पारणामिक भावका स्वत स्वामी है, अतींद्रिय आनन्द इसके हरएक प्रदेशका स्वत्व है, यह शुद्ध चैतन्य परिणतिका ही कर्त्ता और भोक्ता है, शुद्धोपयो-गकी भूमिकामें ही इसकी अबंध दशा है, ऐसी गाढ़ प्रतीति सो ही सम्यग्दर्शन है। आत्मा, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन पांच अनात्म द्रव्योंसे विलक्षण अपने चित् लक्षणसे दीप्तमान अस्ति-मय पदार्थ है ऐसा संशय विपर्यय अनध्यवसाय रहित ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है, कषाय कालिमाको मेटकर और वीतराग भाव जमाकर अपनी ज्ञान चेतनामें स्थिरता पाना सो सम्यक्चारित्र है। इन तीन स्वरूप आत्मा जब वर्तन करता है तब आप ही निश्चय मोक्षमार्गी होजाता है। उस समय यह आत्मा आप ही साधक होकर अपने ही साध्यके लिये आप ही साधन करता है और सच्चा साधु होता हुआ तीन गुप्तिकी गुफामें बैठकर एकाग्रताका आश्रय ले आत्मिक ध्यानमें एकतान होकर अनुभव रसका पान करता हुआ परमानंदका लाभ करता है।

६—आत्मिक धारा।

सर्व आकुलताओंसे रहित परमपूज्य चैतन्यात्मा अपने असंख्यात प्रदेशोंको लिये हुए अपने स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरणमे उन्मत्त होता हुआ जब अपने उपयोगको समस्त पर वस्तुओंसे हटाता है और अपने स्वरूप ज्ञानके धारावाही विचारमें लीन करता है तब एक ऐसी ध्यानकी धारा पैदा होती है जो अनात्माके संबंधको उससे जुदा करने लगती है। उससमय रागद्वेषकी कल्लोलें मिट जाती हैं और वीतरागताका निर्मल जल आत्मसरोवरमें वहने लगता है, कि जिस जलकी आभामें जलधारीको स्वयं अपनी मूर्तिका दर्शन होता है। जिस शांत क्षोभरहित सिद्ध समान निर्विकार मूर्तिको देख देखकर हृदय भीतरसे आल्हादित हो जाता है और ऐसा आसक्त होजाता है कि उस दृश्यके अवलोकनसे जरा भी अलग नहीं हटता। इस स्वरूप—दर्शनमे दर्शकको वह अतीन्द्रिय आनन्दका अनुभव होजाता है जिसका श्रद्धारहित व्यक्तियोंको कभी भी अनुभव नहीं होता। इस आनन्दमें तन्मय होता हुआ भव्यात्मा जिस श्रेणीपर होता है उस श्रेणीपर इंद्रिय—विषयभोगमें लम्पटी एक चक्रवर्ती राजा अथवा एक इन्द्र नहीं होसकता। निश्चयसे सर्व ही जीव शुद्ध हैं। यह भाव समतारसका पान कराता हुआ आत्माको पुष्ट करनेमें परम उपयोगी होजाता है। जो इस साम्यरसका पान करने हैं वे निश्चयधर्मके वास्तविक मनन करनेवाले है।

७—ज्ञानचारित्र।

परम प्रधान सत्य गुणोंका धारी आत्मा जब अपनी स्थितिका विचार करता है तब उसके ध्यानमें आता है कि मैं सदा कालसे

हूं और सदा ही कायम रहूंगा, क्योंकि मैं एक वस्तु हूं। जो २ वस्तु होती है उसकी सत्ता सदा कालसे ही होती है, उसका कभी नाश नहीं होता और न कभी किसीके द्वारा उसकी सत्ताका उत्पाद होता है। मुझमें एक ऐसा अपूर्व गुण है जो मेरे सिवाय अन्य पांच द्रव्योंमें नहीं है। चेतनताका, जिसके बलसे मैं अपनी संसार अवस्थामें इच्छानुसार परिणमन करता हूं, एक विषयपर लक्ष्य था, परन्तु मैं उसे एकाएक छोड़ दूसरेपर ले जाता हूं, क्रोधका भाव होनेपर भी एकाएक शांत होजाता हूं, शोकातुर होनेपर भी बातकी बातमें कामातुर होजाता हूं। चंद्रनखाके जीवमें पुत्रवियोगसे जब शोकाग्नि जल रही थी और वह उससे व्याकुल हो रहा था तब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणके मनोहर रूपको देखकर वह एकाएक कामातुर होगया, ऐसी चेतनता मेरे हीमें है—पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु और आकाशमें नहीं है। चेतनता एक गुण है जो गुणीके आश्रयके बिना ठहर नहीं सकता। इस मुख्य गुणका गुणी मैं जीव हूं। मेरा गुण भी अविनाशी है और मैं भी अविनाशी हूं। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभवपनेसे रहित ऐसे चेतन गुणका स्वामी होकर मैं निश्चयसे रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी, देव, नारकी, मनुष्य, पशु, स्त्री, पुरुष, बालिका आदि रूप नहीं हूं। मैं वीतरागी हूं, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंके मैलसे रहित हूं, इसीसे मेरेमें मिथ्यात्वसे ले अयोगी पर्यंत १४ गुणस्थान, व गतिसे ले आहारक पर्यंत १४ मार्गणाके स्थान नहीं हैं, न मेरेमें इंद्रियां हैं न मैं इंद्रिय-सुखका स्वामी हूं। सुख या आनन्द चेतनाके समान मेरा एक विशेष गुण है। वह मेरी सत्तामें सदासे है। जब मैं स्वच्छ

दशामें अपने ही ज्ञान-स्वभावको अनुभव करता हूं तब मुझे उस आनन्दका स्वाद आता है। वास्तवमें मैं स्वयं परमेश्वर, परमात्मा, सिद्ध, निरंजन, अमूर्तीक, अव्याबाध, अकलंक, निर्विकार, निकल, परब्रह्म स्वरूप, परमपवित्र ईश्वर हूं। मुझे शुद्ध नयकी दृष्टि मेरा स्वरूप ऐसा ही झलकाती है। अब मैं इसी स्थितिमें लीन होता हुआ संसार-वासनाओंसे बाह्य शुद्ध ज्ञान—वासना हीमें तन्मय होरहा हूं।

८—निर्मोहीमें साम्य।

मोहके जालमें उलझ रहा हुआ एक पुरुष उसके दिये हुए इंद्रिय विषयरूप लालचमें रंजायमान होता हुआ और इस अवस्थासे रागी द्वेषी होकर नाना प्रकार अजीव रूप कार्माण वर्गणाओंसे लिप्त हो, इस चतुर्गतिरूप संसारमें नटकी तरह अनेक भेष धारणकर निराकुल सुखकी तृष्णामें उसीतरह वारम्वार चक्कर लगाता और क्षोभित होता है जिसतरह कि रेतके वनमें हिरण अपनी प्यास बुझानेको सूर्य-किरणसे चमकती हुई रेतमें जलका आभास मान उसकी ओर दौड़ता है और वहां जल न पाकर आकुलित होकर दूसरी ओर फिर उसी भ्रम-बुद्धिसे दौडता है और वहांसे भी निराश होकर अपनी तृष्णा बुझानेके लिये भटक भटककर महा दुःखी होता है। निश्चयनयसे तीन लोक और अलोकके धनीकी ऐसी नीच दशा जिस अजीवके संगसे हुई है उस अजीवको जब यह आगम, युक्ति, गुरूपदेश और स्वसंवेदन ज्ञानसे अपनेसे बिलकुल भिन्न अनुभव करता है और अपनी शक्तिकी महिमामें लीन होता है तब यह अपने निर्विकार, निरंजन, भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म रहित, अविनाशी, अस्तित्वादि साधारण और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र आदि

विशेष गुणोसे युक्त परम शुद्ध जीवत्व नामके पारिणामिक भावके धारी स्वरूपको निर्मल दृष्टिसे देखता है। इस स्वरूप अवलोकनमें जो आनन्द आता है वही एक निराकुल परम तृप्तिकारी अतीन्द्रिय सिद्धोंके सुखके समान सुख है, जिसको अनुभव करते हुए जो शांति और सुख होता है वह वचनअगोचर है। उससमय तीन लोकके जीव सर्व ही शुद्ध, विकाररहित, समता देवीके मंदिरमे शातिसे विराजे हुए और अभ्यंतरिक समताकी पूजा करते हुए ही दृष्टिगोचर होते हैं और इस वाक्यको सत्यार्थ करते हैं कि "सब्वे सुद्धा हि सुद्धणया।"

९—मेरा कोई शत्रु व मित्र नहीं है।

मैं न द्रव्यकर्म हूं न भावकर्म, एव न मैं द्रव्यकर्मकी शक्ति-रूप हूं न भावकर्मकी शक्तिरूप, न मै शरीरादि नोकर्म हूं, न मै किसी प्रकारके रागादि अध्यवसान रूप हूं। मै अचेतन और अचेतनके निमित्तसे उत्पन्न हुई चेतनमें नाना प्रकारकी परिणतिसे निराला हूं। मै ज्ञाता दृष्टा अविनाशी निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप अभेद रत्नत्रयका धनी अपने अनन्त गुणरूप विभूतिका आप स्वामी हूं। मेरा इस जगतमें न कोई शत्रु है और न मित्र। जो जगत मुझे (मेरे शुद्ध आत्म-स्वरूपको) देखता है वह मेरा (मेरे शुद्ध आत्म-स्वरूपका) कभी वैरी या बंधु नहीं होसक्ता और जो जगत (मेरे शुद्धस्वरूप) को नहीं देखता है किन्तु मेरे शरीरादि बाहरी घर मात्र हीको देखता है, वह भी मेरा (मेरे शुद्ध आत्म-स्वरूपका) शत्रु या मित्र नही हो सक्ता। वह भले ही मेरे शरीरका उपकार या अपकार करे पर उससे मेरे ज्ञान-बलकी दृढ़तामें तल्लीन आत्म-स्वरूपको कोई बाधा नहीं पहुंच सकती।

मैं एक चेतन पिंड हूं, मेरे अनादि अचेतनका सम्बंध है तो भी मेरे पिंडमे जो शुद्ध पारिणामिक भाव रूप अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य और अनंतसुख आदि गुण समूहशक्ति रूपसे विराजमान होरहे है उनका कभी नाश, ह्रास या अन्यथा अर्थात् दर्शनका अदर्शन, ज्ञानका अज्ञान, वीर्यका वीर्यरहितपना आदि परिणमन न हुआ है, न होता है और न होवेगा । भले ही कर्मोंके आवरणके निमित्तसे उस शक्तिकी व्यक्ततामे कमी होजाय, पर न मैं और न मेरा कोई गुण अपने स्वरूपको कभी त्याग सक्ता है ।

यह मेरी वडी अज्ञानता थी जो मैं अचेतन और उसके अचेतन गुण व अचेतन पर्याय तथा चेतनमें अचेतनके निमित्तसे हुई नाना प्रकारकी मिथ्यात्वादि गुणस्थान व गति, इंद्रिय आदि मार्गणास्थान रूप परिणतियोको अपना स्वरूप मान रहा था और उन्हींके मोहमे निरतर लवलीन था। सवेरसे शयन काल तक क्षणिक शरीर व उसके सम्वधियोंकी रक्षाके ही प्रयत्नमें था । एक क्षण भी इस वातको अवकाश नही मिलता था जो मैं अपने आपकी तरफ उपयोगकी नजर भी उठाकर देखू । श्रीजिनेन्द्र आगम, अपनी बुद्धि व अनुमान प्रमाणकी युक्ति, सत्यार्थ गुरुके उपदेश तथा स्वसंवेदन ज्ञानसे अव मैंने मेरेको भुलानेवालोंकी पहचान कर ली है इससे अब मैं अपनेको सिद्धके समान शक्तिका धारी जानता हुआ शुद्ध नयकी दृष्टिसे एक अपने शुद्धस्वरूपके अनुभवमे ही लीन होनेसे परमानंद मानता हूं और वास्तवमें निज उपयोगको शुद्ध आत्माके विचारमें लगानेसे जिस अतींद्रिय सुखका अनुभव कर रहा हूं उसका वर्णन नहीं किया जासक्ता ।

१०-रागद्वेषसे स्वसंवेदन ज्ञान ।

परम शक्तिधारी अनुपम अविकारी निजानन्द आराम-विहारी आत्मा जब शरीर और उसके विकारोंकी चिन्तासे निवृत्त होजाता है और पुद्गलकी सगतिसे होनेवाले भावोंका भी तिरस्कार करता है तब पहले एक जातिके रागद्वेषमें फप जाता है। मैं सिद्धकी जातिका धारी निराकुल सुख-भोक्ता, परम वीतराग और शुद्ध हू। यह मेरी शक्ति है। इसीकी प्राप्ति मेरेको उपादेय है, यह तो राग पैदा होता है और यह चार गतिमय संसार, यह द्रव्य कर्म, यह भाव कर्म, यह नोकर्म, यह परिवार, यह धन सम्पदा, यह लौकिक ऐश्वर्य्य यह सब आत्माके स्वरूपसे भिन्न हैं, इनका संग आत्माकी हानि करनेवाला है, इस प्रकारका द्वेष पैदा होता है। स्वसे प्रेम, परसे अप्रेम इस जातिके रागद्वेषमें भीगे हुए आत्माके शनै.२ स्वका प्रेम अपने शुद्ध आत्मीक अनुभवके आनन्दमें डूबते हुए विलय होजाता है तब किसी जातिका रागद्वेष नहीं होता। इस परिणतिको स्वसं-वेदन ज्ञान कहते है। इसी परिणतिमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो उसी तरह घुले रहते हैं जैसे एक ठडाईमें पानी, शक्कर, मसाला आदि सब घुल जाते है और जैसे इस ठडा-ईको पीनेसे तीनोंका ही एक साथ अभिन्न अनुभव होता है, ऐसे ही स्वसवेदन ज्ञानमें अभेद नयसे तीनोंका ही प्रवेश है और वहां तीनोंका एक होना ही परम विलक्षण अनुभव है—यही परिणति निश्चयसे मोक्षका मार्ग है। जो इस मार्गमें विना जरा भी गिरे हुए अतर्मुहूर्त्त डटे रहते हैं वे तुर्त भाव-मोक्षका लाभकर जीवन्मुक्त परमात्मा होजाते हैं और जो पूर्ण डटे नही रह सकते वे इस परि-

णतिसे गिरकर फिर भी इसीकी भावना करते हैं, जिसके प्रतापसे वे पुनः इस स्वसवेदन ज्ञानमें आजाते हैं। इसतरह पुनः२ अभ्यास किया जाना ही निश्चयधर्मका मनन है। जो कोई सुबुद्धी इसकी रुचि करते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं या सम्यग्दर्शनके सन्मुख हैं। ये भव्य जीव परमात्म स्वभावके भजनमें परम संतोषी होते हुए अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्दके स्वादमें परम तृप्त रहते हैं।

११--मोक्षवधूके लिये प्रयत्न।

गुणोंका सागर आत्मा जिससमय सर्व प्रपचजालोंको त्याग कर अपना उपयोग अपने रूपकी सुन्दरताके अवलोकनमें जोड़ देता है उससमय उसको इंद्रियोंके अगोचर उसी जातिका आनद होता है जो आनद शुद्ध आत्माको साक्षात् अंतराय रहित अनुभवमें आता है। मै अपनी सत्ताका आप धनी, सदा अविनाशी, ज्ञानदर्शन रूपधारी, अविकारी, सबसे अलिप्त परन्तु सबके भेदोंका ज्ञाता, शुद्ध चिदानंदघन हूं, मेरी शक्ति मेरेमें पूर्ण भरी है। मै अपने शुद्ध पारमाणिक भावका आप कर्ता हूं तथा उसीका ही भोक्ता हूं। मेरा इस षट्द्रव्योंके समुदायमई जगतमें किसीसे भी सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि मेरे शुद्ध परिणमनमें सहाई कालद्रव्य है, परन्तु वह मात्र जड़ उदासीन कारणरूप ही है। यद्यपि जगतके सर्व जीव शुद्ध निश्चयनयसे गुणोकी अपेक्षा समान हैं तौभी हरएककी सत्ता एक दूसरेसे निराली है, किसीसे किसीका भी कोई सम्बंध नहीं। अतएव मैं एकाकी अपनी विभूतिका आप धनी अपने शुद्ध आनंदका स्वयं भोगनेवाला हू। निश्चयधर्म मेरा ही निश्चय स्वरूप है। मैं इस स्वरूपको कभी भी त्याग नहीं सक्ता। इस स्वरूपमें रागद्वेप मोहकी कालिमा

नहीं है, न इसमें कोई विषयवासना है। अपने वीतराग विज्ञानमय स्वरूपमें ही इसका सतत् निवास है। मैं इसी स्वरूपका अनुभव करनेवाला रहकर अपने शुद्ध पदके आनंदविलासमें सदा ही अबध रहनेकी आकांक्षा करता हूं। यह मेरा खास कर्तव्य कर्म है। मै अपने इसी कर्मके द्वारा शिवनारीके वरनेके लिये प्रयत्नशील होरहा है।

१२--आत्मसृष्टि।

गुण गणधारी शांतरसानुभवी आत्माका पर पदार्थोंसे विरक्त हो अपने ज्ञानानंदमय स्वरूपमें सन्मुख होना मानो जगतसे हटकर अमल अचल आकाश सदृश असंग आत्माकी अनंतगुणरूप सृष्टिमें प्रवेश करना है। जैसे यह जगत अनादि अनंत अकृत्रिम है वैसे ही यह आत्मसृष्टि अनादि अनत अकृत्रिम है। इस सृष्टिके निवासी दर्शन, ज्ञान, वीर्य्य, सुख, चारित्र, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य आदि महानुभावोंकी शरणमें जाकर एक एककी पृथक२ भक्तिमें जो लीन होते है उनको ही निश्चयसुखका विलास प्राप्त होता है। जब इस वाह्य जगतमें दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, शरीर कष्ट, मानस कष्ट आदि अनेक विकार और उनके उत्पादक पदार्थ है, तब इस आत्मसृष्टिमें इन सबका अभाव होकर अतीन्द्रिय आनन्द और निराकुलताका नित्य सद्भाव है। जैसे कि इस वाह्य शरीरका जन्म और मरण दिखलाई पड़ता है वैसे ही इस आत्मसृष्टिमें शुद्ध गुणोंकी स्वाभाविक परिणतिका उत्पाद और व्यय है। इस उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक आत्मसृष्टिको देखते२ ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीन स्वरूप ब्रह्मकी स्मृति होजाती है। वास्तवमें यह आत्मा ब्रह्म है। इसकी चिद् परिणति उत्पन्न और व्यय

होती है तौ भी चेतना गुणका ध्रौव्यपना है। सर्व आडम्बरोंको छोड़कर जो सदा इस आत्मसृष्टिमें कल्लोल करते हैं वे शनैः शनैः ऐसी शक्ति प्रगट कर लेते हैं जिससे यह आत्मसृष्टि आत्मामें ही समा जाती है और बाह्य जगतका नकशा भी उसीमें जम जाता है, मानो सर्वको व्यापकर रहनेवाला आत्मा हो जाता है। इसतरह आत्मद्रव्यके ज्ञाता जब अपना उपयोग आपमें रमाते हैं तब जगतके क्षणिक सुखोंसे अतीत आत्मानन्दका लाभ करते हैं।

१३--अपने घरमें विश्राम।

सर्व संसार–विकल्पोंसे दूर ज्ञानानंदमय स्वाभाविक तत्वका मनन व अनुभव इस मुमुक्षु जीवको मोक्षप्राप्तिका उपाय है। अनंतगुण पर्यायोंका समूह चेतनता लक्षणधारी स्व तत्वमें विलास आत्मीक अतींद्रिय आल्हादके लाभ विना संसार विकल्पजनित चिन्ताओंसे इस प्राणीका बचाव नहीं होता। मै निश्चयसे अष्टकर्म रहित राग-द्वेष मोहकी कालिमासे वर्जित शरीरादि सम्बन्ध विना स्फटिकमणिके समान पूर्ण निर्मल एक शुद्ध बुद्ध गुण पर्यायमय आत्म पदार्थ हूं। मेरी सत्ता मेरे हीमें है। मेरी परिणतिका मैं ही स्वामी हूं। सूर्य जैसे अंधकारसे अन्ध होकर अपने स्वभावको नही त्यागता वैसे ही मैं अपने स्वभावको अपनी नित्य शक्तिमेंसे कभी त्यागनेवाला नहीं हूं। यह निश्चय रखते हुए भी कि मेरे स्वभाव रूपी निज घरमें रहना सर्वथा निःकंटक और निरतर आनंदप्रद है, वह जीव अपने स्वभावसे वाहर २ रहता है-यही इसका अपराध और दुःखका हेतु है। सुखका अर्थी इसीलिये स्वभाव-धाममें ही विश्राम करके परम अभिराम निज ग्रामसे उत्पन्न अनुपम आनन्द धान्यपर सन्तोष करता;

हुआ और निज अनुभूति तियासे एकमत हो कल्लोल करता हुआ जिस शांति और वीतरागताका लाभ करता है उसका मनन भवसुख-पिपासु जीवको कदापि नहीं होता। वह अपराधी होकर कर्म बांधता है, जब कि स्व स्वभावमे लीन आत्मा निरपराधी रहकर सदा निर्भय और निःशंक पदमें अचल तिष्ठता है। उसकी यह स्थिति परम पद प्रगटताका एक असाधारण साधन है और यही निश्चय धर्म है। सोहकी शरण लेनेवाले इस धर्मके मननमे परम प्रीतियुक्त होते हुए सदा स्वात्मिक रसका पान करते है।

१४--आत्मसमुद्र।

सच्चिदानन्दमय आत्माका निज शुद्ध आत्मभूमिमें अवस्थित होना और राग द्वेषमई परिणामोंका न करना सम्यक्चारित्र है। इसीके बलसे यह आत्मानुभवरूपी साधन आतमसाध्यकी स्वय सिद्धि करनेमें प्रवृत्त होता है। बाहरी सम्बन्धोंका होना स्वभावके विकाशमें उस समयतक अतरायकारक होता है जबतक इसके अतरके परिणामोमे मोहका जोर होता है। मोहको मै नहीं जानता, इसका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मै एकाकी, असहाय, अपने स्वरूपका आप स्वामी हूं। ऐसा समझकर जब मेरी परिणति अपने आप ही सर्व विकल्पोंको त्यागकर निर्विकल्प और शुद्ध हो जाती है तब उसीमें मुझे अपना सर्वस्व दिखता है। उसीमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, संयम, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना आदि सद्गुण स्वय झलकते हैं, और जब मै अनत गुणरूप आत्म–समुद्रमें डुबकी लगाता हूं तब वहां अलग२ सद्गुणोंका भान नहीं होता, किंतु एक परम शांत अद्भुत समुद्र झलकता है, जिसमें डूबनेसे और जिसके स्वाद

लेनेसे जो कुछ अनुभवगोचर होता है वही आत्माके शुद्ध स्वभावका आलम्बन है। इसीको आत्मसमाधि भी कहते हैं। इस अवस्थामें मन, वचन, काय इन तीनोंका गुजर नही होता। इन तीनोंके प्रपंचजालोंसे रहित होना ही वास्तवमें अभेद रत्नत्रय, वीतराग सम्यक्त, स्वसंवेदनज्ञान और वीतराग चारित्र है। यही निश्चय धर्म है, यही परम पुरुषार्थ है, यही उपादेय कार्य है। इसीका मनन मुमुक्षु जीवके लिये हितकारी, आनन्दकारी और मोहान्तक है।

१५--अपूर्व--विश्रांति।

कर्म-फदोंसे अतीत आत्मा जब अपनी अटल सपदाको आपके शांत सुखदाई भंडारमें एकत्रित देखता है तो महा आनंदमें फूला नही समाता है। एक प्रकारकी उन्मत्तता उसपर आजाती है जिसकी वेहोशी उससे तीन जगतको भुलवा देती है। वह तृप्त हुए सिंहके समान निर्भय हो अपनी त्रिगुप्तिमय वीतराग विज्ञानमई गुफाके भीतर विश्राम करता है। मानों उसका सब सम्बंध सबसे छूट ही गया है। उसकी इस निश्चल दशामें भीतरी निद्रा नहीं है। वहां तो एक अद्भुत तरंगोंका समुद्र लहलहा रहा है। अनत गुणोंकी परिणतियां होती ही रहती हैं। इनके होते हुए भी इस अनुभवीको एकाकार स्वरसका ही स्वाद आता है। यह तो अपनेको निर्विकल्प ही समझता है। वह अपनेको निर्विकल्प समझता है या सविकल्प यह बात भी कौन कह सकता है? वहां तो ऐसी एकाग्रता व तन्मयता है कि प्रमाण, नय, निक्षेप आदि सब मारे भयके कांपते है, उसके स्पर्श करनेका भी साहस नहीं कर सकते। शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि सर्व जीवोंको एक शुद्ध चिन्मात्रमय धातु-पिंड ही देखती

है। नर नारक आदि भेद कहीं नजर ही नहीं आते। रागद्वेष आदि विभावोंका कहीं मैल ही नहीं दीखता। पुद्गल आदि अजीवोंका तो कहीं पता ही नहीं चलता, फक्त एक चैतन्य परिणतिका महान् लोकव्यापी समुद्र दिखता है। समुद्र दिखता है या क्या यह भी कौन कह सकता है? वह इस शांत सुखदाई आत्म-समुद्रमें डूब जाता है और फिर ऊपर उठनेका भी उत्साह नहीं करता। इस निराली अटल तल्लीनताका भी कोई ठिकाना है? इसी लयतामें कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरणका भी पता नहीं चलता। इस परम योग, परम समाधि, परम मग्नताका आनंद जो प्राप्त करते हैं वे अवश्य सदा काल आनंदित रहते और अपनी अनुभूति तियासे उत्पन्न अनुभवरूपी रसका सदा पान करते रहते हैं।

१६-अपूर्व वीरता।

आत्मा जबतक प्रबल जोरमें पड़ा हुआ था तबतक अपने आपके तीव्र वैरी मोहके विजय करनेका कोई उपाय नहीं कर सक्ता था और जब इसकी आत्मश्रद्धाविहीन अवस्था थी तब तो यह जगतके क्षणिक पदार्थोंके लिये न्याय अन्यायका विचार छोड़ चाहे जिससे लूटफाट कर व मार धाड़कर धनादि लेनेमें ही अपनी वीरता दिखलाता था और कहीं अपनेसे अधिक शरीर बलधारीके द्वारा मार भी खाता था। कभी आत्मश्रद्धा होनेपर भी कषायोंके वशमें होकर बड़े२ शत्रुओंसे मुकाबला करनेको रणक्षेत्रमें जाता और उनको विजयकर वीरताकी उपाधि उपलब्ध करता था। पर जन्मभर परि-श्रमसे एकत्र की हुई विभूति सदा इस आत्माके साथ रह नहीं सक्ती। आत्मा आयु कर्मके आधीन है। आयु कर्मकी स्थितिसे

अधिक किसी खास शरीरमें रह नहीं सक्ता। अतएव जब बली शरीरको आत्मासे अलग करता तब यह अपनी वीरताका कुछ भी चिरस्थाई फल न पाता हुआ अपने भावोंके अनुसार अन्य शरीर धारणको चला जाता है। इस अध्रुव वीरताको लात मारकर एक उत्साही आत्मा अपने आत्माके वैरी मिथ्यात्व नाम दर्शन-मोहको और उसके प्रबल साथी अनंतानुबन्धी कषाय आदि योद्धाओंको नाश करनेके लिये तैय्यार होजाता है। तब यह वीर अपने सहकारी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, वीर्य्य, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच आदि गुणरूपी योद्धाओंको अपने भावरूपी रण-आंगनमे खडा करता है और मोह द्वारा भेजे हुए सासारिक सकल्प विकल्प भावरूप योद्धाओंको अपनी भूमिमेसे हटाता है तथा अपने सहकारियोंके साथ समभावसे एक-रूप होकर जब अपना वीर्य्य प्रगट करता है तब रत्नत्रयकी एकता-रूप बोधि, समाधि, स्वसवेदन ज्ञान या वीतराग परिणतिकी एकता-द्वारा सज्जित हो मोहके साथ युद्ध करने लगता है। इस सज्जित अवस्थाको यह वीर स्ववीर्य्यसे बराबर बनाए रखता है, यद्यपि बाहरसे मोह-सेनाके बाण आते हैं तौभी उनसे इसकी एकता व एकाग्र आत्मवीर्य्य सन्मुख परिणतिमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं पड़ता। यह ध्यानी वीर एक अपनी आत्म-भूमिपर डटे हुए तथा जब इच्छा हो तब आत्मानुभवरूपी अमृतसे अपनी क्षुधातृषाको शांत किये हुए अपने वीतराग परिणमनरूपी धनुषके द्वारा ऐसे कठोर शुद्ध-भावरूपी बाणोंको छोड़ता रहता है कि धीरे २ मोहका विध्वंश होता जाता है। ज्यो ही मोहका कोई परिवार मरता है, आत्मवीरका साहस द्विगुण २ होता जाता है। इसकी थोड़ी देरकी ही एकाग्रता इसे

शुक्लध्यानकी तेजीमें ले आती है और यह बहुत ही उत्साहसे मोहका नाशकर और फिर अन्य विघ्नकारकोंको हटा भरत चक्रवर्तीके समान अंतर्मुहूर्तमें केवलज्ञानी और अनंत सुखी होकर अपनी उस अपूर्व वीरताके ध्यानमें उन्मत्त रहता है जिसके प्रभावसे मोह विजयी हुआ और फिर निर्विघ्नपने अपनी शुद्ध आत्म राजधानीका राज्य करता हुआ परमानन्दका समय२ लाभ करता रहता है।

१७-अद्भुत शृंगार.

आज यह आत्मा शिवकन्याके वरणके लिये परम सजधजके साथ उद्यत हो गया है। इसने अपने असंख्यात प्रदेशी शरीराकार तनमें लगे हुए मैलको छुडानेके लिये परम सुगंधित भेदविज्ञानरूपी उबटन लगाकर अभेद रत्नत्रयरूपी आत्मरत्नाकरके परम मिष्ट सुधा-सम जलमें खूब एकाग्रतासे मलमलकर स्नान किया है। स्नानके पीछे अति कठोर स्ववीर्यरूपी अंगोछेसे यह अपने तनको साफ और शुष्क करता है, परम पवित्र निर्मल शुक्लध्यानकी सफेद धोती पहनकर वैराग्यरूपी चंदनका तिलक लगाता है, ज्ञानदर्पणमें देखता हुआ शरीरको पवित्र और बामूल्य गुणरूपी आभूषणोंसे सज्जित करता है, रत्नत्रयकी मनोहर एकाग्रतासे चमकता हुआ मुकुट सिरपर धारण करता है, समता और शांतिके बहुत ही उज्वल चंद्रकांतिसम कुंडल दोनों कर्णोंमें पहनता है, गलेमें उत्तम क्षमा आदि दशलक्षणरूप बहुत ही सुडौल, मनोहर, और चित्ताकर्षक निर्मल मोतियोंका हार धारता है, दोनों भुजाओंमें स्व दया और पर दयाके बहुत ही चम-त्कृत बाजूबन्ध रखता है। दोनों हाथोंमें भाव संवर और भाव निर्ज-राके बहुत ही मनहरण सुवर्णके त्रिप्रकार रत्नजडित कड़े पहनता है,

कमरमें उपेक्षासंयमकी बहुत ही पुरस्कृत कटिमेखला डाली है, वीत-राग चारित्रका मौर बांधकर स्वसंवेदन ज्ञानका जामा पहन अति महीन आत्मानुभव रूपी स्व प्रेममें रक्त रक्त डुपट्टेसे कमरको अलं-कृत कर पगमे शुद्धोपयोगके अति मनोहर चर्मरहित कपड़ेके बने हुए फेशनेवुल उपानत धार तथा एकाग्रताके घोडेपर सवार हो, तेरह प्रकार चारित्रके कुशल वरातियों सहित स्व आनन्दरूपी बाजोंकी गरजके साथ शिवकन्याके परम शात सुखदाई परम शुद्ध परिणाम-रूपी महलपर जाता है और क्षणभर विश्राम करता है। उससमय इसके अद्भुत शुद्ध शृंगारको देखकर शिवकन्या यकायक रीझती है और इसे वरकर सदाके लिये इसे अनत आनन्दानुभवी बना देती है।

१८—चन्द्रकला।

अनेक संकल्प विकल्प रूपी वृक्षोंसे अति सघन संसार वनमें अज्ञान अंधकारके व्याप्त होनेके कारणसे एक पथिक मार्गको भूल कर इधर उधर भटक रहा है। यद्यपि यहां वृक्ष है, पर शांत सुधा-मय सुखरूपी जलका कोई स्थान नहीं है जिसको यह यात्री ढूंढ रहा है; क्योंकि इसको अति चाहकी तृषाने सताया है। यह प्या-सका मारा फिरते२ अति दुःखी होकर एक वृक्षकी छायामें लेट जाता है। उसको चैन नहीं पडती है, निद्रा भी नही आती, लेटे२ उस वनके संकल्प विकल्परूपी वृक्षोको एक२ करके विचारने लगता है, हरएकके स्वभावको अलग२ सोचने लगता है। इस विचारमें पड़े२ ज्योंही वह उपरको दृष्टि फैलाकर देखता है तो वृक्षोंके बीचसे ही एक मनोहर ज्योति-स्वरूप आत्मचन्द्रसे निकली हुई सम्यग्दृष्टिरूपी कला चमक रही है, जिसका प्रकाश वनमे होरहा है। बस, यह तुर्त

उठा और जो कुछ झिलमिला प्रकाश व्याप्त होरहा था उसके सहारेसे जल-स्थानको ढूढने लगा। थोडी ही देर पीछे एक ज्ञानरूपी पर्वतके नीचे आत्मानुभव रूपी सरोवर दिखलाई पडा। उसे देखते ही पथिकका हृदय-कमल जो प्यासके कारण म्लानित होरहा था सो यकायक विकसित होने लगा। यह जाता है और खूब जी भरके अपने उपयोग रूपी चुल्लूसे उस सरोवरमे स्थित आनन्दामृतको पीता है और परम सुखी होजाता है। यह उस सम्यग्दृष्टि रूपी चद्रकलाकी अपूर्व महिमा है। पथिक इसी हीके प्रकाशमें चलने लगता है। कुछ देर बाद ही उस वनसे निकलकर शिवनगर जानेका जो चारित्ररूपी मार्ग है उसे भी वह पालेता है। धन्य है यह चद्रकला! इसके विना यह पथिक ज्ञानकी आख रखते हुए भी अन्धा था, इसको इच्छित मार्ग प्राप्त ही नहीं होता था, इसकी सुखकी तृषा बुझती ही न थी। इस सम्यग्दृष्टि चंद्रकलाका निवास ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा हीके भीतर है, यह मिथ्यात्व मेघाच्छन्न आत्मामें गुप्त थी जो अब मोहके बादलोंके हटनेसे प्रगट हुई। इस चद्रकलाके प्रकाशके विना ११ अंग ९ पूर्वके पाठी प्रौढ़ विद्वान् द्रव्य लिगी मुनिको भी शिवनगरका पथ नहीं हाथ लगता है। इसके प्रकाशमें बैठा हुआ एक मातंग आनद पाता हुआ बड़ा ही भाग्यशाली है, उतना एक वह क्षत्री वीर नहीं जो इसके प्रकाशके विना सकल्पविकल्परूपी बनमें बहुत काल तक घूमा करता है और कदाचित् सब कुछ बाह्य पदार्थोंको छोडकर भी तपस्वी और ध्यानी होजाता है।

इस चन्द्रकलाकी सदा जय हो जो गुमराहोको राह बताती है, दुःखियोंको सुखी बनाती है, खोजियोंको वस्तु स्वरूप जताती है,

तथा बहिरात्माको अंतरात्माकी श्रेणीमें बिठाती है। जो इसके उपादान कारण हैं व जो इसके प्रकाशमें अपना काम करते हैं वे जगतके क्षणिक सुखोंसे अतीत अनुभवानंदका स्वाद ले परम सुखी रहते हैं।

१९—परमौषधिग्रहण।

अनादि भवबाधासे संतप्त, चिर-दुःख ज्वालसे पीड़ित, चतुर्गतिमे विहार करनेवाला आत्मा तीव्र मोह मदके आवेशसे अति कठिन तृष्णाके रोगोंसे ग्रसित होरहा है। इन रोगोंके कारण इस प्राणीको जो दुःख है वह कहा नही जासक्ता। यह संसारी व्याधिपीड़ित व्यक्ति अपने रोगोंकी शातिके लिये कभी स्त्रियोंकी, कभी नाना प्रकार सुस्वादिष्ट पदार्थोंकी, कभी बहुत तरह सुगंधित वस्तुओंकी, कभी रंगविरंगे चमकीले पदार्थोंकी, कभी अनेक सुरताल सहित गायनोंकी, कभी भविष्यमें पानेवाले सुखोकी आशाकी शरणमें जाता है, पर हर ठिकाने आकुलता ही आकुलता पाता है। रोग यद्यपि किंचित् बाहरसे दब जाता है पर वह भीतर बढ करके और भी जोरसे उठ आता है। अनेक चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्र, आदि पदोंकी विभूतियां भी भोगीं, पर खेद है तृष्णा रोगकी कुछ भी शाति नहीं हुई।

स्याद्वाद विद्याके पारगामी तत्वज्ञानी गुरुके प्रसादसे प्राप्त भेदविज्ञानकी अति पुष्ट जड़ीसे बनी हुई स्वसवेदन ज्ञानरूपी परमौषधिका सेवन करते ही तृष्णारूपी रोग एकदम शांत होजाता है। इस परमौषधिमें रत्नत्रयका शुद्ध रस हरजगह व्यापक है। इसीका सेवन करके अनेक जीव बहिरात्मासे परमात्मा हुए, होते हैं और होंगे। मैं निश्चयसे परम वीतराग शुद्ध ज्ञाता दृष्टा अविनाशी हूं। मैं असंख्यात प्रदेशी अखंड पर पदार्थोंकी सत्तासे रहित एकाकी

द्रव्यापेक्षा नित्य और परिणामकी अपेक्षा अनित्य हूं। यद्यपि औदारिक, तैजस और कार्माण इन तीन शरीरोंके साथ मैं व्यापक होरहा हूं तौभी मेरी सत्ता चेतनमई और इन घरोंकी अचेतनमई है। इनका मेरा कभी भी एकमेक सम्बन्ध नहीं हो सक्ता। मैं वीतरागी, ये रागद्वेषादि उपाधिके होनेमें सहकारी, मैं आनन्दरूप, ये आनन्दके बाधक इन्हींको अपने सुखका कारण माननेसे मैं रोगी हुआ, इसलिये मैं इनसे भिन्न और अपनी ही सत्तामें विराजित आनन्दका इच्छुक होता हुआ जब२ तृष्णा रोग अपना जोर करे तो भेदविज्ञानसे उत्पन्न स्वसंवेदन ज्ञान व आत्मज्ञान, व वीतराग विज्ञानकी परमौषधि ग्रहण करता हूं। इस औषधिके लेते ही वह रोग उसी समय दब जाता है। इतना ही नहीं, किन्तु उस रोगकी जड़ कटती है और साथ ही जितने अंश निरोगता होती है उतने अंश अपूर्व आनन्दका झलकाव होता है। इस अद्भुत स्वादका रसिक होकर मैं इसका इतना शौकीन होजाता हूं कि जबतक मैं सर्वथा निरोग न होऊं तबतक पुनः पुनः मैं इसी औषधिको पीता हूं। ज्यो२ इसका सेवन होता है, मेरा आत्मबल भी बढ़ता जाता है। पुष्टताकी वृद्धिसे रूप भी बढता जाता है। इस निश्चय नयरूपी अंजुलसे पी जानेवाली औषधि पुनः पुनः सेवनसे कभी न कभी ऐसा समय आजाता है जब इसका सर्व मोहका रोग दूर होजाता है। यह परम स्वास्थ्ययुक्त अनंतबली, अनतज्ञानी और अनतसुखी होजाता है। मैं निरंतर वीतराग सम्यक्त स्वसंवेदनज्ञान और वीतराग—चारित्रमई इस परमौषधिके लेनेसे परम आनंदित रहता हूं।

२०—पुरुषार्थ ।

अनादिकालसे यह आत्मा मोहके जालमें उलझा हुआ जिस किसी वस्तुको इंद्रियों व मनके द्वारा ग्रहण करता है उसीमें राग या द्वेष कर लेता है। निराकुलता, चिन्ता रहितता और शांतताको चाहता हुआ भी आकुलता, चिंता और अशांतिके उत्पन्न करनेवाले भावोंमें पड जाता है, इसीसे और अधिक अशांत हो जाता है। वास्तवमें आत्माको शांति व सुख तब ही होसक्ता है जब यह अपने घरकी विभूतिमें संतोष करे और परके भंडारमें लोभकर उसकी याचना न करे। इसके ऊपर जगतको नचानेवाले मोहने ऐसी भुलानेवाली मोहनी धूल डाल दी है, जिससे यह वेखबर हो रहा है। दयालु परोपकारी श्रीगुरु इसको बारबार पुकार कर समझाते हैं, पर यह कुछ भी नहीं समझता। इसके चित्तमें कभी आता भी है कि इस भूलको छोड़ दूँ, परंतु आलस्य इसको झट दबा लेता है। पर अब यह सम्हला है। इसने अपने पुरुषार्थको सम्हाला है। शुद्ध ज्ञान दर्शन आनंदमय शरीर व्यापी परम वीतराग यह आत्मा है, क्रोधादि विकारी भाव इसके स्वभाव नहीं, इस तरहका मेरा असल स्वरूप है ऐसी श्रद्धापूर्वक ज्ञानकी परिणतिमें आत्माका कल्लोल करना, रमना, चलना और थिर होना ही पुरुषार्थ है। यह एक सत्य परम दृढ़ ढाल है जो मोहके आक्रमणोंको दूरसे ही उलट फेंक देती है। यही पुरुषार्थ निश्चयसे वह साधन है जो आत्माके पाससे मोहको विलकुल दूर भगानेवाला है और आत्माको परमात्मा कर देनेवाला है। जो अप्रमादी होकर इस पुरुषार्थपर कमर कस लेता है वह निश्चय स्वरूपके ध्यानमें अकंप होता हुआ अपने त्रिगुप्तमय

परम शांत घरमें जब शुद्ध दृष्टि फैलाकर देखता है तो वहां क्षमा, मृदुता, शातता, निराकुलता, समता, ऋजुता, शुचिता, निर्ममता, सहिष्णुता, चेतनता, वीतरागता आदि महा मनोहर देवियोके दर्शन पाता है। बस फिर पुरुषार्थको छोड़ता नहीं। इसीके बलसे यह उन देवियोंमें रमता हुआ स्वाभाविक आनदका परम अद्भुत स्वाद लेता है।

२१—मूर्छा ।

इस भव-वनमें भटकते हुए एक वियोगी मनुष्यको विश्रातिका कोई स्थान न मिलनेसे और पद पदपर आपत्तियोंका सामना होनेसे जो कष्ट भोगना पड रहा है उसका वर्णन किसी भी तरह नहीं हो सकता। अनन्तकालके लिये क्षुधा, तृषा आदि रोगोंको शमन करनेवाली औषधिके प्राप्त न होनेसे तथा जो वास्तवमें औषधि नही, पर औषधिसी मालूम पडती है उसको सहनशक्तिके अभावमें लेनेसे इसे अपने रोगकी वृद्धि ही करनी पड रही है। कहीं माया, कहीं मिथ्यात्व, कही निदान शल्योके चुभनेसे इसका सर्वाङ्ग अति पीडित और दोषमय होरहा है। यह जिस ओर सुखकी इच्छासे जाता है वही दुःख, निराशा और धोखा पाता है। जिस किसीका आश्रय शांतिलाभकी भावनासे लेता है वही अंतमे अशांतिको भोगरकर पछताता है। यद्यपि यह आत्मा अनन्त-बलशाली है, ज्ञानका भडार है, वीतरागताका पर्वत है, सम्यक्तरससे पूर्ण है, चारित्रके अपूर्व बलको रखनेवाला है और परमात्माकी जाति होनेसे परमानन्दमय है, तथापि इस समय इसकी सारी शक्ति इसीके भ्रमपूर्ण विचारोमे पड़ जानेसे दब गई है। इसका परम मनोहर मुख ग्लानित होगया है। उदासीमें पड़कर यह बिचारा एक वनमें एक विचाररूपी वृक्षके नीचे

बैठ जाता है और नाना प्रकारके कल्पनाजालोंमें उलझता हुआ कभी लेटता है, कभी बैठता है, कभी चारों तरफ देखता है इस तरहकी दशामें यह व्यक्ति पड़ा हुआ है। यह भीतरसे बहुत ही आकुलित और चिन्तावान है कि इतने ही में इसकी आंखोंके सामने एक स्वात्मानुभूति तिया अपना बहुत ही मनोहर रूप धारण किये हुए अति प्रफुल्लितवदन और अनुपम गुणरूपी वस्त्र अलंकारोसे सुसज्जित आती हुई दीख पड़ती है, और वह धीरे२ इसीके निकट आरही है। इस मनुष्यकी दृष्टि ज्यों ही इसके रूपपर जाती है त्योंही इसका सारा शरीर और मन उसके मोहमें डूब जाता है। यह कितना ही सम्हलता है पर नहीं सम्हला जाता, और ज्यो ही वह इसके पास आकर इसकी दृष्टिसे दृष्टि भिड़ाती है त्योंही इसको आनंदानुभवमें मगनता रूप ऐसी मूर्छा आजाती है कि इसे सिवाय स्वात्मासंवेदनके और कुछ मालूम ही नही पडता। स्वात्मानुभूति तिया इसके मूर्छित मुखको अपनी गोदमें रखकर समताकी शांत पवन चलाकर उसे सजीवित रखती है। यह व्यक्ति यद्यपि बाहरसे मूर्छित दीखता है, पर अतरगमें यह निश्चय धर्मके मननसे अब अपनी गुप्त शक्तियोका अनुभव लेता हुआ परम सुखी और परम तृप्त होरहा है।

२२–एक हवाई विमान।

संसाररूपी नाटकशालामें एक पुरुष नाना प्रकारकी वस्तुओंको देखते२ थक गया है पर न देखनेकी चाह मिटती है और न वस्तुओंके भेष व रूप व उनकी पर्यायोंका ही अंत आता है। अनेक चक्करोंको लगाते हुए नये२ रूप ही इसकी दृष्टिके सामने आते हैं, उनको भोगकर ये औरोंके देखनेकी चाह करता है। इस विचारेमें

यह शक्ति नहीं कि जिनको देख चुका है उनके रूपकी स्मृति चिर-कालतक रख सके अथवा एक समयमें सर्व वस्तुओंकी भूत भविष्यत वर्तमान पर्यायोंको देख सके। इस अनत भेषवाली भवरूपी नाटकशालामें पुनः पुनः रूपोंको देखकर विस्मरण होनेसे और आगेके रूप देखनेकी चाह होनेसे यह निर्बल व्यक्ति घबडा गया है-थक गया है-लाचार होगया है। इसको ऐसे किसी स्थानकी जरूरत है जहासे ये सर्व रूपोंको एक साथ देखा करे, इसे न तो विस्मरण हो और न कोई चाह हो। एक दयालु श्रीगुरुको इसके ऊपर बड़ी ही करुणा उपजी और उपकार बुद्धिने ऐसा जोर दिया कि श्रीगुरुके चित्तमें यही आया कि अब इसका अधिक चक्कर लगा२कर क्षोभित होना ठीक नहीं है। ऐसा वाहन बता दो कि जिसपर चढ़कर वह तुर्त ही उस अनुपम स्थानपर पहुच जावे। यद्यपि श्रीगुरु भी उसी स्थानपर पहुंचनेके यत्नमें है और उस क्षणभरमे ले जानेवाले वाहनको भी जानते है पर अपनेमें निर्बलताके कारण उस वाहनपर आरूढ नही होसक्के। श्रीगुरुमें ईर्षा भाव नही है। जो कोई आकुलताओसे सर्वथा छूटे सो ही अच्छा है ऐसा जिनका उदार और गभीर भाव है।

मन, वचन, कायकी एकताके आधारमें निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता और दृढतासे बना हुआ यह त्रिगुप्तिमय वाहन मोह, काम, क्रोध, लोभ, मान, माया, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुसकवेद आदि दोषोसे रहित निर्मल, स्वसवेदन ज्ञानके रंगसे रंगा हुआ, आत्मानुभवरूपी कान्तिसे कान्तिमान, वीतरागताके अद्भुत यंत्रसे सुसज्जित तथा

शुक्लध्यानकी पवनसे एकदम ऊपरको जानेवाला और निराकुल स्थानमें पहुंचानेवाला है। यह ऐसा अद्भुत हवाई विमान है कि भरत चक्रवर्ती राज्यपाट छोड़ वस्त्रादि परिग्रह फेंक केशोंका लोचकर यथाजात रूप धारी हो जब साहसकर इस विमानमें बैठे तब अंतर्मुहूर्तमें ही भावमोक्षके सर्वदर्शी और सर्व स्थानपर पहुंच गए। श्रीगुरुने इस वाहनकी महिमा और इसके बनानेकी सर्व रीति जैसीकी तैसी विना किसी कपटके इस चिरदुःखित प्राणीको बता दी। जैसे उष्णताके असह्य तापसे पीड़ित कोई प्राणी किसी पर्वतपर भी पानीके सरोवरको देखता है तो उससे रहा नहीं जाता-वह शीघ्र ही साहस कर जाता है उसीतरह यह पुरुष श्रीगुरुके वचनोंपर अंजनचोरकी तरह विश्वासकर एकांतमें जाता है और जिस रीतिसे सुगुरुने बताया था उसी तरह निर्विकल्प समाधिरूप हवाई विमानको बनाने लगता है। विमान बनाकर ज्योंही यह आरूढ़ होता है इसे जिस परमशांति और आनन्दका लाभ होने लगता है उसीकी कुछ झलकको इस विमानकी भावना करनेवाले भी पाकर स्वात्मरसके लाभसे परमतृप्तताका अनुभव करते हैं और इस रसको सदा भोगनेके उत्सुक होजाते हैं।

२३-यथार्थ जीवन।

जगतमें जलको जीवन कहते हैं। वास्तवमें यह जीवन ही है क्योंकि इसके विना प्राणी अपने प्राणोंकी रक्षा करनेको असमर्थ हो जाते हैं। परतु यह जीवन भी यथार्थ जीवन नहीं है क्योंकि यह प्राणोंको आयु कर्मके प्रमाण ही रख सक्ता है, आगे नहीं। वास्तवमें जीवन वही है जिसके द्वारा यह आत्मा अपने सुख, सत्ता, चैत-

न्य, बोध इन चार निश्चय प्राणोको सदा ही विना किसी अंतरायके अपनेमें रखता रहे-अनन्तकालमें भी इन प्राणोंका वियोग न हो। इनके द्वारा शुद्ध जीवन-शक्ति सदा ही व्यक्त रहा करे। वह जीवन जो इन निश्चय प्राणोंकी रक्षाका आधार है, रत्नत्रय स्वरूप आत्मानुभव ही है। यही वह अमृतरस है जिसके पीनेसे फिर प्राणीका व्यवहार-संसारमें आवागमन नही होता। यह अमृत रस उसी समय वहने लगता है और उसका पान एक अद्भूत आनंद प्रदान करता है, जब यह आत्मा अपने उपयोगको अपने शुद्ध नित्य अनित्य, एक अनेक, भेद अभेद रूप ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई स्वभावकी तरफ ले जाता है और वही इसे रोक देता है। आत्मभूमिमें रत्नत्रयकी एकतारूपी अति सुन्दर पर्वत है। उसीसे यह जीवन वहता है। जो इस जीवन पानके रसिक हो जाते हैं उनके मनमें रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार स्थान नहीं पाते। वे यदि व्यवहारमें रहते भी है तो भी स्वधर्म श्रद्धाके अनुरागमें दत्तचित्त रहते हुए भ्रमजालके समूहमें स्वय नहीं उलझते। उनकी वास्तविक सृष्टिमें उनकी आत्मा होती है। वे उस सृष्टिमे शुद्ध परिणतियोंके उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी अपेक्षा ब्रह्मा विष्णु महेशका काम करते हैं। शुद्ध परिणतिके उत्पाद करनेसे ब्रह्मा, शुद्ध परिणति स्वभावको स्थिर रखने या पालनेसे विष्णु और प्राचीन शुद्ध परिणतिका ध्वंश कर देनेसे महेश रूप व्यवहार करते हैं। इन तीन स्वरूपमय होते हुए भी वे अपने शुद्ध आत्मद्रव्यमें जमे होनेकी अपेक्षा एकरूप रहते हैं। इस अनेक और एक रूपमई स्वभावके विलासमें जो आनन्दरस उद्भूत होता है वही इस आत्मानुभवरूप

यथार्थ जीवनके पान करनेका परम मंगलमय फल है, जिसको भोगनेसे निश्चयधर्मका मनन होते हुए परम तृप्तिका लाभ होता है।

२४-गाढ़ निद्रा।

इस जगतमें भ्रमण करते हुए इस आत्माको यकायक स्वात्मानुभूति रूपी अतिमिष्ट और मादक जलके पान करनेसे एक ऐसी गाढ़ी निद्रा आगई है कि यह उसके जोशमें पड़ा हुआ "सोहं" "सोहं" का मनन कर रहा है पर बाहरसे कितने ही विकल्प जगाने आते हैं, परन्तु यह जागता नहीं। यह एक अतिशय गुप्त महलमें विराजमान है जहांके मन, वचन, काय रूप तीनों द्वार बन्द हैं। इस महलमें बैठे हुए इस प्राणीको कोई कष्ट नहीं है क्योंकि दुःखका कारण दूसरेकी वस्तुको अपनाना है। सो इसने अपने आत्माको द्रव्य अपेक्षा नित्य, टंकोत्कीर्ण, ज्ञाता, दृष्टा, आनन्दमई और महा शक्तिशाली माना है। इसने अपने आत्माके प्रदेशोंके भंडारमें अनेक गुण रूपी रत्नोंका दर्शन किया है। उनके ममकारमे लीन होनेसे यह अपनेको तीन लोकका नाथ सिद्ध समान अविकारी देख रहा है। अति शीलवती प्रेमपात्रा ज्ञानचेतना रूप स्त्री है जिसके सयोगसे इसे अतीद्रिय आनन्द रूपी पुत्रका लाभ हुआ है यह ज्ञानी इस आनन्द पुत्रको गोदमें खिलाते हुए जगतके प्रपंच जालोंसे वेखवर है, मांनों यह जगतकी तरफसे गाढ़ निद्रामें शयम कररहा है। आश्चर्य यही है कि यह पवित्र पुरुष इस निद्रामे भी जाग रहा है। देखनेको सोता है पर वास्तवमें यह स्वकार्य्यके लिये तन्मय ही है। इसने मोह और उसके द्वारा एकत्र किये हुए कर्म्म समूहोंको भगानेके लिये पूरा२ उत्साह किया है। सच है जो स्वरूपकी निर्वि-

चलस समाधिमें लीन होजाते हैं उनकी गाढ़ निद्रा परम पुरुषार्थको सिद्ध कराती हुई सदा सुख प्रदान करती है।

२५—अलौकिक लाभ।

इस अनादि अनन्त जगतके भीतर भ्रमण करते हुए इस आत्माकी दृष्टि जो आपसे वाहर२ भ्रमण कर रही है इस दोषके कारण इसको अनेक पदार्थ जो जगतमे स्नेह रखनेवाले प्राणियोंको कभी रमणीक कभी असुहावने मालूम होते है, वार२ प्राप्त हुए पर कभी भी स्थायी रूपसे ठहरे नहीं क्योकि उनके संवधमें कारण जो पुण्य व पाप कर्म है वह जब फल देनेको सन्मुख होता है तब शनै:२ झडता हुआ रहकर कुछ कालमें अपनी फलधारा को बंद कर विलकुल झड जाता है। तब वह संवध भी हट जाता है। जगतके जितने ही दृश्य है वे सर्व वदलनेवाले हैं। मोही जीव किसी विशेष समयके किसी दृश्यपर मोहित होकर यह चाहता है कि यह दृश्य ऐसाका ऐसा सदा बना रहे पर ऐसा नही होता इसीसे इसको कभी भी सन्तोष नहीं होता और न इसके भीतरका क्षोभ मिट कर शाततका लाभ होता है। यही आत्मा जब अपने सिवाय सर्व पदार्थोंसे दृष्टि फेर उसे अपनी ओर लाता है और लाकर अपने असली स्वरूपपर लगाता है जो असली स्वरूप शुद्ध आत्माके समान अनन्त गुणरूप तथा ज्ञाता दृष्टा, आनंदमई, निर्विकार, निर्मोह और निर्दोष है तब उस क्षण जो स्वस्वरूपके निश्चयपूर्वक ज्ञान और थिरता रूप चारित्रमई निश्चय रत्नत्रयके द्वारा स्वात्मानुभव होता है और उससे जो आनन्दामृतका प्रवाह होता है वही एक ऐसा लाभ है जो यकायक परम शाति और सन्तोष प्रदान करता है। वही एक अलौकिक लाभ है। जो एक

दफे भी इस सच्चे अमृतरसके रसिक होजाते हैं वे फिर अच्छी तरह अपनी भ्रमबुद्धिको समझ जाते हैं कि सांसारिक परपदार्थोंके मिलने व विछुडनेसे जो मैंने कभी हर्ष व कभी विषाद किया था सो मेरी बड़ी भारी मूढ़ता हुई । वस फिर वे उस रसको पीनेकी गरजसे लाखों जगतके आकर्षणोंको रहते हुए भी अपने आत्माके शुद्ध स्वभाव पर अपनी दृष्टि ले जाया करते हैं और वहां बलपूर्वक जमाकर जो आनन्दलाभ किया करतेहै वह वचन अगोचर है। वास्तवमें वही एक अलौकिक लाभ है जिस लाभको ही सच्चा लाभ सम्यग्दृष्टिसे लेकर सर्व ही महात्मा और परमात्मा जानते हैं । यही वह लाभ है जिसके विना जगतके प्राणी भव-वनमें भटकते हुए निरंतर दुःखी रहते हैं और जिसके पाने पर जीव परम सुखी होजाते है ।

२६--प्रगति।

अजर अमर अविनाशी आत्मा अपनी सत्ता भूमिमें अनन्त गुणोंको धारनेवाला है । सर्वज्ञ, वीतराग और आनन्दमई इसका खास स्वभाव है। पांच भावोंमेंसे परम शुद्ध पारणामिक भावोंका यह धनी है। यद्यपि इसका यह स्वभाव है तथापि अनादिकालसे कर्मोंके सम्बन्ध होनेके कारणसे यह प्रगटपने अपने स्वभावका भोक्ता न होकर सुख-शातिके लिये भटक रहा है। राग व द्वेष कषाय भावोंके निमित्तसे इस आत्माकी बहुत ही अवनत अवस्था हो रही है । अतएव इस दशाकी प्रगति करनेका विचार मनमें ठान एकतान हो यह स्वसवेदन ज्ञानके अनुभवमें अपनेको लीन करता है । ज्यों२ यह अपनी चित्परिणतिको अपने गुणोंके सन्मुख करता है त्यों२ इसके ऊपरसे अज्ञानका मूल हटता जाता और इसके स्वभावका

विकाश होता जाता है। परिणामोंका स्वस्वरूपमें लीन होना एक अद्भुत आनन्द बरसाता है। उस लीनतामें संकल्प विकल्प रूपी तरंगें लुप्त होजाती हैं और ऐसी शांतिका समुद्र उमडकर आजाता है कि वह इस आत्माकी भूमिको चारो ओरसे व्याप्त कर लेता है। तब इस व्यक्तिको अनुभव दशाका स्वाद होता है जिस समय सिवाय अपने शुद्ध स्वरूपके और किसीकी तरफ यह देखता नहीं, किसीकी बात सुनता नहीं, किसीकी भक्ति या सेवा करता नहीं। वास्तवमें जब आप ही सेवक और स्वामी है, आप ही पूज्य और पूजक है तब अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको छोडकर और किसी तरफ आत्माका जाना ठीक नहीं होसक्ता, वहीं तिष्ठकर जिस अतीन्द्रिय आनदका लाभ करता है वह इंद्रियाधीन क्षणिक सुखोंसे सर्वथा भिन्न और परम तृप्ति रूप है। उस सुखमें सिद्ध परमात्माके अनंत सुखोंकीसी गंध व जाति है। जो इस सुखके भोक्ता होते हैं वे निश्चयधर्मके मननसे परमात्म अवस्थाकी प्रकटता रूप प्रगतिमें अग्रसर होते जाते हैं।

२७–संत समागम।

जगतमें रहनेवाला, पर जगतसे उदासी आत्मा जब अपनी शक्तिका पता लगाता है तब इसको यही भासता है कि मैं सिद्ध समान शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनंदमई हूं। मेरे अनंतगुण एक२ प्रदेशमें व्यापक है। मैं गुणोंसे कभी न छूटनेवाला होनेके कारणसे नित्य, परंतु सदा ही परिणमनशील होनेके कारणसे अनित्य हू। मैं अपने गुण और पर्यायोंके साथ एकमेक होनेके कारणसे अभेद हू पर प्रत्येक गुण सर्वांगमें अलग२ व्यापक होनेसे भेदरूप हूं। मैं अपने प्रदे-

शोंमें आप थिर रहनेके कारण अपने प्रदेशोंमें व्यापक और अन्योंमें अव्यापक हूं, पर सम्पूर्ण जानने योग्य पदार्थोंका ज्ञाता होनेके कारण अथवा सम्पूर्ण पदार्थोंके आकार ज्ञानज्योतिमें झलकनेके कारणोंसे मैं सर्वव्यापक हू। ऐसी शक्ति होते हुए भी जब यह अपनी वर्तमान दशापर जाता है तो इसे बहुत बड़ी लज्जा आती है। अपने स्वरूपसे भिन्न वस्तुओंको अपना मान लेनेसे इसके जो राग, द्वेष, मोहकी परिणतियें होती हैं वे ही इस आत्माको मलीन करनेवाली हैं। यह अपनी इस दशाको मिटानेका इच्छुक होकर उपायकी तलाश करता है। भव-बनमे भटकते हुए जब उसको ऐसे व्यक्ति दिखलाई पड़ते है जो संसाराशक्त व इन्द्रियोंके दास न होते हुए अतींद्रिय आनंदके रसिक हैं और उसके स्वादको पाने व उसका रस अन्योंको चखानेके लिये भी उत्सुक हैं ऐसे अध्यात्म प्रेमी संत पुरुषोंके समागममें यह व्यक्ति अपनेको धारण करके उनकी संगतिसे मैलको मेटता हुआ निर्मल होने लगता है। वास्तवमे यद्यपि व्यवहारसे वहा संत पुरुषोंका समागम है, पर निश्चयसे वहां केवल आत्मरसके प्रवाहोका ही झमघट है; क्योंकि सभीके मन, वचन, कायोकी ऐसी ही परिणतियां हैं। इस संत समागमके वासमे लीन रहता हुआ व अपनी शक्तिका अनुभव करता हुआ निश्चयधर्मके मननसे परमसुखी रहता है।

२८-स्वदेश--प्रेम.

आत्माका आत्मा ही स्वदेश है। जो जहां सदा रहता है वही उसका स्वदेश है। आत्मा एक वस्तु है। जो२ वस्तु होती है वह आकाशको अवश्य घेरती है। जो आकाशको नहीं घेरे वह कोई वस्तु नहीं। अवस्तु कुछ भी कार्यकारी नहीं होसकती। वस्तु अनंत

गुणोंका समुदाय है। वे सब गुण उस वस्तुके हरएक प्रदेशमें व्यापक हैं। उन सब गुणोंका स्वदेश वह समुदायरूप वस्तु है। उस वस्तुके सिवाय अन्य वस्तु उसका परदेश है। आत्मारूप वस्तुका आत्मा ही स्वदेश है। उस आत्माके सिवाय अन्य आत्मा व अन्य पदार्थ सब उन खास आत्माका परदेश है। अपने देशमें रहनेसे किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती प्रत्युत महा आनन्द होता है। आनंद दाई वस्तुसे प्रेम करना बहुत ही आवश्यक तथा स्वाभाविक है। अतएव स्वदेश प्रेम परम गुणकारी और शक्तिवर्द्धक है। अपने उपयोगको परसे हटाकर स्वस्वरूपमे जोडनेका उत्साह ही स्वदेश-प्रेम है। उत्साहके फलको भोगते हुए जब स्वदेशमे मगनता होती है, तब जो सुधा-समुद्र उमडकर आता है उसका वर्णन नहीं होसक्ता। स्वदेश-प्रेम और भक्तिके प्रतापसे ही स्वदेशकी उन्नति होती है। स्वदेशोन्नतिके विना स्वदेशका अन्य उन्नतप्राप्त देशोंके (आत्माओंके) साम्हने नीचापन और लज्जाका स्थान है। अतएव आत्महितेच्छुको उन्नतिकी सीढ़ी जो **स्वदेशभक्ति** है उसीसे प्रेमकर परमानन्द भोग परम तृप्त होना योग्य है।

२९-गुरुसेवा।

अधा मनुष्य एक अधकारमय प्रदेशमें चला जाय तो उसकी क्या गति हो। इधर उधर भटक कर टक्करें मारे, कोई उसे देखकर दया भी न करे और उसे उस प्रदेशसे निकलनेकी राह भी न बतावे। इसी तरह एक आत्मज्ञान रहित ससारी जीव रागद्वेष मोहके परम अंधकारमय प्रदेशोंमें भ्रमण करता हुआ आकुल होरहा है। दिव्य चक्षुवानके विना कोई इसे देख नहीं सक्ता और न

दयाकर इसे सुमार्ग ही बता सक्ता। यकायक जब इस भटकनेवालेके चित्तमें यह दृढ़ भावना वर्तने लगी कि यह मेरी अवस्था मुझे दुःखकर है, मैं कैसे इसमेंसे निकलूं तब भेदविज्ञानरूपी गुरुका समागम होगया। इस गुरुने स्पष्टरूपसे वीतराग विज्ञानमई स्थानमें जाने और आत्मज्ञानके चक्षु खुलनेका सच्चा मार्ग बता दिया। वास्तवमें यदि विचारा जाय तो आपका गुरु आप ही है। श्री योगेन्द्राचार्य महाराजने श्री परमात्मप्रकाशमें निश्चयदृष्टिसे जानकर ऐसा ही बताया है:—

अण्णुजि तित्थ म जाहु जिय, अण्णुजिगुरुअमसेवि।
अण्णुजिदेवमंचिंति तुहु, अप्पा विमल मुणेवि॥

भावार्थ—हे आत्मन्, और किसी तीर्थमें न जा, और किसी गुरुकी सेवा मत कर, तथा किसी देवकी चिंता न कर, परतु एक तू निर्मल आत्माका मनन कर।

इस सच्चे आत्मगुरुने जब बताया और अति कृपा करके यथार्थ ज्ञानरूपी सलाई आंखमें फेरी तब उस संसारीको वीतरागविज्ञानमई भावका मननरूप मार्ग भी मिला और इसकी आंख भी खुल गई। अब यह सच्चे मार्ग-प्रदर्शकका अति आभार मान दृढ़ताके साथ आत्मगुरुकी सेवा करने लगा और यह मनमें ठान ली कि जबतक गुरुके समान न हूंगा, कभी भी इस गुरुसेवाको न त्यागूंगा। इस तरह परोपकारी आत्मगुरुकी सेवा जो वास्तवमें आत्म-मनन, भजन, अवलोकन और अनुभवरूप है, करते हुए इसकी जो आनंदके विलासमें लीनता होरही है वह वचनअगोचर और अपने अनुभव-गम्य ही है। यही गुरुसेवा सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्-चारित्र है व सम्यक्तप है। यही ध्यान, धारणा, समाधि, परम श्रेय

और मोक्षका साक्षात उपाय है। जो इसमें शल्य रहित हो लगते हैं वे अनंतकालके लिये अवश्य स्वात्म-विभूतिके धनी हो जाते है।

३०--अमृतधारा।

इस ससारको यद्यपि उदासीन प्राणी असार कहके पुकारते है, पर एक तत्त्वज्ञानी जब इसका सच्चा और असली स्वरूप विचारता है तब उसको यह ससार और उसके भीतर रहनेवाली चीजें सब सार मालूम पडती है। क्योकि जिन षट्द्रव्योंका यह प्रपच है वे सब सदासे अपने२ स्वभावको लिये हुए विराजमान हे। हा! विचारवान जब अपनी तुलना उनसे करने लगता है तब इसको प्रतीत होता है कि उन छहोंमे जो एक आत्मा द्रव्य है वह मेरे ही समान है। यद्यपि महासत्ताकी अपेक्षा उनमें और मुझमे एकता है तथापि भिन्न२ प्रत्येककी सत्ताकी अपेक्षा अनेकता है। कोई आत्माके प्रदेश अन्य आत्म प्रदेशसे नहीं मिलते। ऐसा है तौभी यदि शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देखा जाय तो सब आत्माओंके गुणोंमें एक ही प्रकारका स्वभाव है। सर्व ही सामान्य और विशेष गुणोंके आधार हैं। सर्व ही दर्शनज्ञानचारित्रमय और आनन्द स्वरूप हैं, उनमें किसी भी तरहका राग, द्वेष और कषायोका अश नही है। उनकी या अपनी इस गुणस्वरूप एकताका मनन जब एक आत्मज्ञानी करता है तब उसको विचारते २ एक प्रकारकी ऐसी एकाग्रता प्राप्त होती है कि वह उसमें जब लीन होता है तब जैसे चंद्रज्योतिके सवधसे चन्द्रकातमणिमेंसे अमृतधारा वहती है तैसे ही आत्मानन्दरूपी अमृतधारा उसके अतरगमें वहने लगती है, जिसके रसको पान करते हुए जो आनन्दका लाभ होता है वह अपूर्व है और उस समयकी

दशा ही निश्चय रत्नत्रयकी एकता व निर्विकल्प समाधि है। यही साक्षात् मोक्षमार्ग है और यही कालान्तरमें मोक्षस्वरूप होजाती है।

३१-एकताकी महिमा।

वास्तवमें एकता भी बड़ी ही सुन्दर वस्तु है। जिन जीवोंने अपनी दृष्टि पर्याय बुद्धिसे हटाकर द्रव्यपर डाली है उनको सत्ता सामान्यकी अपेक्षा सर्व ही चेतन अचेतन पदार्थोंसे एकता होजाती है। क्योंकि सत्ता गुण सर्वमें व्यापक है तथा स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान चेतनाकी अपेक्षा सर्व जीव मात्रसे एकता होजाती है। उनको प्रत्येक आत्मामे परमात्ममई गुणोंका अनुभव होता है। उनके लिये यह विश्व एक चैतन्यमई शुद्ध धातुका बना हुआ दुर्ग होता है, जिसमें वे निवास करते हुए सर्व दुर्गमें रमण करते रहते हैं। इस किलेमें किसी भी आत्मविरोधी द्रव्य या गुणकी ताकत नहीं होती कि प्रवेश कर सके। यह अभेद्य, अछेद्य, मन वचन कायकी गुप्तिसे बधा हुआ बहुत ही दृढ किला है। इसको शुद्धोपयोग या निर्विकल्प समाधिके नामसे पुकारते हैं। इस दुर्गवासीके भावोंमें पूर्ण समदर्शीपना होता है। समताके शुद्ध सफेद रगसे मानो यह दुर्ग पुता रहता है। न वहां कोई रागकी लाली है न द्वेषका नीलापन दिखलाई पडता है। यथार्थ वस्तुस्वरूप अपनी२ अवस्थाको लिये हुए इस दुर्गकी स्फटिक मणि समान निर्मल भीतोमे झलकता है तथापि इसके भीतर रहनेवाले व पदार्थसमूहोके स्वरूपको जाननेवाले व्यक्तिमें कोई मोह नही पैदा कर सक्के। यह ज्ञानी अपने सामान्य विशेप गुणोसे पूर्ण एकताको रखता हुआ वड़ी ही निराली सजधजसे अपने दुर्गका राज्य करता है और स्वानुभूति रमणीसे कल्लोल करता हुआ जो आनन्द

प्राप्त करता है वह इन्द्रिय विषयरहित, अतीन्द्रिय, निराकुल और परम उपादेयरूप होता है। यही वास्तवमें निश्चय स्वरूपका मनन है।

३२--स्वभाव।

जिस वस्तुका जो स्वभाव है वह कभी बदल नही सक्ता। यह भी संभव है कि किसी वस्तुका किसी वस्तुसे सम्बध हो-मेल हो-स्पर्श हो-बध हो सो वह भी दीखें और यह बध या संयोग चाहे अनादि परम्परासे हो या सादि हो। तथा इस परस्पर बध अवस्थामें वे वस्तुए चाहे जैसा स्वाग भी दिखावें तौभी जिस वस्तुका जो स्वभाव है वह कभी अभाव नहीं हो सक्ता। भले ही सोनेके साथ मिट्टी चिरकालकी मिली हो, व तिलमे तेल छिपा बैठा हो या तुषके भीतर सफेद तदुल कल्लोल कर रहा हो, परन्तु जब दीर्घदृष्टिसे देखोगे तो यही दीखेगा कि सोना सोना ही है, मट्टी २ ही है, तेल तेल ही है, तिलकी भूसी भूसी ही है, तुष तुष ही है और तंदुल तदुल ही है। इसी तरह मेरा स्वरूप जिसका स्वभाव इसके ज्ञानोपयोगसे, जो इद्रिय और मनके द्वारा काम कर रहा है, मुझे भलेप्रकार प्रगट है। यह ज्ञानोपयोग मेरे साथ मिलने विछुडनेवाले कार्माण, तैजस और औदारिक शरीर योग्य वर्गणाओंके पुद्गलोंसे बिलकुल अलग है। मेरे शरीर पर पडे हुए कपडे ज्ञान रहित जड हैं, अतएव इनके मसलने, कूटने और झटकनेसे इनमें कोई भावकी ऐसी विकारता जो चेतनका चिह्न हो, नहीं झलक रही है और न ज्ञाता दृष्टा महात्माओने बताई है, परन्तु मेरी सोई हुई अवस्थामें भी यदि मुझे कोई झटकारे, मारे, कूटे व दबाए तो मै तुरत जागता हूं, क्रोधसे भर जाता हूं और अपनी चैतन्य परिणतिके द्वारा मन,

वचन और कायोंसे क्षमता या क्रोधका व्यवहार करने लग जाता हूं; यद्यपि किसीने मारा या दबाया मेरे शरीरको ही है। मेरा आत्मा उसमें व्यापक है; इतना ही नहीं, मेरे आत्माने इस देहको अपना मान लिया है, उससे बहुत ही प्रेम बढ़ाया है। इस कारण शरीरके बिगाड़को अपना बिगाड जान आप अपनी तरंगें बताने लगता है। ये तरंगें जिसके मूल कारणसे उदय हुई हैं वही एक चैतन्य स्वभावधारी आत्मा है, सो ही मैं हू। जो चेते, देखे, जाने, व आपका अनुभव करे वह मै हूं। जो राग, द्वेष, मोह कर२ के परको पकड़ता व छोडता फिरे वह मैं नही हूं। यद्यपि मैं हू, पर पर पुद्गलके संयोगसे पाई हुई उन्मत्त चेष्टाका धारी होरहा हूं। जब मैं पुद्गलके नातेको तोड़कर अपने आपको देखता हूं तब तो मैं शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई निर्विकार परम कृतकृत्य रूप ही आपको देखता हू। यही मेरे लिये कार्यकारी है। क्योकि यह मेरा निज स्वभाव है। बस, अब मैं अपने असली स्वभावको जान, आप हीमें अपना मुकाम ठान, आपका ही गुणगान करता हुआ अपने ही शुद्ध ज्ञान और आनंदमें मगनता तान ऐसा बेभान होरहा हूं कि मुझे इस समय सिवाय निज स्वभावके और कोई दिखलाई ही नहीं पड़ता। इस-समय तो मैं मैं ही हूं। या मै हूं या नही इस विकल्पको भी त्याग मै स्वरूप समाधिमें ही गुम हो अदृश्य होरहा हूं।

३३-संसारका अभाव।

महा शांतरसका पुन्ज आत्मा जब अपने स्वभावका ध्यान करता है तो इसे वहां पारिणामिक भावोका ऐसा मनोहर बाग नजर आता है कि जिसके भीतर रमनेसे इसका भाव आल्हादित और

तृप्त हो जाता है जिससे यह अपनेको परमात्मा समझता हुआ सिवाय अपनी अनुभूतिके और किसीकी परवाह नही करता। जिन रागद्वेषभाव, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, व शरीरादि नोकर्मोंको संसार कहा जाता है उसका वहा पता ही नही चलता। ऐसी दशामे उस आत्माके गुणसमूहरूपी बनमे क्रीडा करते हुए न उसे वहा ससार दिखता है न मोक्ष, न ससारका कारण आश्रव बध तत्त्व मालूम होता है, न मोक्षका हेतु सवर और निर्जरा झलकता है। सिवाय शुद्ध जीवत्त्वके वहां किसी पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाशका भी दर्शन नही होता। इसकी ऐसी स्वरूपमें उन्मत्त चेष्टाको देखनेवाले पुन: २ निरख२ कर अपने मुखसे प्रशंसाके वचन निकालते, मनसे सराहना करते तथा शरीरसे मस्तक हलाहला कर अनुमोदना करनेपर उस अनुभव रसके स्वाद और आनदका कुछ भी लाभ नही ले सके, जो आनद उस दर्शनीय महात्माके प्रदेशोंमें समुद्रकी तरगोकी तरह उमड़ उमड कर आरहा है। सच है जो अनुभव करै वही पावै। जो न करै वह कैसे अनुभवै ? इसीसे प्रत्येक आत्माकी सत्ता भिन्न२ है। यह आत्मा आप आपीको जानकर उसीमें एकताई तानकर, उसीके रसमें आपको सान कर, तथा उसीके अनुभवमें तन्मय हो परम प्रेमसे लीन होरहा है। इसीसे उसके लिये संसारका अभाव है। वास्तवमें ससार व मोक्षकी कल्पना अज्ञानी व्यवहारी जीवके लिये है। जो अध्यात्म समुद्रमें मगन है उसके लिये बाहरी प्रपच-जालोका क्या प्रयोजन ? वहा तो निश्चय नय और व्यवहार नय आदिको लेकर सर्व ही नयोका पक्षपात नहीं रहता। ऐसा ही अमृतचंद्र महाराजने कहा है.—

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वौ इति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदीच्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्य खलु चित् चिदेव ॥

भावार्थ—एक नय कहती है कि आत्मा बंधा है, दूसरी कहती है कि बंधा नहीं है, यह दोनों नयोके दो पक्षपात हैं । जो तत्त्वज्ञानी पक्षपातरहित है उसके लिये तो वास्तवमें यह आत्मा नित्य आत्मारूप ही झलकता है ।

३४-मोहकी गहलता ।

अतीन्द्रिय आनन्दमई आत्मविलासके स्वादी जो नहीं है उनके भीतर मोहकी गहलता अपना अड्डा जमाए रहती है, जिससे वे बेखबर होकर भवविपिनमें भ्रमण करते हुए महान् त्रास और कष्टको पाते है । बड़े दुःखकी बात है कि यह अज्ञानी आप ही मादक वस्तुओका सेवन करता है और आप ही उनके असरसे बावला हो जाता है । बार बार यह दशा होती है तौभी मादक वस्तुके लेनेकी आदतको नहीं छोडता है । पर यदि यह एक दफे भी चित्तको कड़ा करके इस नशा लेनेकी बानको छोड़ देवे, बहुत ही जोर जुल्म करके संकट सह करके भी इसको ग्रहण न करे, ऐसा यदि दस, बीस दफे भी करे तो इसकी आदत छूट जावे और तब फिर अपने स्वाभाविक चलनमें चले और अपनी हानि न करे । समारी प्राणी भी यदि इसी तरह राग, द्वेष, मोह रूप गहलतामें बलात्कार न पड़े, चित्तको जोर जुल्मसे इष्टमें राग व अनिष्टमें संयोग होनेसे बचावे और अपने शुद्ध ज्ञाता दृष्टा स्वभावमें एक दफे भी ठहरे तो फिर इसको भले प्रकार निश्चय हो जावे कि मोह मदकी गहलतासे रहित जो अवस्था है वह कैसी सुन्दर और रसीली है तथा उसमें रहनेसे जो स्वच्छता

शांतिका सुखमयी स्वाद आने लगता है। बस यही अनुभव वह कुंजी है जिससे निश्चय धर्मका मनन होता है। इस परम आकुलतामय संसारमें यदि कोई सुखका साक्षात् स्वाधीन कारण है तो यही अनुभव है। जो स्वहितू गुणग्राही जीव हैं वे स्वानुभवसे अपने ही आत्म गुणोंका ग्रहण कर और उससे साक्षात् आनन्दका लाभ कर उसी भावको ही उपादेय या ध्याने योग्य धर्म मानते हैं-यही राष्ट्रधर्म, सार्वधर्म, निश्चयधर्म व मुक्तिकारण धर्म है। यह धर्म मेरे ही में है, यह मेरी ही अटूट अविनाशी सम्पदा है, इस धर्मसे मेरा सर्वस्व रंगा हुआ है। मैं और यह कहनेके दो हैं पर वास्तवमें एक हैं। सम्यक्त कहो वा सम्यग्ज्ञान कहो वा सम्यग्चारित्र कहो सब इस धर्ममें गर्भित हैं। उत्तमक्षमा आदि दशलाक्षणी धर्मका भी यही ठिकाना है। यही मुनि व श्रावक धर्मका निश्चय स्वरूपाचरण रूप स्थान है। बस, मै अब थोडी देरके लिये सर्व मन, वचन, कायके आलम्बनोंको छोड़कर अनुभवमें आनेवाला जो कषायरहित, वीतराग और आनन्दमय स्वभाव है उसीमें लीन होता हूं और उसीकी भक्तिमें मैं आप ही तन्मयता धारता हूं, उसीका ध्यान करता हू व उसीकी सेवा करता हूं। हा! हा! इस सेवाका क्या मीठा फल है कि बातकी बातमें मै और मेरा धैर्य्य सब एक रंगमें रंगकर ऐसे मस्त हो जाते हैं कि वहा फिर न दोनोके विकल्प हैं और न कोई पर स्वभाव है। आप आपी आपसे ही आपको अपने ही लिये अपनेसे अपनेमें ले दे रहा है। यह सब कहनेकी बात है। वहां तो वह दशा है जिसको जो अनुभवै सो ही जाने। दूसरेको उसके अमृतरसका स्वाद कैसे आवे? कहा भी है—

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य, चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युत पक्षपातस्, तस्यास्तिनित्य खलु चिच्चिदेव ॥४२॥

भावार्थ-एक नयसे तो अनुभवने योग्य है, दूसरी नयसे नहीं है। यह दोनों ही नयोंके दोनों पक्षपात उस चैतन्य भावमें नही हैं। जो तत्त्वका स्वादी पक्षपातसे रहित होता है उसे तो नित्य एक चैतन्य स्वरूप ही वास्तवमें स्वादित होता है। वहां किसी विकल्पकी जगह नहीं है।

३६- स्वाराज्यसेवा।

इस दृश्यमान जगतके भीतर यदि सूक्ष्म दृष्टि पसारकर देखा जाय तो माल्रम होगा कि यह छह स्वतंत्र ऐसे द्रव्योंका समुदाय है जिनमें परस्पर अत्यन्ताभावपना है। अनादि अनन्त कालमें इन छहोंकी सत्ताका विनाश नहीं होसक्ता, जैसा कि प्रत्यक्ष प्रगट है। हरएक मानवके अनुभवमें आनेवाला एक नि:कषाय चैतन्यमयी व्यक्ति है और एक अचेतन्य शरीर है, जो पुद्गलके परमाणुओंसे बने हुए स्कंधोंसे बना हुआ प्रत्यक्ष प्रगट है। यह परमाणु अनंतानन्त है। जीवोंका प्रत्येकका अनुभव स्वतंत्र होनेसे जीव भी अनंतानन्त हैं। इन दोनों क्रियावान द्रव्योंमें चलना, ठहरना, स्थान पाना और अवस्था बदलना ऐसे जो चार काम प्रत्यक्ष दीखते हैं इनके निमित्त कारण लोकाकाश व्यापी एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय, एक आकाशास्तिकाय और एक असंख्यात कालाणु ऐसे चार द्रव्य हैं।

सिवाय जीवके सब अजीव हैं। परस्पर मिले हुए जीव और पुद्गल दोनोंमें घट मृत्तिकाकी तरह व्याप्य व्यापक सम्बन्धका अभाव है। व्यवहारमें भले ही एक दूसरेके परिणामोंमें निमित्तभूत हों, भले ही पुद्गलोंको अपनानेसे जीव रागी द्वेषी हो व रागद्वेषसे पुद्गल

कर्मरूप होवै, तौभी निश्चयसे सबकी शक्ति, सबका स्वरूप भिन्न२ है। जैसे अनन्तानन्त परमाणुओंकी एक समाज है जो व्यक्तिगत भिन्न होनेपर भी सब ही स्पर्श, रस, गंध और वर्णयुक्त हैं, समान गुणधारी हैं, अतएव समाजरूप हैं; ऐसे ही सर्व अनन्तानन्त जीव व्यक्तिगत सत्ता और स्वतंत्र अनुभवकी अपेक्षा भिन्न२ हैं। तौ भी सर्व ही अस्तित्वादि सामान्य और चेतना, आनन्द, सम्यक्त, चारित्र, वीर्य्य आदि स्वाभाविक विशेष गुणोंकी अपेक्षा समान हैं। निश्चयसे सर्व जीवराशिकी एक ऐसी समाज है जो एक सिद्ध परमात्माकी राशिके समान परम तृप्त, कृतकृत्य, परमानन्दमई, शुद्ध, चैतन्य धातुकी निर्मल मूर्तिधारी और परम स्वाधीन, अपने ही स्वभावमें गुप्त, परम समतारससे परिपूर्ण दिख रही है। जो कोई भी समाजसेवाका इच्छुक इस महान एकताकी श्रृङ्खलामें बद्ध समाजकी सेवा, आराधना, भक्ति, वैय्यावृत्य, मनसे प्रेम, वचनसे गुणगान, कायसे सर्वांग मर्दन करता है वही सच्चा समाजसेवी है। इस समाजसेवाके अनुपम कार्यको वह किसी खुशामद या प्रसन्न करनेकी गरजसे नहीं करता है, किंतु उसे इस सेवामें आनन्द आता है, उसकी शक्ति बढ़ती है, उसका आलस्य और प्रमाद मिटता है व उसको स्वस्वामित्व और स्वावलम्बन प्राप्त होता है। उसके भीतर अद्भुत प्रेमरसका सचार होता है। वास्तवमें जो ऐसी समाजसेवा करते हैं वे ही निश्चयधर्मका मनन करते हुए जो साम्यचारित्र और अतीन्द्रिय स्वाधीन आनन्दका लाभ करते हैं उसका वर्णन नहीं होसक्ता। जो स्व हितू हैं वे ऐसी ही समाजसेवा करके स्वतंत्रभावासक्त बनें और आनन्दामृत रसको पीवें।

३७--गुण और गुणी।

मैं चैतन्य स्वरूप अनंत गुणोंका धनी कहलाता हूं। विना गुणोंके नाम लिये कोई मुझे पहचान ही नहीं सक्ता। जिसको पहचान है उसे तो किसीके गुणोंको अलग २ चितारने व कहनेकी आवश्यक्ता नहीं पड़ती है। अज्ञानी जीवोंका अज्ञान छुडानेके लिये व्यवहार नयने यह अपनी आदत पकड़ी है कि वह थोडी बहुत गुणावलीको बतलाकर एकको दूसरेसे भिन्न अनुभव कराती है। बड़े खेदकी बात है कि अभेद वस्तुमें भेद करनेवाली यह व्यवहार नय है। बुद्धिमान् वही है जो इसके द्वारा बतलाए हुए कुछेक गुणोंसे अनन्त गुणी वस्तुको जान लेवे। पर जो कोई वस्तुको न पहुंचे उसने व्यवहार नयके अभिप्रायको नहीं समझा। दूसरी ओर निश्चय नय कहती है कि वस्तु तो अभेद है, उसमें गुण गुणीकी कल्पना व्यर्थ है। ज्ञानी इस वचनको भी सुनकर ठीक २ वस्तुके ज्ञानकी स्थिरतामें रहता है। वास्तवमें देखा जाय तो ज्ञानी, अनुभवी व सच्चा पुरुष वही है जो व्यवहार और निश्चयके पक्षपातको छोड़कर जैसा अपना शुद्ध वीतराग ज्ञानानन्दमय स्वभाव है उसीकी तरफ जाकर उसमें लवलीन होजाय—ऐसा डूब जाय कि उसकी सारी कल्पनाएं विलय हो जांय और वह उस स्वरूप-समाधिमें बैठा हुआ मार्गणा और गुणस्थानोंकी चर्चाको छोड़कर सिद्धसम आपको अनुभव करे। गुण क्या और गुणी कौन इसका विकल्प भी इस अनुभवदशामें बाधक है। जहां यह भाव है वहीं वीतरागता, शांति और परम आनन्द है। यही दशा परमात्माकी है और यही दशा मेरी है। इस दशा हीका नाम धर्म है। यही धर्म मुझे प्यारा, सुहावना और

आदरणीय है। मैं इस धर्मका आश्रय ले जो अपना उपकार कररहा हूं वह उपकार उस व्यक्तिका भी होगा जो इस धर्मको धारण करेगा।

३८—कुंजी।

परम आनन्दमई चैतन्य शक्तिधारी आत्माके हाथमें अब वह कुंजी आगई है जिसके द्वारा आत्माके रत्नत्रय भंडारके कपाट खुलते हैं। वह मानव ही क्या जिसने परमानन्द-दायक आत्म-खजानेके दर्शन न किये और उसका लाभ न लिया। क्योंकि जो कुछ वास्तविक आनन्द है वह वहीं है—उसीमें है—उसीकी सत्तामें है। जो बाहर२ ढूंढते हैं वे नित्य क्षोभित हुए उसका लाभ नहीं कर सक्ते। यह कुंजी स्वसंवेदन ज्ञानमई है, सम्यक्त्त धातुकी बनी हुई है। ज्ञान और चारित्रकी पालिशसे बहुत दृढ़ और चमकदार है। यद्यपि इसका नाम अचेतनकी उपमाको लिये हुए है, पर यह अचेतन नहीं, परम चैतन्य स्वरूप है। ज्ञाता दृष्टापन इसका लक्षण है। इस कुंजीमें कोई कषायकी कलुषता या कालिमा नहीं है, शुक्ल लेश्याके रंगमें रंगी हुई है। इस कुंजीका जिस समय व्यवहार किया जाता है अर्थात् जब स्वरूप-समाधिका भंडार इसके द्वारा खोला जाता है तब आप ही आप वहां आनन्द-रसकी वर्षा होने लगती है और यह आत्मा स्वयं ही एक ऐसे चमत्कारके सामने पहुंच जाता है जहांपर चारों ही ओर शांतताका नृत्य और वीतरागताकी सजावट देखनेमें आती है। तथा वहांपर चैतन्य राजाका एक अद्भुत दर्बार ही दीखता है। विवेकरूप मंत्री और उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि दशलक्षण धर्ममई मुख्य सभासद नजर आते हैं। इसके सिवाय अनेक गुणरूपी साधारण सभासद हैं। दरबारमें स्वाभाविक वीतरागता और

आनन्दका राज्य छा रहा है। जबसे इसने इस कुंजीका व्यवहार किया है, इसको अपने भंडारका पता लगगया है, इसे अच्छी तरह अपनी अटूट निधिके दर्शन होगए हैं। यह खोजी जब कभी सांसारिक चिंताओंसे अलग होता है, इस कुंजीके द्वारा आत्मकपाट खोल परम प्रभु, परमात्मा, परमब्रह्म, ज्योति-स्वरूप, अविनाशी, कृतकृत्य, परमशुद्ध, निरंजन देवके दर्शनकर जो लाभ लेता है व जैसा अनुभव अमृतका पान करता है वह अकथनीय है-केवल स्वादने ही योग्य है।

३९-मेरा दशलाक्षणी महोत्सव.

स्वानुभूति पटरानी आज इसीलिये आनन्दमें उन्मत्त है कि उसका परम मनोहर आदरणीय महोत्सव आनकर उपस्थित हुआ है। इससमय चिदानंद अन्य सर्व आरंभोंको त्यागकर केवल मात्र स्वानुभूतिके त्रिगुप्तिमय अंतःपुरमें विराजमान होकर निर्विकल्प और क्षोभरहित अवस्था सहित स्वानुभूतिके अद्भुत प्रेममें आशक्त होगा और इस आशक्ततासे उत्पन्न जो आनन्द अमृत उसको पानकर तृप्त होगा। उसका अंतःपुर सूनसान नहीं रहेगा, किन्तु वहां बड़ाभारी दशलाक्षणी पर्वका महोत्सव मनाया जायगा। उत्तमक्षमा क्रोध कालिमासे रहित हो परम सौम्य श्वेत वस्त्र पहने हुए नृत्य करनेके लिये आएगी। उत्तम मार्दव मानके पर्वतसे उतरकर उस नृत्यके साथ तबला बजानेका काम करेगा। उत्तम आर्जव कपटकी कुटिलाईसे रहित हो सारंगी बजायगा और उत्तम शौच लोभकी कीचड़से सर्वथा पवित्र हो दूसरी सारंगी बजाकर नृत्य और बाजोंके साथ एक तान करेगा। उत्तम सत्य, उत्तम क्षमाको नृत्यके साथ ठीक ताल रखने व उसके शांत सुरीले गानके साथ गाने व मदद देनेका काम करेगा। उत्तम

संयम असावधानीसे हटकर बहुत ही थिरताके साथ किसीको कष्ट न देता हुआ तथा उत्तम क्षमाके मनको हर्षायमान करता मंजीरे बजानेका काम करके सर्व बाजोंकी और नृत्यकी रंगतको सुहावनी कर देगा। उत्तम तप अपनी दीप्तिका प्रकाश कर इच्छाओंके अंधकारको ऐसा मिटा देगा कि उस नृत्यके आंगनमें कोटि सूर्य्यके प्रकाशसे भी अधिक परम शांत और शीतल उजाला ही दीख पड़ेगा। उत्तम त्याग उस आंगनकी रक्षाका कार्य्य हाथमें लेकर किसी भी उपाधिजनक भावरूप व्यक्तिको आंगनमें नहीं आने देगा। तथा यदि कोई दर्शक व्यक्ति इस नृत्यको देखने आयगे तो उनको आंगनके बाहर रखता हुआ तथा उनके मनको प्रफुल्लित करनेके लिये उनके ऊपर कभी२ अतींद्रिय आनन्दके परम सुगंधित जलकी वृष्टि कर देगा। उत्तम आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य द्वादश भावनाके मनोहर स्तम्भोंसे शोभायमान, ज्ञानकी बहुत ही आश्चर्यकारी छत्रसे संरक्षित तथा सम्यग्दर्शनकी नींवपर रचित वैराग्यके आंगनमें विराजित ध्यानरूपी सिंहासनपर एक सरल श्रेणीमें शल्य रहित आसन जमाए हुए चिदानन्दराय और स्वानुभूति पटरानीके दोनों ओर खडे हुए समताके चंवर ढोरेंगे तथा अपने भेदविज्ञानरूपी चमकदार तलवारोंको कंधेपर कमरके सहारेसे जमाए हुए इन मुख्य नृत्यके रंगमें रंगे हुए दोनों व्यक्तियोंकी रक्षा करेंगे। अनंत गुणरूपी आभूषणोंसे अलंकृत धर्म रूपी महान छत्रको उनके ऊपर शोभायमान करता हुआ अपना कर्तव्य बजाकर आनंदित होगा। इसतरहका महोत्सव जिन२ आत्माओंने किया उन्होंने अपनेको स्व भावमें रक्खा, और जो२ करेंगे सो अपने स्व भावमें रहेंगे। इस महोत्सवको इस तरह

मनानेवालेको ही वह अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त होगा जो सिद्ध परमेष्ठी अपने स्वरूपमें थिर हुए भोग रहे हैं।

४०–क्षमावनी।

परम अतीन्द्रिय, शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा अपने भीतर परम सुखदाई दशलाक्षणीपर्वको मनाकर और उसकी भावनासे तृप्त होकर आज संपूर्ण आत्माओंके सन्मुख अपने अनन्तकालके सबभवोंमें होनेवाले अनात्मरूप विकल्पोंके अपराधोंकी क्षमा मांगता हुआ अतिशय नम्र होरहा है। इसकी नम्रता अद्भुत है। यह नम्रता किसी उच्चके सामने नीचकी नहीं है किंतु इस नम्रताको आत्माका सन्मुखपना कहते हैं। जब आत्माका ही उपयोग अपने आत्माके अनुभवमें तल्लीन होता है तब ही वह परम मार्दव भाव या आत्माका निजगुण है। इस परम समता भावमें तल्लीन होना ही आत्मसमाधि है। इस समाधिके जगते ही भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों काल सम्बंधी आश्रव और बंध भावोंसे उसके उस समयके शुद्ध भावोंकी अपेक्षा उस आत्माकी निवृत्ति हो जाती है। इसीको श्री कुंदकुन्दाचार्यजीके अप्रतिक्रमण अवस्था कही है। इस दशाके होते ही सर्व जीव मात्रसे क्षमाका प्रकाश तथा क्रोध और भय आदि विभावोंका अभाव होजाता है, सच्चा क्षमावनी भाव उसके भीतर जग जाता है। इस भावमें उस अतीन्द्रिय सुखका साक्षात् अनुभव होता है जो इस आत्माके विशेष गुणोंमेंसे एक गुण है, तथा यही वह अमृत है जिसके पीनेसे यह जीव अजर-अमर होजाता है। इसकी आत्मामें कोई ऐसी कालिमा फिर नहीं रहती है जो इसको फिर अशुद्ध भावोंमें गिरा देवे। वास्तवमें इसने मानो आज पूर्ण प्रतिक्रमण ही कर डाला

है, अपनेको सर्व प्रकारकी निर्बलताओंसे हटा दिया है, सिद्ध व ऐश्वर्यीय आनन्दका लाभ इसने प्राप्त कर लिया है। शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा जब कभी यह विकल्प करता है तब इसको सर्व ही संसारी और मुक्त आत्माए साम्य जलमें निमग्न पूर्ण शुद्ध ज्ञायक अविनाशी और आनन्दमय ही प्रदर्शित होती हैं। दशलाक्षणी और रत्नत्रय धर्म जो भेद अपेक्षा भिन्न हैं पर अभेद अपेक्षा आत्मा हीका स्वभाव है, ज्ञानी आत्माके चित्तमें सदा ही कल्लोल करते हैं। अतएव मैं सर्व विभावोंको त्यागकर अपने ही एक शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावमें रत होकर परम सुखी और परम तृप्त होरहा हूं।

४१--आत्मरति।

परम पुरुष आत्मा निज आत्मानुभव रसको स्वादनेका जब उद्यम करता हुआ अपने उपयोगको सर्व पर द्रव्योंसे हटाकर अपने ही आत्माके शुद्ध ज्ञानानंदमय स्वरूपके विलासमें तन्मय करता है उससमय जो आनंद-परिणति कल्लोल करती है वह एक प्रकारका ऐसा रस उस उपयोगको प्रदान करती है कि जिस रसको लेकर वह उपयोग सदाके लिये उसी परिणतिका ऐसा प्रेमालु होजाता है कि वह फिर सांसारिक रसोंके स्वादसे वहिर्मुख होजाता है। उसकी रति आत्म-तत्त्वमें ऐसी दृढ़तासे थिर हो जाती है कि यद्यपि वह चिरकालसे चले आए हुए मोहके उदयवश अथिर हो छूट जाती है तो भी वह बार बार स्वरूप स्वाद लेनेमें ही उत्सुक रहती है। आत्मा अनंत गुणोंका समुदाय है। इसकी महिमा अगाध है, तौ भी वीतरागताके रससे सनी हुई ज्ञानचेतना सामान्यपने अनुभवमें आई हुई ही परम कार्य करनेको समर्थ हो जाती है। ज्ञानचेतनामें रति

ही आत्मरति है। वही स्वरूप-साधनका श्रेष्ठ उपाय है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना जब व्यवहारमें फंसानेवाली है तब ज्ञान-चेतना व्यवहारसे निश्चय मननमें दृढ़ करनेवाली है। आत्मरतिमें कोई बाधा नही है—यह स्वाधीन है, अनुपम है, परम तत्त्व प्राप्तिका बीज है। अतएव जो सुखका वाछक है सो सर्व विकल्पोंको त्याग-कर एक शुद्ध ज्ञानघन स्वभाव आत्माका ही ध्यान करता हुआ परम आनंदित रहता है।

४२–अमिट आनन्द।

जिस स्वरूप-साधनमें साधुजन लवलीन होते हुए साध्यकी सिद्धि करते हैं उस साधनमें कोई प्रकारका कष्ट नहीं है। वहां तो वह अतीन्द्रिय आनन्द है कि जिसका वर्णन किया ही नहीं जासक्ता, तथा जिस आनंदके अनुभवमें किसी प्रकारकी पराधीनता नहीं है, न उसमें कोई शारीरिक और मानासिक बाधाए ही हैं। यदि बाधक कर्मोंका आवरण न हो तो वह आनन्द ऐसा झलक उठता है कि किसीतरह मिट नहीं सक्ता। इसीसे अमिट आनन्द शुद्ध परमात्मामे रहता है। मै भी शक्ति अपेक्षा परमात्मा ही हू। मेरी परिणति वीतराग विज्ञानमई और सुखरूप है। मै इसी परिणामका नित्य कर्त्ता और भोक्ता हूं। इस मेरे स्वभावके आराममें नित्य कल्लोल करनेवाली मेरी आत्माका भवन ऐसा विशाल है जिसमें सर्व ही ज्ञेय (जाननेयोग्य) चेतन व अचेतन पदार्थ अच्छी तरह यथायोग्य स्थान पाए बैठे हुए हैं। न तो उस भवनसे पदार्थोंको कष्ट है न भवनको पदार्थोंसे है। परस्पर साम्यभावका दर्शाव है। इस दर्शावमें किसी तरहकी आकुलता भी नही है। आत्मा अपने भवनमें बैठा हुआ उस

शांत-रसका दर्शन करता है जो परम सुखमई और आत्मोन्नतिकारक है। मुमुक्ष जनोंके लिये यही योग्य है कि वे इस उचित धर्मक्रियामें वर्तन करके आपके गुणोंकी महिमाको पहचाने और उससे अमिट आनन्दका भोग करें। संतोंके लिये सिवाय इस आनन्दामृत भोगनके और कोई भोजन ठीक नहीं है। अन्य भोजन जब मात्र शरीर-पोषक है तब यह आत्मा पोषक है।

४३—परम सूर्य।

मैं एकाकी, अनादि, अविकारी, निर्द्वन्द, निरामय, निष्कलक, वीतराग, शुद्ध, चैतन्यमय, अविनाशी, परम, उत्कृष्ट, साकार, निराकार, एकरूप, अनेकरूप, अभेदरूप, भेदरूप, नित्य, अनित्य, वक्तव्य, अवक्तव्य आदि सुन्दर और सार्थक विशेषणोंका धारी एक विशेष्य चैतन्य द्रव्य अपनी सत्ताका आप स्वामी हूं। मेरा न कभी किसीसे जन्म हुआ और न कभी मेरा किसीके द्वारा स्वयं मरण होगा। भले ही मेरे गुणरूपी अवयवोंमे समय२ नूतन परिणतियां जन्में और पुरानी नष्ट हों तौभी मेरी विभूतिका वियोग मेरेमे कभी न हुआ, न होगा, न अभी है। मैं जब अपनी विकाररहित शुद्ध निश्चय दृष्टिसे आपको देखता हूं, उसे अपने शुद्ध गुणोंमें विलासरूप कल्लोल करनेवाला पाता हू, वहां मुझे कोई उदासी, हर्ष व शोक, कोई निराशा, आशा या वियोग, कोई राग, द्वेष या मोह कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता। मेरी यह वचनप्रणाली अजीव तत्त्वकी वनी हुई यद्यपि मेरी ही उन्मत्त चेष्टाका एक द्रव्य है तौभी मेरे स्वरूपमें इसका सर्वथा अभाव है। वह तो मनके विकल्प, वचनके जल्प और कायकी चेष्टाओंसे अतीत है। उसमें किसी अन्य चैतन्य द्रव्यका भी असर नहीं

होता। यद्यपि वह परम मार्दव रूप अतिशय कोमल है तौ भी वह ऐसा कठोर है कि अनंत द्रव्योंके मध्यमें पडा हुआ भी वह उनके किसी असरसे वाधित नहीं होता। दुःख सुखकी धूप छाया उस परम सूर्य्यसे कभी नहीं होती। वह सदा ही सर्वांग और सर्वत्र प्रकाश रूप रहता है। उसका शुद्ध ज्ञान ही सर्व व्यापक प्रकाश है, जिसने सम्पूर्ण ज्ञेयोंको मानो भ्रसीभूत कर लिया है। ऐसे पदार्थमें एक विलक्षण आनन्द और शातता है, जिसके लिये किसी इन्द्रिय आदि करण व किसी शीतल और सुगधमय बनकी आवश्यक्ता नहीं है। मैं इससमय सर्व विकल्पोंको त्यागकर उसी आनन्दमय पदार्थके भीतर मग्न होगया हू, उसीमें तन्मय हो गया हू, उसीके शांत रसके स्वादमें मानो छक गया हूं। मैंने अब जो कुछ लेना था सो लेलिया और छोड़ना था सो छोड दिया, जैसा कि कहा है'—

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथ त्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मन सहृनसर्वशक्तेः पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ॥४३॥ स० क०

भाव—अपनी सम्पूर्ण शक्तिको सकोचे हुए पूर्ण आत्माका अपने आत्म स्वरूपमें जो धारण करना है वही मानों जो कुछ त्यागना था उसे बिलकुल त्यागना और जो कुछ ग्रहण करना था उसे बिलकुल ग्रहण कर लेना है।

४४-स्वराज्यका अनुभव।

मैं आज सर्व विचारोंको त्यागकर एक स्वराज्यपर ही आरूढ़ हुआ हूं। मुझे मेरी त्रिलोक और अलोकव्यापी संपदाका स्वय प्रबंध करना है। दूसरा कोई चाहे तौभी वह कर नही सक्ता, क्योंकि मेरी शक्तिका अनुभव मुझे ही है। जो २ गुण और उनकी शक्तिके

अंश मेरेमें कल्लोल कर रहे हैं वे मेरे द्वारा नियन्त्रित किये जानेपर सम्यक् प्रकार अपने स्वभावमें झलकते हैं। अन्यका सम्बन्ध होनेसे उनकी अवस्था विगड़ जाती है। उनका स्वाभाविक विलासमें प्रकाशना बन्द होजाता है। मुझे मेरे स्वराज्यके लिये किसी और प्रेरक सहायताकी आवश्यक्ता नहीं। अनंत गुणरूपी बड़ी२ शक्तिशाली सेनाका स्वामी होकर भी मैं अकेले यदि अपना उपयोग आपमें ही लगाऊं तो उनकी सम्यक् व्यवस्था कर सक्ता हूं। मेरेमें भी अनंतवीर्य है। उसीका ही प्रताप है जो मैं अपने सर्व अंगोंको सदा ही प्रफुल्लित और आनन्दमय रख सक्ता हूं। मुझे न किसीका तिरस्कार करना है न राग करना है। तीन लोक भी मेरी शरणमें आवे तो मैं उसको सम्यक् प्रकार स्थान देनेको समर्थ हूं। मेरे इस राज्यमें ऐसी विरागता है व ऐसा सम्यक् अहिंसक भाव है कि जो कोई आवे किसीको भी मेरेसे जरा सी बाधा नहीं पहुंच सक्ती। उनका जो कुछ स्वभाव है वही उसमें सम्यक् प्रकार प्रकाशित होता रहेगा। यद्यपि कोई मेरे अभ्यंतर राज्यकी सुव्यवस्थामें प्रेरक नहीं नहीं है, तौ भी जगतका यह अटल नियम है कि उदासीन रूपसे रहनेवाला कुछ निमित्त कारण भी चाहिये। विना निमित्तके केवल उपादानसे सारे ही कार्य्य नही होते। आकाश द्रव्य न हो तो मेरा अवगाह नही हो सक्ता। कालद्रव्य न हो तो मेरा स्वाभाविक परिणमन नहीं होसक्ता। अधर्म द्रव्य न हो तो मेरी स्थिति नहीं हो सक्ती। धर्म द्रव्य न हो तो जब कभी किसी दशामें मैं हलना चाहूं व कहीं गमन करू तो गमन नहीं होसक्ता। अतएव ये चार द्रव्य भी पूर्ण वीतरागी हैं। इनमें चेतनता नहीं—ज्ञान भाव नहीं।

ये भी अपने स्वभावसे आप विलास कर रहे है। इनकी सत्ता ऐसी आवश्यक है कि जैसे जल विना मछली नही रह सक्ती, पवन विना शरीरपर नही टिक सकता, विना योग्य मत्री शासक राज्य नहीं कर सक्ता, वैसे ही इन चार द्रव्योकी सत्ता विना यह जीव आपमें स्वराज्य नही कर सक्ता। ऐसा होते हुए भी इन चार परमोपकारी द्रव्योंकी कोई चिन्ता नही है, न उनको मेरे उपकारकी कोई आवश्यकता है। अतएव जैसी स्वतंत्रता मेरेमे राज्य कर रही है वैसी उनमें भी है। इसीसे अपनी विभूति अपनी अनतगुण रूपी प्रजाका शासन करते हुए मुझे पूर्ण निःकंटक व नि शंक भाव है। मैं इस स्वराज्य भोगमें आशक्त होता हुआ जो स्वानुभव रूपी हिमवन् पर्वतसे अमृतधारा रूपी महा गंगा बहती है उसका नित्य पान करता हुआ जो सुख सम्पादन करता हू उसका कभी वर्णन व उल्लेख नही होसक्ता।

४५--सम्यक्तका अनुभव।

परम पुरुष आत्मा अपनी अवगाढ़ ज्ञान-शक्तिके प्रभावसे स्वपरको भिन्न२ जानकर जिससमय नि सदेह होता है और अंतरंग कारण रूप दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम करता है तब यकायक एक ऐसा विलक्षण सम्यक्त नामा गुण आत्मामें पैदा होता है कि जिसके होते ही उसे अपना शुद्ध आत्मा तत्त्व सर्वसे निराला दीखने लगता है। इस अद्भुत प्रकाशके होते ही उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान और उसका चारित्र सम्यग्चारित्र होजाता है। उस समयकी उपयुक्त दशामें जो स्वात्मानुभूति उपजती है वह आत्मज्ञानके साथ२ उस विलक्षण आनन्दका भी स्वाद प्रदान करती है जो आत्माका एक गुण है और यह शरीर रहित परमात्माओंमें सदा जाज्वल्यमान रहता है।

यह सम्यक्त नामा गुणकी वचनअगोचर महिमा है कि जिसके कारण यह आत्मा अशुद्ध होता हुआ भी अपनी शुद्ध परिणतिका मनन करता है। यद्यपि अनेक परदे पडे हैं तौभी उनके भीतर झलकती हुई शुद्ध ज्ञान-ज्योतिको अपनी सूक्ष्म दृष्टिसे देखता है और पुनः पुनः देखकर अपने आत्मबलको बढ़ाता है। जिन मानवोंने इस सम्यक्त गुणको पहिचाना है–अपने अनुभवमें लिया है वे शुद्ध चित्त होते हुए सदा निश्चय धर्मका मनन करते हैं, जिसके प्रभावसे वे संसार अवस्थामें भी अतींद्रिय आनन्दकी झलकको भाव श्रुतज्ञानके द्वारा पाकर सिद्ध समान सुखके विलासी रहते हैं।

४६–सुधापान।

सुधाका इसीलिये नाम जगतमें प्रसिद्ध है कि जो इसको पान करता है वह अमर होजाता है। वास्तवमें यह बात सत्य है। वह अमृत जिसके पीते ही अनादिसे लगा हुआ कर्म रोग शमन होता है, किसी अन्य स्थानमें नहीं है। जो रोगी है उसीकी शक्तिमें वह अमृत गुप्त है। जो कोई अमृतका पिपासु उसके भीतरी गुणोंके सन्मुख होता है उसके उपयोग रूपी मुखमें उस अमृतका अतींद्रिय स्वाद आजाता है। अजीव द्रव्योंसे रहित जब शुद्ध जीव द्रव्यके सूक्ष्म स्वरूपपर दृष्टिपात किया जाता है और उसे चैतन्यमय, परम शांत, परम सुखी, निराकुल और अनंत गुण समुदाय एक अखड परम ज्योति स्वरूप अनुभव किया जाता है अर्थात् अपने उपयोगको अन्य अनात्म पदार्थोंसे व उनके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे हटाया जाता है और उसे अपने ही शुद्ध ज्ञानानंदमय स्वरूपमें जमाया जाता है तब वहां निरंतर अतींद्रिय आनद रूपी अमृतका

स्वाद आता है। इस अमृतमें ऐसा निर्मलपना है कि कोई कषायकी कालिमा इससे कलुषित नहीं करती है, कोई असत् विकल्प इसे क्लेशित नहीं करते हैं। समाधिगुप्त अवस्थामें इस अमृतकी नदीका प्रवाह बहता है, जिस नदीके द्वारा आत्मा स्वयं निर्मल होता जाता है। संसार इस आत्मजनित अमृतके स्वादसे विमुख है इसीलिये कष्ट उठा रहा है, रात्रि दिन रागद्वेषमई भावोंका ही अनुभव कर रहा है, वीतराग विज्ञानमय भावोंकी छटाको नहीं पा रहा है। धन्य हैं वे गृहस्थ सम्यग्दृष्टी भी जो आत्माको भेद-ज्ञानके द्वारा भिन्न अनुभवकर परम अमृतका पान करते है।

८७-सिद्धचक्रचर्चा।

आज मैं सर्व सांसारिक विकल्पोंको त्याग और परम निर्विकल्प समाधिमें तिष्ठकर उन अनंत सिद्धोंकी पूजन करता हूं जिनका स्वरूप मेरे स्वरूपके बराबर है। इतना ही नहीं, जितने आत्मा इस जगतमें हैं उन सबका वास्तविक स्वरूप इन सिद्धोंके समान है इसीसे सिद्धपूजनमें सर्व आत्माओंकी पूजन है। या यों कहिये कि सम्पूर्ण आत्माओंका समुदाय एक सिद्धचक्र है, उसीकी अर्चा करनी है। जिसका विधान यह है कि जब मैं शुद्ध अनंतज्ञान, शुद्ध अनन्तदर्शन, शुद्ध अनंतसुख, शुद्ध अनंतवीर्य आदि शुद्ध गुणोंके समुदायस्वरूप आत्मामें स्थिर होता हूं तब मुझे अपने ही अंदर एक ऐसा शांत समुद्र दीखता है कि जिसकी थांह नहीं मिलती, उसीमें सर्व लोककी आत्माओंके स्वरूप मानों समा-गए हैं, ऐसा प्रतीत होता है। अर्थात् यही एक सिद्धचक्र है जिसकी अर्चा स्वात्मानुभव व वीतराग चारित्रके द्वारा हो जाती है। इस पूजामें पूजक और

पूज्य-भिन्न२ नहीं हैं। जो ही पूजक है सो ही पूज्य है। इसी एकताके विलासमें उस आनन्दका झलकाव है जो अतींद्रिय स्वाधीन और निर्विकार है। इस एकतामें ही स्वरूपका भोग है। यही योग, समाधि और ध्यान है। यही सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और परम कल्याण है। यही वह स्थान है जहां परम तीक्ष्ण भेद ज्ञानरूपी खड्गका स्थान है। इस स्वरूप-साधनमें न कोई कष्टका भान है न कर्मबंधका मकान है। यही निश्चय मोक्षमार्ग है। इसीके सेवक साधुजन निरंतर परम आनंदका भोग करते हुए सिद्धचक्रकी पूजा करते हुए व परम तृप्त रहते हुए अपने जीवनका सच्चा फल भोगते हैं।

४८–सेवा।

अद्भुत गुणोंको रखनेवाला परमानंदमई चैतन्य स्वरूप तीन लोक और अलोकके राज्यका धनी परम प्रभु जो अपने ही शरीरमें है उसकी सेवा करना यद्यपि व्यवहारमें दो रूप है, परंतु निश्चयसे एक रूप ही है। जो ही सेवक है सो ही सेव्य है। इस एकतामें रंगना साम्य रस है। यही रस उन आत्माओंके भीतर निरंतर बहा करता है जो अपने दृढ़ आसनमें बैठे हुए योगाभ्यासके बलसे विषय कषायोंके दास न होते हुए परम पूज्य सुखमई आत्माके पूजक होते हैं। मैं शुद्ध दर्शन ज्ञानमई अविनाशी हूं यही भावना परमसुखका कारण है।

बड़े आश्चर्यकी बात है कि जिसके अनंत गुणोंकी थाह एक कालमें व अनेक कालमें एक छद्मस्थका मन भी नहीं पासक्ता, उसके लिये शब्दोंका प्रयत्न होना आकाशको अपने अंगुलोंसे मापना है। स्वरूप-किया क्या जावे? जो पूर्ण आत्मज्ञानी हैं उनको तो कुछ समझने व कहे जानेकी आवश्यक्ता नहीं है और जो स्वरूपसे नहीं

जानते, विना उपदेशके आत्माकी थाह पानेसे असमर्थ हैं, उन्हींके लिये शब्दोंका प्रयोग है। गणधर कहें, चाहे श्रुतकेवली कहें कोई भी सम्पूर्ण गुण किसी पदार्थके कह नहीं सक्ते। कहा उतना ही जाता है कि जिसके द्वारा एक वस्तु दूसरीसे भिन्न है ऐसी पहिचान कर ली जासके। लक्षण और उसका वर्णन इसीलिये होता है। आत्मा अपने गुण पर्यायोंमें परिणमन करनेवाला, सदा जीवत्वको रखनेवाला, दर्शन ज्ञान आनन्दमई, निश्चयसे औपाधिक भावोंसे रहित, प्रदेशवान तथा अमूर्तिक है, इतना लक्षण और वर्णन करनेसे यह बात सिद्ध की गई कि यह आत्मा अनात्मा नहीं है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश नहीं है तथा इसकी सत्ता अन्य आत्माओंसे जुदी है। बस, इतनी पहिचानके लिये शब्द उपयोगी होसक्ते हैं। इतनी पहचान करके जो कोई इसी निश्चयात्मक ज्ञानमें लयता पाता है वही निश्चय धर्मका मनन करनेवाला होकर आत्मज्ञानी और आत्मध्यानी होजाता है। बस, अब मैं सर्व विकल्प जालोंको त्यागकर एकाग्र हो जगतके संपूर्ण सजीव और सर्व अजीव पदार्थोंकी सेवासे हटकर मात्र एक अपने ही शुद्ध प्रभुकी, जिसका आसन मेरे हीमें है, सेवा करके परमानंदका विलासी होता हूं।

४९-मेरा प्यारा हंस।

मैं ज्यों२ अपनी बुद्धिको दौड़ाता हू और अन्वेषण करता हूं कि कहीं मुझे वह मेरा प्यारा हंस मिले जो मिश्रित दुग्ध और पानीमेंसे दुग्धको ग्रहणकर पानीको त्याग करनेके समान शुद्ध आत्म पदार्थको, जो कर्मोंसे मिश्रित है, अलग कर कर्मोंको पृथक् करके छोड़ देता है और उस निज परमानंद स्वभावका भोक्ता होकर परम तृप्त

होजाता है तो मुझे यही दृष्टिगत होता है कि वह हंस कहीं और नहीं है, मैं जो ढूढ़नेवाला हूं सो ही मेरा वह प्यारा हंस है। मैं अपनी भ्रम बुद्धिसे आपको और कुछ समझ अपने आपको ही उन्मत्तकी तरह तलाश कररहा था। पर आज मुझे पता लग गया कि वह ईश्वर, परमत्मा, प्रभु, सिद्ध, निरंजन, निर्विकार कृतकृत्य, स्वभावसिद्ध, केवली, ज्ञानी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीर्यवान, परम तेजस्वी, परम सुखी व परमानन्दरूप जो कोई है वही मैं हूं, मेरा ही नाम मेरा प्यारा हंस है। मै निरंतर शुद्ध रहता हुआ सिवाय दुग्ध समान अपने निर्मल स्वभावके अन्य किसी निःसार वस्तुको ग्रहण नहीं करता हूं। मेरे ही आत्माके निर्मल स्वाभाविक गुण रूपी जलसे भरे हुए असंख्यात प्रदेशी परम निर्मल मानसरोवरमें, जहां आध्यात्मिक रसकी निर्मल सुगंधसे परिपूर्ण अनेक प्रफुल्लित भाव रूपी पुष्प विकसित होरहे हैं और अगुरुलघु गुणके उत्पाद व्ययकी निर्मल तरंगें उठ रही हैं व जहां उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार धर्मरूपी मछलियें बड़े अनुरागसे कल्लोल कररही हैं, मेरा प्यारा निर्मल हंस अपने आप रमण करता हुआ जो स्वाधीन सुखका विलास कररहा है वह वास्तवमें अकथनीय है, पर सम्यग्दृष्टियोंके अपने स्वसंवेदन ज्ञानकी परम गुप्त समाधि दशामें अवश्य अनुभवगोचर है।

५०--साधु--माहात्म्य.

परम पुरुष परम आतमा जो व्यक्त अवस्थामें सिद्धात्मा है और अव्यक्त अवस्थामें असिद्धात्मा, अशुद्धात्मा व संसारी है तथा रागद्वेष मोहकी अशुद्ध तरंग प्रवाहोंमें उलझा हुआ गोता सा रहा है, आज अकाअक एकांतमें बैठ अपने निश्चय रूप व असली स्वरूपके अनुभवमें

दत्तचित्त होगया है । यह अपने भीतर एक ऐसे भानुको पाता है जो इस प्रकाशरूप लौकिक सूर्यसे अनंतगुणा प्रकाशरूप है। यद्यपि अनन्तानंत द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी बातोंको एक समयमें जाननेके कारण यह सूर्यकी उपमासे कहीं अधिक है, पर समताभाव सूर्यके समान इसमें भी झलक रहा है । सूर्य जैसे विना किसी रागद्वेषके केवल अपने स्वभावमें प्रकाशता है, उसे कोई निन्दो वा अच्छा कहो तब भी वह सदा अपने प्रकाशके लाभको प्रगट करता रहता है । सब कोई अपनी२ इच्छानुसार उस प्रकाशसे लाभ उठा लेते है, पर उस सूर्यको इससे कोई विकार नहीं होता, वैसे यह आत्मा भी स्वभावसे अपने शुद्ध, चैतन्य रूप परम समता और वीरागताके भावको रखनेवाला है। जैसे बुद्धिमान जन सूर्यके प्रकाशको पाकर स्वय ही जागृत हो अपने कार्यमें लग्न हो सदुपयोगी होजाते हैं वैसे ही तत्त्वखोजी जन इस आत्माके सच्चे ज्ञानरूप प्रकाशको पाकर मोह मिथ्यात्त्वके अन्धकारसे बाहर हो परम जागृतिको उपलब्ध कर अपनी ही आत्मारूपी नगरीमें अनेक लाभकारी तत्त्व मननरूप व्यापारादि करने लगते है । परन्तु जैसे चोर, उल्लूक, हानिकारी प्राणी प्रकाशके अभावमें जागते और पर वस्तुओंको ग्रहण करते हुए अपराधी होते है तथा सूर्योदय होते ही छिपकर बैठ रहते हैं वैसे ही मिथ्यात्त्वी अज्ञानी जीव तत्त्वज्ञानरूपी प्रकाशके अभावमें अपनेसे बाहर वस्तु व भावोंको ग्रहण कर अपराधी बनते हुए कर्मबंधके जालमें पड़ जाते हैं। परन्तु ज्ञानसुर्यके प्रकाशके पहले ही अपने अज्ञान नगरमें छिपके बैठ जाते हैं।

इस अनुपम ज्ञान-सूर्यमें कोई ताप नहीं, कभी ग्रहण नहीं,

कभी अस्तता नहीं, कभी इतस्ततः भ्रमण नहीं, यह नित्य ही अपने स्वाभाविक गुणोंमें परिणमनशील है। आज मैं इसी सूर्यके दर्शन, इसीकी पूजा, भक्ति और इसीके गुणोंमें आसक्तता करता हुआ परमानंदको पाता हुआ अपनेको कृतकृत्य मान रहा हूं।

५१–परमपवित्र आत्मभाव.

ज्यों२ बहुत ही विचारके साथ पदार्थका अनुभव किया जायगा यही फल निकलेगा कि आतमा एकाकी परमानंद स्वरूप और स्व-रूपासक्त है। जो जिसका स्वभाव है वह किसी तरह मिट नहीं सक्ता। भले ही कोई नय कहे कि आत्मा परका कर्ता भोक्ता है, संसारमें रहकर गुणस्थानोंकी श्रेणियोंमें उतरता चढ़ता है–गति, इन्द्री आदि मार्गणाओंमें पाया जाता है। पर वास्तवमें इस आत्माकी अज्ञान दशा ही इसके लिये कारण है। इसका यह निज स्वभाव नहीं। यह सब विभावता पुद्गल कर्मके संयोग जनित है। आत्माको इस विचारसे स्वहित नहीं। स्वहितके लिये आतमाका सच्चा पवित्र परम पारणामिक शुद्ध जीवत्व भाव है वही अपना है। भेद विज्ञानी आत्मा अपने स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे परको भिन्न जान निजसे निजको निजमे निजके लिये ग्रहण करके अपने हीमें ऐसा घुल जाता है कि जैसे अमृत–अपने अमृतमय स्वभावमें तन्मय हो। यह स्वरूपका दर्शन सर्व तरह सुखकारी और स्वाधीन है। मैं आज सर्व विभाव तरंगोंसे छूटकर निजस्वरूपानन्दके निर्मल आंगनमें बैठकर अपने आप मनोहर आत्मनृत्य करता हूं और परमानंदका उपभोग करता हुआ परम तृप्त होता हूं।

५२--मेरा निर्मल सरोवर।

जिससमय मैं दृढ़तापूर्वक परम आनन्दके साथ अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमय निर्मल सरोवरमें प्रवेश करता हूं मुझे सिवाय शांति व सुखके कोई वस्तु दिखलाई नहीं पड़ती। इस सरोवरमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अनंत गुणरूपी निर्मल जलका प्रवाह है। आत्मीक आनन्दके परम विकसायमान कमल प्रफुल्लित होरहे हैं। आत्म हंसको यही उपादेय और माननीय है। मैं इस सरोवरमें मज्जन करते हुए उस परम समाधि भावकी उपलब्धि करता हूं जो सर्व विकल्पोंसे दूर, अव्याबाध और परम पारिणामिक भाव स्वरूप है। इसी भावमें उस रत्नत्रयका लखाव है जो सिद्धोंके स्वरूपका आभूषण है। इस भावसे तृप्तिता सर्व इच्छाओंका निरोधरूप है। यही भाव निश्चलताका मंदिर है, यही भाव आनंद और प्रेमका स्थान है, यही आत्माके गुणोंके खोलनेकी कुंजी है। इसी भावकी स्थिरता सर्व बन्धनोंको मेटनेवाली है। धन्य हैं सत् पुरुष जो इस आत्मज्ञान सरोवरमें नित्य लीन रहते हुए उस आनन्दका विलाप करते हैं जो कि वास्तविक और यथार्थ है।

५३--जगतसेवा।

यद्यपि व्यवहारमें जगतकी सेवा जगतके साथ उपकार करना है पर वास्तवमें यह सब व्यवहारिक उपकार पुद्गल और उसकी पर्यायोंके साथ है। यह उपकार शुद्ध आत्माके साथ नहीं है। वह सेवा जो शुद्ध आत्माके साथ की जाती है एक विलक्षण है। तथा उसका प्रकार यह है कि जो कोई शुद्ध निश्चय नयको ग्रहण कर उसके द्वारा विचार-प्रणालीमें रहता है उसको जगतके संपूर्ण आत्म-

द्रव्य संग्रहनयकी अपेक्षा एक परम निश्चयरूप सुख सत्ता चैतन्य बोधके पुंज मालूम होते हैं। इस दृष्टिको ध्यानमें लेकर एकाग्र होजाना ही वास्तवमें जगतकी सेवा है। यह जगत सेवा परम शांत सुखमई भावोंके समुद्रको दिखलाती है। इस सुखमई समुद्रमें उपयोग परम स्थिरताको पाकर ऐसा मग्न होजाता है कि फिर उसके भीतरसे द्वैतभाव ही चला जाता है। इस अनुभव स्वरूप दशाको ही अद्वैत भाव कहते हैं। यह जगत सेवा परम समतारूप है, रागद्वेषसे रहित है। इसी भावका विचार निश्चय धर्मका मनन है। यही भववनको विध्वंस करनेके लिये अग्नि है। इसीके सेवी परम शुद्ध हो शुद्ध सुवर्णके समान दीप्तमान रहते हैं।

५४-प्रिय समागम।

अनादि कालीन ससारमें भ्रमण करते हुए इस मानवको जिस प्रिय पदार्थकी इच्छा थी, जिसके विना इसकी भवपिपासा शान्त नहीं हुई थी, जिसके लिये इसकी उत्कंठा लगी हुई थी, वह प्रिय वस्तु आज इसको प्राप्त होगई है। इस प्रेमपात्रके समागमसे इसकी सारी मानसिक आपत्तियां नष्ट हो गई हैं तथा वह विभव जो इसकी ही सत्तामें गुप्त था, यकायक अपना दर्शन देने लग गया है। इसके दर्शनसे वह आनन्द जो स्वाधीन, निरुपम और अखेदजनक है इस भव्यके उपभोगमें आरहा है। अब इसको जो प्रेम इस स्वरूपानंदधारी वस्तुका होगया है वह ऐसा अमिट है कि लख यत्न करनेपर भी दूर नहीं होसक्ता। इस प्रिय समागममें जबतक भावकी ऐक्यता प्राप्त नहीं होती, वह रस जो शुद्ध और स्वच्छ है, हृदयमंदिरमें प्रवाहित नहीं होता। इस एकताके

भावका जमाव जब अपना पूर्ण लखाव करता है, द्वैतताकी गध निकल जाती है—मात्र शुद्ध अद्वैत आत्म तत्त्व ही झलकता है, तब वह समाधिभाव जो परम पूज्य परमात्माके लाभका आदर्श है, जम जाता है और एक ऐसा सुन्दर महल बना लेता है कि उसमें पूर्ण निरा-कुलता होती है और अपनी अनुभूति प्रियाके समागमका सतत आनन्द प्रज्वलित रहता है।

अब मैं जगतके नष्ट होनेवाले महलोंसे अलग होकर व अवि-नाशी महलका आश्रय लेकर शुद्ध तत्त्वका नित्य विलास भोगता हूं।

५५--परम धर्म।

सत्यताकी खोजमें घूमता हुआ एक यात्री यकायक किसी ऐसे निर्जन स्थानमें जाता है जहां सिवाय भयानक शून्य आकाशके और किसीका पता नहीं। न वहां कोई जन है न कण है और न घन है। उस आकाशमें विना किसी आश्रयके बैठकर जब आपको आप ही देखता है तो सिवाय आपके आपमें किसीको भी नहीं पाता है। आप ही दृष्टा होता है। आप ही दृश्य होता है। वास्त-वमें दृष्टा दृश्यकी कल्पना ही बनावटी है। वहां तो यह आप ही आप होता है। जैसे कोई बावला आप ही देखे, आप ही हंसे, आप ही नाचे, आप ही लोटे, व आप ही उछले वैसे यह आप आपीमें रहता हुआ नाना प्रकारकी कल्लोलें उठा रहा है, इसको दूसरेकी परवाह ही नहीं रही है। इस प्रकारकी दशामें उस यात्रीको अपनी यात्राका यथार्थ फल प्राप्त होरहा है। वह उत्तम सुख जो सिद्धोंका मुख्य भंडार है इस यात्रीको मिल रहा है। इसीसे यह अपने परम धर्ममें स्थित है।

वास्तवमें निज स्वरूप श्रद्धान, निज स्वरूप ज्ञान और निज स्वरूपमें तन्मयता ऐसा जो अभेद रत्नत्रय सो ही आत्माकी निज सम्पत्ति और यही परम धर्म है । मैं आज अन्य सर्व विकल्पजालोंको त्याग कर इस ही परमधर्ममें स्थित होकर अपने स्वानुभव रसका पान कर रहा हूं ।

५६--चन्द्रप्रभा।

परम प्रतापी आत्मा अपने स्वरूपके अनुभवमे दत्तचित्त होता हुआ जब आप और जगतको देखता है तब अपने समान सर्व चैतन्य प्राणियोंको पाकर उनके साथ साम्यभावके बंधनमें ज्यों ही बंधता है त्यों ही एक ऐसे चन्द्रका उदय होता है कि जिसकी प्रभामें परम शांत धाराका प्रवाह वह निकलता है जिस धाराके रसको पान करनेसे अनादिकालकी जो सुख सम्भोग करनेकी तृष्णा सो शमन होजाती है। इस चन्द्रकलाके उद्योतसे वह अज्ञान अंधकार जिसमें सर्व वस्तुएं एकरसरूप मालूम होती थीं–जीव और अजीव एकसे ही नजर आते थे–यकायक दूर होजाता है। ज्ञान ज्योतिका निर्मल विकाश होना सर्व पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको जैसाका तैसा झलका देना है। भ्रमके जाते ही निर्भ्रान्त पद जो अपने परम शुद्ध पारणामिक भावमें है झटसे उछलकर आ जाता है। इस पदमें आसीन होकर एक भव्य जीव चन्द्रकलाके प्रतापसे आकुलताके झंझटोंसे बचता रहकर अव्याबाध भावमें विकसित रहता है। जिस भावकी महिमा अगाध, अपार और वचनसे अगोचर है। मैं शुद्ध पदका धनी शुद्ध भावका अधिकारी शुद्ध रसका पान करनेवाला सदा ही जैसाका तैसा बना हुआ अपने ज्ञान रसका आप ही पीनेवाला हूं

यही भावना स्वरूप आसक्तताका कारण और परमानदका वीज है। मैं इसी भावनामें रत रहकर आत्मदुर्गमे वैठा हुआ निश्चय धर्मकी अनुभूतिसे कल्लोल करता हुआ परम सुखी होरहा हूं।

५७-कर्त्ता व भोक्ता।

मैं ज्ञानी ज्ञान साम्राज्यका स्वामी हूं। सर्व विश्व मेरी ज्ञान सम्पत्तिका एक अंश मात्र है। मुझे किसी अन्यसे सम्बन्ध करनेकी न चाह है और न वह सम्बध हो ही सक्ता है। मेरा सम्बंध मुझसे ही है। मै अपनी ही सहज परिणतिका आप कर्त्ता हू और उसीका ही भोक्ता हू। न मैं परद्रव्य, परभाव, व परनिमित्तसे होनेवाले भावोंका कर्त्ता हू न भोक्ता हू। मै चैतन्य स्वरूप, ज्ञानदर्शनमय हूं, जानना देखना मेरा काम है, वधना या खुलना मेरा काम नही है। मैं सतत सुखमई व निराकुल हू, सुख भी मेरा धर्म है। मैं अनंत गुणोका धनी हू। कहनेको मेरे पृथक् २ गुणोंकी नामावली है जैसे सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र, वीर्य, अमूर्तत्त्व, सूक्ष्मत्त्व, अवगाहनत्त्व, अगुरुलघुत्त्व, अव्याबाधत्त्व पर वास्तवमें इन सवको अपने सर्वस्वमें व्यापकर वैठा हूं। भले ही भेद दृष्टिसे कोई मुझे इन गुणोंमें निरंतर होनेवाली उत्पाद, व्ययरूप परिणतियोंका कर्त्ता कहे व उसके फलका भोक्ता कहे पर मैं इस कर्तृत्त्व भोक्तृत्त्वके सकल्पसे भी परे हूं।

इस दशामें मैं आप आपी आपको जानता, देखता व अनुभवता हू। यह कहना भी उपचार है। मै जो कुछ हूं सो हूं। मेरा प्रत्यक्ष मुझ हीको है। मैं स्वयं सर्व चिंता जालसे वर्जित हो जव स्व सन्मुख होता हूं, अगाध आनंदका लाभ करता हूं। यही स्वानुभूति और उसका विलास है। इसीसे ही भव्योंके भव्यत्वका प्रकाश है।

५८--जागृत अवस्था.

मैं आज सर्व विकल्पोंको त्यागकर अपने निज ज्ञानानन्द स्वरूपमें तन्मय होरहा हूं। चाहे कोई मुझे सोता हुआ आलसी या प्रमादी समझे पर मैं तो अपनी अटल चिन्मय राजधानीमें पलक रहित निरंतर जाग रहा हूं। मेरी यह जाग्रत अवस्था पहले भी थी, अब भी है तथा आगे भी रहेगी। वास्तवमें जो सदा जागृत ही है उसे जागृत कहना बदनाम करना है जो कभी सोया हो उसे जागृत कहना तो ठीक है पर जो बंध मोक्ष व शयन जागृत दशासे दूर है उसे मुक्त व जागृत कहना कभी भी शोभित नहीं होता। मेरी शक्ति शुद्ध पारिणामिक भावोंकी आधार आपमें आप ही आपसे आपके लिये रंजायमान होरही है। मेरी इस शक्तिमें न कोई आवरण था न है और न होगा। वह सदा ही प्रकाशमान है-अनन्त गुण समुदायरूप है, भले ही ऊपर ऊपर कितने ही कर्मावरण आवें पर अनत कर्मवर्गणाओंका समुदाय मिल करके भी आत्माके किसी प्रदेशको व किसी गुणको नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर सकता। शुद्ध निश्चय नय वस्तुके शुद्ध व असल स्वभावको झलकानेवाली है-वही नय इस आत्माको परमात्माके समान शुद्ध बुद्ध अविनाशी दिखलाती है।

उसी नयके द्वारा देखा जाय तो जगत भरके आत्माओंका यही हाल है। सर्व ही निर्विकार आनन्दमय, चित्स्वरूप और एक जाति धारी हैं। यद्यपि निश्चयसे प्रत्येक आत्माकी सत्ता भिन्न २ है तथापि जैन सिद्धांत यह बतलाता है कि लोक उसे कहते हैं जहां हरस्थानमें जीव और अजीव पाये जावें। जीव शरीरधारी इतने हैं कि उनसे तीन लोक भरा है। कोई स्थान जीव विना खाली नहीं

है। इस लोक स्थानमें निवासी सर्व जीवराशि शुद्ध नयसे शुद्ध निर्विकार, परमानन्दमय दीख पड़ती है जो जगतमें नाना रूप, नाना वर्ण, नाना शब्द, नाना जाति, नाना गुण प्राणियोंके दीखनेमें आते हैं सो सर्व अशुद्ध पराश्रित व्यवहार नयकी दृष्टिसे हैं। शुद्ध नयकी दृष्टिसे एक चैतन्यमय समुद्र दीखता है जिसमें अवगाह करना परमानंदका कारण है। जो भव्य धर्मेच्छु हैं उनसे प्रेरणा है कि वे सर्व असत् विकल्पोंको त्याग इस शुद्ध नयके विषयभूत पदार्थको ही जानें, मानें तथा अनुभव करें।

५९–गहन पथ।

एक व्यवहारी जीवको व्यवहारमें फँसे हुए जनको श्रीगुरु निश्चयका मार्ग दिखाते है, तो उसको वह पथ महान् गहन नजर आता है, उसका जीव कापता है और अकुलाता है कि मैं किसतरह इस सुगम व्यवहार मार्गको छोड़ निश्चयको ग्रहण करूं। व्यवहारी जीवको व्यवहारसे ऐसा कुछ मोह है कि श्रीगुरु द्वारा बार२ चिताए जानेपर भी वह नहीं सोचता–समझता है। यदि निश्चयसे देखा जाय तो निश्चय मार्ग अतिशय सुगम है। इसके लिये किसी पर द्रव्य, पर गुण और पर पर्यायकी आवश्यकता नहीं है। न किसी कर्म और उसके उदयकी जरूरत है। इस मार्गमें कोई काटे व कंकड़ पत्थर व कोई खाई व खन्दक नहीं है। सीधा, स्वच्छ अविकार मार्ग है जो एकसा चला गया है। जहांतक यह मार्ग है उस स्थानकी भी इस मार्गसे सदृशता है। जैसा स्वरूप मार्गका है वैसा ही पहुंचनेके स्थानका है। जैसा ही साधन है वैसा ही साध्य है। जैसे साध्यमें परम अनुपम रत्नत्रयका झलकाव है वैसे साधन या

मार्गमें भी हर स्थलपर रत्नत्रयका जड़ाव है। कहनेको यहां वहां रत्नत्रय हैं पर वास्तवमें दोनों ही स्थानोंपर अनंतगुण रत्नसमूहोंका अस्तित्व है। जो भव्य जीव एकताके रंगमें रगा होता है वह सीधा चलता हुआ अवश्य२ निश्चित स्थानपर पहुंच जाता है। मैं शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, आनंदमय, अव्याबाध, क्रोधादि विकारोंसे रहित परम वीतराग हूं। ऐसा श्रद्धान तथा ज्ञान और इस श्रद्धायुक्त ज्ञानमें आचरण ऐसे दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकताके मार्गको जो गहन, कठिन व दुस्तर माने वह महा अज्ञानी, मोही, व अनंत संसारी है। धन्य है वे महान् पुरुष जो इस गहनको सुगम जान, इस मार्गको निकट ही मान इसपर आरूढ़ हो समभावके निर्मल फल चखते सदा निराकुल होते हुए परम सुखी रहते हैं।

६०-चैतन्य विलास।

आनन्द मंदिर, परम प्रभु, शुद्ध चैतन्य अभिराम आत्माराम अपने ही अनन्त गुणमयी आराममें परम ललाम और सुखमयी प्रेमके साथ अनुभूति तियाके चैतन्य विलासमें क्रीडा कर रहा है। कोई भले ही सुन्दर वर्णवाले वृक्ष समुदायसे विभूषित वनमें क्रीड़ा करे-पुद्गलके दृश्योंमें आप रंजित हो, पर मेरे लिये तो यह क्रिया विलकुल ही असंभव है। मैं तो आप ही अपनी शक्तिका स्वामी हूं। मेरा क्रीडा स्थान भी मेरा ही प्रदेश समूह है। मैं उस स्थानको छोड़कर न कभी वाहर गया, न जाता हूं और न जाऊंगा। कोई मुझे भले ही अकर्मण्य कहे पर मैं स्वभावसे ही अपने शुद्ध अनुभवविलासके रसपानमई कर्मको करता रहता और उसीसे अद्भुत आनन्दका भोग करता हूं। मैं चाहे जिस आकारमें रहकर चाहे

जितने आकाशको अवगाहन करूं। पर मेरा बल, मेरा प्रभाव, मेरा धन, मेरा सुख सब मेरे हीमें रहता है । मैं उनसे कभी अलग न होता हूं, न हुआ था और न होऊँगा ।

सरोवरके जलपर सिवाल भले ही आवे और वह सरोवर एक जमा हुआ मलीन मिट्टीका पिंड ही दिखलाई दे पर वह जल जहांका तहां तैसा ही है । सिवाल हटनेपर जल, जलरूप स्वच्छ नजर आता है । इसी तरह भले ही मेरे गुणोंपर कर्मोंका आवरण हो और वे गुण अपने स्वभावरूप न झलकें पर आवरणके हटते ही वे स्वच्छ स्वभावमय झलकते हैं। मैं अपने सुख सत्ता चैतन्य बोधको लिये हुए अपने स्वभावमें सदा ही अस्तिरूप हूं । जब मैं विकल्प उठाता हूं तब पर द्रव्य, पर गुण, व पर निमित्तसे होनेवाले भावोंकी अपेक्षा नास्ति रूप भी हूं पर निर्विकल्प दशामें मै जैसेका तैसा वचन व मनके विकल्पोंसे रहित केवल अनुभवगम्य ही हू। यही मनन निश्चय धर्मकी प्राप्तिका सहज उपाय है ।

६१--महान् उत्सव।

परम वीतरागी ज्ञाताद्दष्टा आत्माकी खोज करनेवाला अब अपनेमें ही एक चित्त हो देखता है तो उसे यकायक जिसकी खोज करता था उसका पता लग जाता है । उसका दर्शन पाते ही जो आनन्द लाभ करता है वह वचनातीत है-जो लाभ चिरकालसे कभी न पाया था उसको उपलब्ध कर गद्गद होजाता है । पुत्र जन्म, पुत्र विवाह, चिंतामणि रत्नलाभ, व समुद्रसे खोई हुई रत्नमणिकी प्राप्तिसे जो आनंद नहीं होता उसका अनंत गुणा सुख उसके अनुभवमें आजाता है । इस अपूर्व लाभसे परमानंदित हो वह मुमुक्षु

अपने असंख्य प्रदेशोंके आंगनमें एक ऐसा उत्सव रचता है कि जिसकी उपमा जगतमें प्राप्त ही नही होसकती। इस उत्सवमें अनुभूति तिया सानंद आत्म कल्लोल नामका अद्भुत नृत्य करती है जिसके अविनाभावी सहायक सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, वीर्य आदि बडे२ प्रवीण वादित्री होते हैं। इस नृत्यका दर्शक व ज्ञाता तथा इसका स्वाद वास्तवमें उसे ही आता है जिसके आंगनमें यह नृत्य है। अन्य कोई मुमुक्षु भले ही अनुमान करें पर जबतक स्वयं उनके ही यहां यह नृत्य नहीं होता तबतक उनको इसका स्वाद कदापि नहीं आसकता। इस उत्सवको मनानेवाला अपने उपयोगको इस नृत्यादि क्रियाकी ओर ऐसा तल्लीन कर देता है कि फिर उसको और कुछ खबर नहीं रहती है। उसकी दृष्टिमें सामान्य आपके स्वरूपका सर्वस्व या यों कहिये कि अपने ही अनंत स्वभावोंका एक रस इसी तरह वचन अगोचर स्वादमें आता है जिसतरह कोई बहु औषधियोंकी बनी गोली खानेवालेको बहु औषधियोंका एकदम सम्मिलित स्वाद करावे। इस दशाको ही अद्वैतानंद दशा कहते हैं। धन्य हैं वे महापुरुष जो इस अध्यात्मरसके रसिक हों इस रसके पानसे निरंतर स्वको पुष्ट करते हुए अनंतकाल तकके लिये परमानन्दी होजाते हैं।

६२–अद्भुत वैराग्य.

परम शात सुखमय ज्ञानमई आतमा आज अपने आत्मदर्पणमें छः द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको देखकर तथा रागद्वेप नष्ट कर परम वैराग्यमें एकतान होरहा है। उसकी इस दशाको ही परम वीतराग दशा कह सक्ते हैं। इसमें साम्य भावका झलकाव है। इसीमें परम

ज्ञानका झुकाव है, यही आनद मंदिर और सर्व दुःखोंकी शातिका द्वार है । यही सतोंके लिये अनुपम हर्षका लखाव है। मै न कर्त्ता हूं, न भोक्ता हूं, न वद्ध हू, न अबद्ध हू, न मूर्तिक हू, न अमूर्तिक, न क्रोधी और न क्षमावान हू, इत्यादि अनेक विकल्प जालोंके समुदायसे रहित जो हूं सो हूं, इन चार अक्षरोंका भी विकल्प, विकल्पमात्र है । अनंत गुणमय परम शांत सुख समुद्ररूप आत्मतत्वमें किसी भी विकल्पका दर्शाव नही है । वह विकल्परूपी वायुके जालोंसे रहित अक्षोभ समुद्रसम निर्मल स्फटिकमई मूर्तिमान है उसके इस स्वरूपमें वचनातीत रचनाका घमसान है। एक प्रदेश मात्र सूक्ष्म आकाशमें अनंत गुणोंका वास है । एक२ गुण अनत शक्ति अंशोंका पुज है। एक ३॥ हाथके आकाररूप पुरुष देह सम आकारवान आत्मामें जिन२ अनत गुणोंका वास व्यापकरूपसे विद्यमान हैं वे सब एक दूसरेसे अनोखे होते हुए भी किसी भी तरह एक दूसरेसे न मिलते हुए भी समता रसके आनंदमई छिड़कावसे भलेप्रकार तर है और इसीलिये अद्भुत वैराग्य रसको प्रदर्शित कर रहे है । जो कोई इस गुण समुदाय रूप पदार्थका आस्वादन करते हैं-उसीके अनुभवमें लवलीन होते है उनके सर्व कर्म बंधन टूट जाते हैं, वे स्वयं शुद्ध परमात्मा होते हुए अपने अनोखे धनके अनिन्दनीय मदमे गर्क रहते हुए जैसा जीवन विताते है वह सभीके लिये उपादेय और सुखरूप है ।

६३—ज्ञानका बाग।

एक भववासके त्राससे दुःखित और थकित प्राणी भटकते२ ज्योंही अपने ही आत्माकी ओर दृष्टि डालता है तो वहां एक ऐसे

ज्ञान बागका दर्शन पाता है जिसमें अनंत गुणरूपी वृक्ष अपनी अद्‌भुत शोभाको विस्तृत कर रहे हैं। दृष्टि पड़ते ही जिस अपूर्व शांतताका अनुभव इस प्राणीको हुआ वह बचनातीत है। परम शांतमई सुखानुभवने मानों उसके चित्तको मोहित कर लिया। बस क्या था? वह तो किसी शरणकी खोजमें ही था। महामनोहर व निराकुल आश्रय पाकर कौन ऐसा है जो अपने चित्तमें प्रफुल्लित होकर उस आश्रयको अपनावे नहीं? यह तुर्त दृढ़ इरादा बांधकर उसी ज्ञानबागमें प्रवेश करता है और सम्यक्त्व, चारित्र, आनंद, चेतनत्व आदि जिस किसी गुणरूपी वृक्षमें सूक्ष्मतासे कल्लोल करता है, एकसा ही आनंदलाभ करता है। इस स्व आरामके क्रीड़ा करनेसे चिर वासित त्रास मिटाता हुआ जिस स्वाधीन सुखका स्वादी हो रहा है वही वह सुख है जो सिद्ध, अर्हंत तथा साधुओंके अनुभवमें आता है। ऐसे ज्ञान बागमें हरएक सज्जन रमण करके सुख संपादन करे यही निश्चय धर्मपर जानेकी भावना है।

६४--पुरुष--पूजा।

जो पुरुषार्थ करे वही पुरुष है। उत्कृष्ट पुरुषार्थ स्वयं आप है। इसलिये आप ही पुरुषार्थ और आप ही पुरुष है। आप ही मोक्ष और आप ही मोक्षका धनी है। पुरुषकी पूजा महान् गुणकारी है। इसीसे आपकी आप पूजा करना-भक्ति करना या आपके ही अनंत गुणमय एक रसमें भीज जाना सच्ची पुरुष-पूजा है। इस पूजाके लिये सिवाय मोह, राग, द्वेष रहित भावरूपी नैवेद्यके और किसी वस्तुकी जरूरत नहीं है। उस पुरुषका आसन उस हीका प्रदेशत्व नामका अमिट और अखण्ड गुण है। इस पूजाके होते

ही एक अद्भुत आल्हाद पैदा होता है जो अज्ञान और मोहके भीतर दब रहा था सो आत्मज्ञान और वीतरागताका राग आलापते ही उमड़के आजाता है। कोई इसे ऋषभदेव पूजा कहो, कोई अजित तीर्थंकर पूजा कहो, कोई शीतलनाथ व कोई शांतिनाथ पूजा कहो, कोई नेमनाथ या कोई पार्श्व अथवा वीर पूजा कहो, चाहे इसे अर्हंत पूजा या सिद्ध पूजा कहो, चाहे आचार्य, उपाध्याय, या साधु पूजा कहो, व्यवहारमें जो चाहे सो कहो पर पूजनेवाला तो सिवाय निज चैतन्य पुरुषके और किसीकी पूजा करता नहीं, क्योंकि इन सबोंके भीतर जो सार है, सो यह है और यही उनके भीतर जाज्वल्यमान होरहा है। यही कारण है जो अशुद्ध सुवर्णोंके अनेक रंगोंमें भी ज्ञानी केवल सुवर्ण मात्रको ही सुवर्ण रूपसे अनुभव करता है उसी तरह अनेक नामधारी अवस्थाओंमें भी ज्ञानी पूजक निज पुरुषको ही देखता है और आप आपमें आशक्त होना ही इसकी बृहत् पूजा है-यही पूजा वास्तवमें निश्चय धर्मका मनन है।

६५--प्रेमपुष्प।

एक चिरकालसे विरहके आतापसे संतप्त प्राणी जो अनेक विषय व कषायोंके बनों व ग्रामोंमें घूमा फिरा किया था इस आशासे कि मेरा यह ताप शांत हो तथा जिसके विना मेरा सताप रोग दिन प्रतिदिन बढ़ता चला जारहा है, वह कोई अद्भुत अनुभूति जिसकी महिमाका वर्णन नहीं हो सक्ता मुझे प्राप्त हो जावे। आज यकायक ज्योंही तत्त्वज्ञानके अति प्रफुल्लित बगीचेमें पहुंच जाता है त्योंही उसको भेदविज्ञानके अति मनोहर अशोक वृक्षके नीचे अपनी प्रेमपात्रा अनुभूतिका दर्शन मिल जाता है। देखनेके साथ ही जो

प्रेमपुष्प उसके मनके भीतर पड़ा हुआ म्लानित होरहा था सो एकदम विकसित होजाता है। उसका सारा शरीर परम यौवनवान होजाता है, उसका सारा संताप विलय होजाता है, उसकी मनोकामना पूर्ण होजाती है। यह विरहातुर विना किसी संकोचके उस अनुभूतिको गले लगाता है, उसे अपनाता है, उसके रगमें रंग जाता है। अपना परम मनोहर प्रेमपुष्प उसकी भेट करता है। वह इस पुष्पकी परम शांत सुगधमें उन्मत्त हो इस प्राणीसे तन्मय होजाती है। उस समय जो अतींद्रिय आनंदका उछलना होता है वह वचनातीत है। यह आनंद सदा ही पौष्टिक, शात और स्वाधीन है।

६६—समर विजय।

ज्ञानी आत्मा अपनी सम्पूर्ण शक्तियोको एकत्र कर एकचित्त हो मोहशत्रुके संहारके लिये कटिबद्ध होगया है। मोह अपनी रणभूमिमें अपने सर्व सम्बन्धियोको लिये हुए खड़ा है। ज्ञानी आत्मा अपनी भेदज्ञान भूमिमे दृढ़ताके साथ जमा खडा है। तथा इस ज्ञानी आत्माका जो चारित्र है सो जब पूर्णपने अपने ही आधारमें रहता है ऐसा कि वहांपर इसके सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र तीन रत्नोंपर कोई मलीनता नही रहती तब इसकी विजय होजाती है और वह युद्ध जो बहुतकालसे ठना था कि जिसमें कभी मोहको यह दबाता था, कभी यह मोहसे दब जाता था, सदाके लिये समाप्त होजाता है। ऐसी दशामें ज्ञानी आत्मामें स्वानुभवकी अमोघ शक्ति ऐसी दीप्तमान होजाती है कि उसकी दीप्तिके प्रभावसे मोहकी फिर कभी हिम्मत नही पड़ती कि वह ज्ञानी आत्माके राज्यमें अपना पग रख सके। वह तो तब अपनी ही भूमिकामें मानो कील जाता है।

वह मानो गहला या वावलासा होता है। उसको सुधि ही नहीं रहती है कि ज्ञानी आत्मा कहा है व मैं उसको आक्रमण करूं। ज्ञानी आत्मा इसतरह समरमें विजयी होकर अपनेमें भरा हुआ जो सुखरूपी समुद्र उसमें नित्य कल्लोल करता व उसीके परम शांत अमृतका पान करता हुआ ऐसा तृप्त हो जाता है कि उसको फिर कोई इच्छा या तृष्णा कभी सताती नही, उसके भावोंमें कभी कोई विभाव परिणति आती नही। हम ऐसे समर विजयीको स्वयं आप अनुभव कर उसी स्वस्वभावमें ठहरते हैं जहा न कोई बाधा है और न आकुलता है।

६७—मर्मछेद।

बहुत कालसे विल्कुल दो भिन्न२ स्वभावधारी पदार्थ एकमेक होकर उन्मत्तवत् जगतमें कल्लोल कर रहे थे। **भेदविज्ञान** अपनेको ज्यों ही पुनः पुनः उनपर प्रयोग करता है त्यों ही वह अनमिल एकताका मर्म छिद जाता है और दोनों अलग २ रह जाते हैं। उस समय एक तो साक्षात् जड़, अज्ञानी, परमाणुओंके बन्धसे बना हुआ है पर दूसरा परम शुद्ध निर्विकार ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई एक अपूर्व पुरुष चैतन्य धनका धनी है ऐसा दीखता है। यही उस परमात्मा परमेश्वरका दर्शन है—जो मानों एक जड़ स्तम्भसे निकलकर दीप्तमान हो रहा है। ऐसे प्रत्यक्ष प्रभुको जो आपमें ही विराजमान हैं, पुनः पुनः अवलोकन करना निश्चयधर्मका मनन है।

६८—वैराग्यशक्ति।

आत्मामें वैराग्यशक्ति है पर वह इस विकल्पसे रहित है कि मैं भिन्न हू व रागद्वेष भिन्न है, न उसके यह विकल्प है कि मै

शक्तिधारी हूं और वैराग्य मेरी शक्ति है । आत्मा तो यथार्थ स्वरूपमें रहनेवाला ज्ञाता दृष्टा अविनाशी परम पदार्थ है। एक विकल्पधारी जब वर्णन करता है तब यह कहता है कि आत्माके राग द्वेष मोह नहीं हैं–वह तो शुद्ध निराकुल परमात्म स्वरूप मय है। उसी समय वह यह भी विचार लेता है कि ज्ञानी आत्मा ऐसी अनुपम ज्ञान शक्ति रखता है कि उसके स्वभावमें ही कोई परवस्तुसे राग व कोईसे द्वेष नहीं झलकता है । सम्यग्दृष्टी जीव षट्द्रव्यमय लोकके स्वरूपको जानता हुआ रहकर वस्तुको वस्तु स्वरूपसे जानता है, किसीमें रागद्वेष नहीं करता है। इस प्रकारकी शक्तिके ही प्रतापसे आत्मा अपने घरमें आरामसे ठहर सक्ता है और वहां जो स्वाधीन ज्ञानानंद रस है उसका पान करता है। यह शक्ति भेद विज्ञानके प्रतापसे स्फुरायमान होती है। शक्ति गुण है–आत्मा गुणी है–गुणीसे गुण अलाहदा नहीं किया जासक्ता है । निश्चयदृष्टि पदार्थको अपने स्वरूपमें दिखलाती है । यद्यपि मैं अशुद्ध हूं ऐसा व्यवहार दृष्टि दिखाती है तथा निश्चय दृष्टिके सामने व्यवहार दृष्टि अत्यन्त गौणरूप होजाती है। निश्चय दृष्टि द्वारा पदार्थका दर्शन जब परमसुख दाता है तब व्यवहार दृष्टि द्वारा विचार अशुद्ध अनुभवमें रखकर आत्माको सुखके मार्गसे परे रखता है । यह जगत द्रव्योंका समुदाय है–सब द्रव्य परिणमनशील हैं। इससे यह जगत भी परिणमनशील है । इस जगतकी परिणमनशीलताको देखते रहना पर उसके किसी भी परिणमनमें रागद्वेष न करना वैराग्य शक्तिकी महिमा है । जो इस शक्तिके रोचक हैं वे ही निश्चय धर्मका मनन करके स्वरूपमें गुप्त हो परमानंदका विश्राम करते हैं।

६९--निर्जन भजन।

निश्चयसे शुद्ध ज्ञाता दृष्टा परन्तु व्यवहारमें संकल्प विकल्पोंसे छाया हुआ तथा अपनी आत्मज्योतिके प्रकाशको गुप्त रखता हुआ ऐसा एक मुमुक्षु जन नानाप्रकार जप, तप, पूजन, भजन, दान, सन्मान, भक्ति, परोपकार, गुरुवैयावृत्य, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान, धर्मध्यान आदि व्यवहार धर्मरूपी जनोंकी संगतिसे दूर निर्जन एकाकी चिद् ब्रह्ममय आराम (उद्यान)में जाता है और वहां स्वस्थचित्त हो बैठकर आप ही आपसे अपने लिये अपनेमेंसे अपनेमें अपने आपको अपना प्रभु मान सत् स्वरूपके अनुभव रूप भजनमें लवलीन होजाता है जिस भजनको करनेमें न बाहरमें वचनोंका प्रयोग है और न अन्तरङ्गमें मन द्वारा वचनोंका विकल्प है। इसे ही निर्जन भजन कहते हैं। इस प्रकार भजनके व्यवहारमें यद्यपि स्व स्वरूपका झुकाव है पर किसी अन्य वस्तुकी संगति नहीं है। इस भजनको ही निश्चयधर्मका मनन कहते हैं। जो कोई मुमुक्षु परम शांत व सुखदाई पदके इच्छुक हैं, उनका कर्तव्य है कि थोड़ी देर भी निर्जन भजन करके अपनेमें जो अद्भुत अमृत-रस है उसका स्वाद लेवें और अद्वैत भावका आनन्द लेते हुए अनात्माके साथ जो द्वैतभाव होरहा है उसको मिटाकर परम तृप्त हों।

७०-हमारा साम्राज्य।

मैं जब सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर एकचित्त हो अपने साम्राज्यकी ओर दृष्टि देता हूं तो उसे इतना महान् पाता हूं कि लोकाकाश अलोकाकाश सब अपने सर्व द्रव्योंके लिये हुए इसके एक भाग मात्र होते हैं। इतने महान् राज्यका धनी हरएक समयमें

अपने राज्यके अंतर्गत जो चेतन और अचेतन पदार्थ हैं उन सर्वकी त्रिकाल सम्बन्धी अवस्थाओंको जानता है। कोई गुण व कोई गुणकी पर्याय उसके ज्ञानसे अतीत नहीं है। इस साम्राज्यके धनीमें अद्भुत बात यह है कि यह इन सर्व ज्ञेय पदार्थोंमेंसे किसीसे भी राग और द्वेष नहीं करता है। इसके अंतरमें पूर्ण वीतरागता और समदर्शित्व सदा विद्यमान रहते हैं जिससे यह बिलकुल निस्पृह है। दूसरी अद्भुत बात यह है कि यह सदा काल अपने आपके आनंदमय स्वादमें तन्मय रहता है। यह अपनी शुद्ध परिणतिका ही कर्त्ता तथा उसीका ही सम्यक् प्रकार भोक्ता है। द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म सब पुद्गल जड़का पसारा है—इसकी सत्तासे बिलकुल भिन्न हैं। ऐसे परम साम्राज्यके धनीपनेकी शक्तिका धारी जो मैं सो इसी ही भावनाके बलसे उस शक्तिको व्यक्त कर पाऊंगा, यह मेरा गाढ़ निश्चय है।

७१--समयसार।

अनादिकालीन जगतमें भले ही इस मेरे और तेरे जीवने नर नारकादि अनेक पर्यायोंमें भ्रमण किया हो, अनंतोंको माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भ्राता, भगिनी, स्वामी, सेवक, पूज्य, अपूज्य, गुरु, शिष्य माना हो, अनेको दफे निराशाके साथ पौद्गलिक देह छोड़ी हो, अनेको दफे अक्षरके अनतवें भाग ज्ञानका धारी भया हो। चाहे कैसा भी नाटक इस जड पुद्गलके सम्बन्धसे मैंने और तैने खेला हो तथापि मैं और तू जैसेके तैसे ही हैं न कुछ बिगड़ा न कुछ आया, भले ही चांदी और सोनेको एक साथ गलाकर चाहे कितने ही आभूषण बनाओ और चाहे इनको सहस्रों बार पहन २ कर घिसाओ पर जब सर्राफेके पास भेजोगे तो वह सोनेका सोना और

चांदीको चादी कर दिखाएगा। क्योकि दोनों मिले हैं पर किसीने रत्तीभर भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ा। जगत्की जो२ वस्तु हैं वह अपने स्वभावको कभी त्यागती नही, अतएव मैं और तू भी जो कुछ है सो है। वास्तवमें मै और तू दोनों ही समयसार हैं अर्थात् शुद्धात्मा हैं या यों कहिये जो कुछ सब आत्मीक गुण हैं और उनका धारी जो असली आतमा है वही मै और तू है। निश्चयमें यह सभी कथन या विचारका प्रपंच जाल वहां नहीं है। वह तो एक सार अपने स्वरूपमें अविकार रहनेवाली एक चैतन्य धातुकी मूर्ति अखंड अविनाशी है। ऐसे समयसार साररूपका अनुभव करना ही निश्चय धर्मका मनन है।

७२--उच्च पद।

एक एकाकी आत्मा परमानन्दमें निमग्न होकर ज्योंही अपने आपका निरीक्षण करता है उसे एक परम उच्च पद जो उसका स्वाभाविक धर्म है उसमें तिष्ठा हुआ पाकर ऐसा आल्हादित होता है कि जिसका वर्णन नहीं होसक्ता। मोहकी गहरी नींदसे हटना ही स्वरूप विकाशका साधन है। ज्ञानी आत्मामें वास्तवमें देखा जाय तो ऊँच नीचका विकल्प ही नहीं है। वह अनादिसे अनंत कालतक जैसाका तैसा है। उसमें बंध मुक्तकी कल्पना ही व्यवहार मात्र तथा असत्यार्थ है। बद्ध, अबद्ध, स्पर्श अस्पर्श भावसे रहित स्वच्छ स्फटिकवत् स्वभावधारी जो कोई है वही मैं हूं, अन्य नहीं। न कभी अन्यरूप था, न हूं और न कभी अन्यरूप होऊंगा। शक्तिसे परम अविनाशी राज्यका भोक्ता अपनी ही निश्चित परि-

एक परन्तु अनन्त गुण और अनन्त पर्यायोंकी अपेक्षा अनेक है।

मैं अद्भुत परम विलासका स्वामी हूं। परम ज्ञाता दृष्टाका जो कोई पद है वह मेरा पद है, अन्य सब पद हैं सो अपद हैं। इसी भावका मनन स्वरूप प्राप्तिका परम साधन है।

७३—शक्ति।

शक्ति भी कैसी अमूल्य चीज़ है जो अपनी सत्ताको सदा स्थिर रखती हुई परिवर्तन करती हुई भी बनी रहती है। जब मैं अपनी चारो ओर देखता हूं मुझे कुछ पदार्थ विचार करनेवाले व कुछ विचार न करनेवाले दीखते हैं इसी प्रत्यक्ष दिखावने पदार्थोंके सजीव और निर्जीव ऐसे दो भेद कर दिये हैं। एक शाखा जब बढ़ती, पत्ते फूल फल जनती, हरीभरी रहती तब सजीव कहलाती, वही जब तोड़कर डाल देनेसे अपना बढ़ना बन्द कर देती व पत्ते आदि जननेको असमर्थ होती प्रत्युत सूखती हुई काष्ठके नामसे पुकारी जाती निर्जीव कहलाती है। जीवन शक्ति जीवमें है। इसी जीवन शक्तिको चेतन शक्ति भी कह सक्ते हैं। इस शक्तिके वियोगका जिसमें झलकाव है वही अजीव, जड़ या अचेतन है। जीवन शक्तिका आधार जो मैं सो जीव संज्ञाको रखता हुआ चेतनपने अर्थात् जानने देखनेके कार्यको करनेवाला हूं। नेत्र देखकर अग्निको अग्नि और समुद्रको समुद्र जानते हैं न अग्निमें जलते और पानीमें डूबते हैं न उनसे जलजाते या डुबाए जानेका भय है—इसी तरहमें जीव पदार्थ ज्ञाता दृष्टा हूं। जैसा जो पदार्थ है उसको वैसा ही जानना मेरा स्वभाव है। उनमें किसीको इष्ट जान उसके रागमें अन्धा होना व किसीको अनिष्ट समझ उनके द्वेषमें अभिमानी होना

मेरा स्वभाव नहीं है। मै जैसे अपने ही परिणामोंका कर्त्ता वैसे अपने ही परिणामोंका भोक्ता हूं। मेरी शुद्ध निर्विकार जीवन शक्ति मेरेमें भी है व सदा रहेगी। मै इसी शक्तिका उपासक होता हुआ शक्ति नामका धारी होकर आपसे ही आपमें अपनी शक्तिके साथ रमण करनेमें जो आनन्द होता है उसे भोगकर परम तृप्त रहता हूं।

७४-मोहनिद्रा।

परम प्रतापी आत्मा जो अनादिकालसे मोहकी नींदमें सो रहा था, यकायक जागता है और जिस प्रकाशमें रहनेसे कभी मोहकी घुमेरी नहीं आती वही प्रकाश जब इसके अन्दर व्याप जाता है तब यह परम आनन्दको प्राप्त करने लगता है। यही आनन्द समता रसका स्वाद है। यही अभेद रत्नत्रय स्वरूप है। यही स्वसंवेदन ज्ञान है। यही जागृत अवस्था है। यही कर्मोंके विजयी होनेकी तय्यारी है। यही वीतराग सम्यक्त्व है। जब एक दफे भी मोह निद्रा छूट जाती है वह ऐसा अवसर ला देती है कि फिर कभी भी ऐसी अचेत अवस्था न हो जिससे चिरकाल तक अवश्य रहे। वास्तवमें देखा जाय तो यही जागृति मोक्ष वधूको मिलानेके लिये सखीके समान है जो इस सखीके प्रिय बनते हैं वे स्वात्माश्रित रसका पान करते हुए सदा ही ध्यानमें लवलीन रहते हैं। मैं सदा शुद्ध सहज स्वभाव धारी अविनाशी हूं, यही भावना परम मंगलकारी और हितकारी है।

७५-ज्ञान एंजिन।

एक जगतमे भ्रमण करनेवाला आतमा अनंतवार चक्कर लगाकर बारबार उन्हीं स्थानोंको स्पर्श करता रहता है और सुख व शांतिको ढूंढ़ते हुए भी उसका अनुभव नहीं कर सक्ता है, क्योंकि

जिस चक्करमें वह जाता है वह दुःख और अशांतिका मार्ग है। यकायक उसको आत्म-श्रद्धाका मार्ग मिलता है। इस मार्गपर आत्म ज्ञानरूपी एंजिनका सम्बन्ध होते ही जब यह वीर पुरुषार्थकी गाडीपर चढ़ता है इसकी आत्मानुभवरूपी दौड़ शुरू होजाती है। इस अनुभवकी परम आल्हादक कलाके रंगमें रंगा हुआ यह वीर पुरुष सीधा स्वस्थानको गमन करता है। एक२ पदकी दौड़में इस जीवको वह आनंद प्राप्त होता है जो इस आत्मामें है और इसका निज स्वभाव है। मैं शुद्ध बुद्ध अविनाशी, ज्ञाता, दृष्टा, आनन्द रूप, सिद्धसम शुद्ध हूं। यही अन्तरंग और बहिरंग प्रवृत्ति रहित मौन सहित अनुभव निश्चयधर्मका मनन है। यही साधन और यही साध्य है।

७६-मंगल समय।

भेद विज्ञानी आत्मा अपनी शुद्ध परिणतिको ही अपनी समझ उसीके ध्यानमें अपने आपको जिस क्षण जोड़ता है वह क्षण परम मंगलका समय होता है। जिसवक्त आनन्दका लाभ होवे वही मंगलीक समय है। स्वाधीन अतीन्द्रिय आनन्द जिस वस्तुमें है उस वस्तुमें उपयोग रखते व उसका स्वाद लेते हुए कौन ऐसा व्यक्ति है जिसको वह आनन्द प्राप्त न हो। सिद्ध भगवानकी आत्मामें नित्य मंगल है क्योकि वहां अविच्छिन्नरूपसे आत्मानन्दका भोग है। मैं भी यथार्थदृष्टिसे जैसा हूं वैसा ही हूं। सिद्धकी जातिको धरनेवाला होनेसे सिद्धसम शुद्ध निर्विकार आनन्दमय हूं, ऐसा ही हूं और कुछ नहीं हूं, न और रूप हूं। यही प्रतीति मेरे अनुभवमें मुझे प्रेरणा करती हुई जगतके शुभ या अशुभ विकल्प जालरूपी अमंगलोंसे बचाकर चिद्विलास नाट्यके मंगलमई उत्सवमें मुझे त्रि-

राजभान करके जैसी कुछ शोभा मेरी झलकती है उसका रंचमात्र भी वर्णन नहीं होसक्ता। अब रत्नत्रयकी परमपवित्र ज्योति मेरेमें प्रकाशमान होकर मुझे त्रिकाल व त्रिलोकज्ञ बनाकर अमृतमई धाराधरकी वर्षासे परमशातिमें धारण करती है। यही इस ज्योतिमें अपूर्वता है।

७७–आत्मस्वभाव।

यदि कोई महानुभाव एकचित्त हो अपने आपको विचारे तो उसे अपने आत्माका स्वभाव जैसेका तैसा दीख जायगा। उसे यही झलकेगा कि यह आत्मा किसी भी परद्रव्य, परद्रव्यके भाव तथा परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे पृथक् है। यद्यपि भेद दृष्टिसे अनंत गुणोंका रखनेवाला है ऐसा विचारा जाता है, परंतु अभेद दृष्टिसे यह एकाकार ज्ञायक भावरूप ही स्वच्छ दर्पणकी तरह झलक रहा है। इसमें कोई संकल्प विकल्प नहीं है। क्योंकि ये सब विकल्प आदिरूप विचार मनका परिणमन है। आत्माका स्वभाव मन, वचन, कायसे भिन्न है। आश्रवके कारण जो योगोंका परिस्पन्दन है सो भी आत्माका निज धर्म नही। आत्मा टंकोत्कीर्ण एक स्वभावमय है। यह आत्मा अपनी संपूर्ण शक्तियोसे पूर्ण है। न यह कभी जन्मा और न यह कभी अंतको प्राप्त होगा। इसका लक्षण चेतना है। वही अपनी पारिणामिक दशामें सदा परिणमता हुआ कारण समयसारसे कार्य समयसाररूप हो जाता है। वास्तवमें न उसमें कोई कारण है न कोई कार्य है। वह तो द्रव्यरूपसे जैसाका तैसा बना है। उसके स्वभावको सिद्ध कहें, परमात्मा कहें, ज्ञाता दृष्टा कहें, अविनाशी कहें, ईश्वर कहें, भगवान कहें, सो सब

यथार्थ हैं। वह तो एक अखंड चित्पिंड ज्ञान गम्य है। उसकी महिमा उसीमें है। ऐसे आत्मस्वभावको जो सदा परमानंदरूप अनुभव करता है वही ज्ञानी तथा निश्चय धर्मका मनन करनेवाला है।

७८--अध्यात्म--रस ।

जिधर देखता हूं उधर रस ही रस रहा है। यह रस षट्रसोंसे व जलादि द्रवी पदार्थोंके रसोंसे विलक्षण है। इसमें न कोई गंध है, न रूप है और न स्पर्श है। यह रस शांतता, वीतरागता और चेतनताके महान् अद्भुत गुणोंसे व्याप्त है। इस हीको अध्यात्मरस कहते हैं। जगत यद्यपि जीव पुद्गल आदि छः द्रव्योंका समुदाय है, पर जब अध्यात्मरसको देखते हैं तो सर्व जीव, जातिके प्रत्येक व्यक्तिमें चमक रहा है। जीव अनन्तानन्त हैं। लोकाकाशमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां जीवोंकी सत्ता न पाई जाय। उन सर्व जीवोंके ऊपर चाहे कितना भी पुद्गलका सम्बन्ध रहो पर वे सर्व जीव अध्यात्मरसके समुद्र हैं। अतएव यही झलकता है कि यह लोक ही अध्यात्मरसका समुद्र है। मैं अब इसी रसमें स्नान करता, इसीको पान करता व इसीके रंगमें रंगता व इसीको अपना सर्वस्व जानता इसी रसके स्वादमें मगन हूं। इस मगनताके प्रतापसे स्वभाव-धर्ममें आरूढ़ होता हुआ जिस समताके एकत्वमें व्याप रहा हूं वह परम उपादेय परम धेय परम सुन्दर तथा अध्यात्म रसके अनुभवका मिष्ट फल है।

७९—चेतन-धर्म।

ज्ञान जब अपने स्वामीकी ओर दृष्टिपात करता है तब वहां एक अद्भुत ठाठ देखता है। कोई गाता है, कोई नचता है, कोई

कल्लोल करता है, कोई विश्राम करता है, कोई रोषरूप होता है, कोई मानरूप होता है, कोई लोभरूप, कोई मोहरूप होता है, इस तरह सर्व विश्व नाटक जो अनेक अनिर्वचनीय स्वांगोंमें हो रहा है सो सब वहां जैसाका तैसा दीख रहा है। स्वामीके अंदर विश्वका दर्शन कर ज्ञान यही समझता है कि यह स्वामीके चेतनधर्मकी अपूर्व महिमा है कि दर्पणवत् वहां सर्व झलकाव होनेपर भी वह चेतन धर्म उनरूप नहीं होता। यह चेतन धर्म अपने धर्मी चैतन्य प्रभुमें सर्वांश व्यापक है, तन्मय है, एकाकी है। इसका अच्छीतरह दर्शन किया जाय तो यह परम प्रफुल्लित आनन्दरूप विकसित कमलकी तरह विकाशमान है। इसमें न कोई कालिमा कभी थी, न है और न आगामी होवेगी यह निर्मल, इसकी अनुभूति निर्मल। जो इस निर्मल अनुभूतिको स्वादमें लेते हैं वे निश्चयधर्मका मनन करते हुए सुखिया स्वभावी रह परम संतोष पाते हैं।

८०—अद्भुत देह।

परम प्रतापी आत्मारामकी परम अमूर्त्तीक परमानन्दमई असख्यात प्रदेशवाली चैतन्यमई धातुकी बनी हुई पुरुषाकार स्वरूपमग्न स्फटिक सदृश अतिनिर्मल देहका दर्शन एक विलक्षण ही प्रेम उत्पन्न करता है। इस देहमें यद्यपि किसी अपेक्षासे कहीं संकोच विस्तार हो जाता है परन्तु उसका खंड कभी होता नहीं, उसका ध्वंश कभी होता नहीं, उसपर अग्निका असर लगता नहीं, उसको कोई किसी भी उपसर्ग या परीषहके द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर सक्ता नहीं, उसका रुकाव कहीं होता नहीं, महावज्रका बना शरीर तो कभी नष्ट भ्रष्ट भी होजावे पर यह चेतनामई देह कभी रंचमात्र भी विगड़ती नहीं।

इस देहमें अनंत शक्तियां हैं। वे सब इस देह भरमें व्यापक रहती हुई सदा बनी रहती हैं। एक अखंड ज्ञानपिंड परम स्वपरप्रकाशक ज्योतिधारी यह देह है, इसमें कोई भी द्रव्यकर्म व उसकी शक्ति भावकर्म व नोकर्म कभी अपना अड्डा जमा नहीं सक्ते। कमलसे जलबूंद जैसे अलिप्त है वैसे पुद्गलोंके मध्यमें रहते हुए भी यह सर्व जड़की वासनाओं व खेलोंसे जुदा है, अस्पर्श्य है, अबंध्य है। यह देह चेतनामई निर्मलताको रखती दर्पणसम स्व और विश्वको स्वभावसे झलकाती है पर कभी अन्य रूप नहीं होती है। इस तरह यह अपनी अद्भुतताको विस्तारती हुई एक ज्ञानीके दर्शनमें आती हुई जो आनन्द प्रदान करती है उसका कथन कोई नहीं कर सक्ता, मात्र ज्ञानी जानता ही है। इस ज्ञान द्वारा देहकी प्रीति जो भव्य जीव करते हैं वे सदा संतोषित रह स्वरूप विलासके हुल्लासमें मग्न रहते हैं।

८१--मेरा दुर्ग।

परम अतींद्रिय सुखका धारी आत्मा अपने अखण्ड अमभेदय परम गुप्तिमय अत्यन्त दृढ़ लोहा, चांदी, सुवर्ण आदि धातुओंसे विलक्षण चैतन्य धातुके रचे हुए किलेमें बैठा हुआ है। यह चैतन्यरूप किला अनादिसे अनन्त एकसा ही बना रहता है, किसीकी शक्ति नहीं जो इसको ढा सके, तोड़ सके, बिगाड सके। भले ही कर्मरूपी रज वायुके हलके या तीव्र वेगकी तरह इसमें स्पर्श करे व इसके चारों ओर घूमे तथापि वह कोई भी असर इस दुर्गके स्वभावके नष्ट करनेको नहीं कर सकते। कदाचित् दुर्गके चारों ओर बालूका ढेर देकर कोई अज्ञानी [illegible]

समझ ले, परन्तु जाननेवाला अच्छी तरह जानता है कि यह बालू ऊपर ही ऊपर है भीतर वह दुर्ग अपने स्वरूपमें यथावत् स्थित है। इसी तरह अज्ञानी आत्मा दुर्गकी पहचान न रखता हुआ वर्तन करता है परन्तु ज्ञानी अपने दुर्गको अपने स्वभावसे ही अभेद्य जान उसके लिये किसी प्रकारकी शंका न करता हुआ निशंक रहता है और स्वस्थताके साथ अपने दुर्गमें रह अपनी अनुपम विभूतिका विलास करता है। धन्य है निश्चय धर्मका मनन जो मनन करने-वालेको स्वपद साध्यका साधन होजाता है।

८२--अनुपम स्वरूप।

जो परम पदार्थ आप रूप है वह सदा ही निःशंक, निर्द्वन्द्व निरूप, तथा अव्याबाध है। कोई उसे स्फटिकमणि, कोई दर्पण, कोई सूर्यका दृष्टान्त देते हैं परन्तु वह कोई ऐसी अद्भुत वस्तु है कि जिसके लिये इस जगतमें कोई उपमा नहीं है। जो कोई मानव नोकर्म, द्रव्यकर्म, तथा भावकर्मकी गुफाओंके भीतर घुसकर अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टिसे देखता है उसे वह आपही आप अनुभवगोचर होता है। वास्तवमें उस परम पदार्थका वर्णन पूर्णरूपसे नहीं किया जासक्ता। वह सम्यक्त्वरूप है, ज्ञानरूप है, चारित्ररूप है, प्रत्याख्यानरूप है, आनंदरूप है, देहमें रहते भी देहसे अत्यन्त भिन्न है, चैतन्य धातुकी अकृत्रिम मूर्ति है, इत्यादि कुछ भी भेद कल्पना उठानेसे यह अनुभव होता है कि यह एक ऐसा पदार्थ है जिसमें परमाणु मात्र भी परद्रव्य, परभाव आदिका सम्बन्ध नहीं है। यह ज्ञाता दृष्टा है, अन्य सर्व ज्ञेय हैं। यह स्वपरका सहज ज्ञाता है। जो यह है सो मै हूं। इस ही बातका पुनःपुन-

मनन करते रहनेसे जब मनन करनेवालेका विचार परसे हट जाता है तब स्वयं ही उसको वह चैतन्य स्वरूप जो आप है सो अनुभवमें आजाता है। जैसे वह वस्तु अनुपम है, वैसे उसका स्वाद भी अनुपम है; उसी तरह जो एक आनन्दका अनुभव होता है वह भी अनुपम है। इस उपमा रहित परम पदार्थका अनुभव अपना परम श्रेय तथा स्वकल्याणका उपाय है।

८३-उत्तम क्षमा।

आज सर्व संकल्प विकल्पोंको और उनके कर्त्ता मन, वचन व कायको अपनेसे पर अनुभव कर तथा सर्व कर्म, नोकर्म, भावकर्मकी पद्धतिसे दूरवर्ती होकर ज्यों ही मैं अपने एक टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा, परमानंदमय स्वभावकी महिमा पर दृष्टिपात करता हूं और वहां बहुत ही सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करता हूं तो उसमें क्रोधका किंचित् अंश भी नहीं दिखलाई पड़ता है। हां, एक परम मनोहर उत्तम क्षमा रूपी देवीका दर्शन होता है। इस देवीकी परम सौम्य शांतमय मूर्तिकी कोई उपमा जगतमें देखनेको यदि दृष्टि फैलाई जाती है तो जितने आतमा इस लोकमें अपना अस्तित्व रखते हैं उन सर्वके भीतर इसी ही रूपके बिलकुल समान उत्तम क्षमा रूपी देवीका दर्शन प्राप्त होता है। वे सर्व एक जातिमय एकसी ही हैं। इस जातिके सिवाय त्रिलोकमें कोई ऐसी मूर्ति नहीं है जिससे इनकी उपमा दी जाय। यह जगत अपने सर्व आकाशमें हर स्थल पर आतमाओंको विराजमान किये हुए है। इनमेंसे हरएक आतमा अपने सर्वांशमें इस देवीको व्याप्त कर तिष्टा हुआ है। जिससे एक अपूर्व दृश्य दिखलाई दे रहा है कि उत्तम क्षमा रूपी देवी भिन्न२

आत्मामें तिष्ठी हुई दर्शकको अनंत रूपोंसे अनंत, पर जातिकी विलकुल सदृशता होनेसे एकरूप त्रिलोक व्यापी नजर आरही है। इस जगत व्यापिनी उत्तम क्षमा देवीकी थोडी देर भी स्वानुभूतिमय परम शान्त व सुखदाई पुष्पोंसे यदि कोई भक्ति करता है तो उसको जिस परमामृतका स्वाद आता है उसका वर्णन हो नहीं सक्ता, उस स्वादको जो जाने सो ही जाने, सो ही माने, सो ही अनुभवे। वचनातीतका वचनोंसे कहना एक न होने योग्य साहसका करना है। तथापि संकेत मात्र है। जो कोई स्वयं रागद्वेष मोहसे परे रहकर आपमें परिशिलन करे तथा वैसे ही सर्व जगतमें आप सम सर्वको अनुभव करे वही समताके सुखमय समुद्रमें निमग्न हो, सुखी हो, द्वैतभावसे परे हो जावे।

८४--आत्मावलोकन।

नाना प्रकार आधि व्याधियोंसे रहित परम सुखी और ज्ञानी आत्मा जब अपनी निर्मल निश्चय दृष्टिसे देखने लग जाता है तब इस जगतमें एक ज्ञानसमुद्रको भरा पाता है जो निर्मल क्षीरसमुद्रवत गम्भीर उदार और रागद्वेष मोहरूपी विकलत्रयोंसे रहित है। उसमें कोई भी संकल्प विकल्परूप ग्राह मच्छादि नहीं हैं। यह विश्व एक चन्द्र बिम्बकी तरह जिसमें झलकता है, उसकी स्वच्छता ऐसी ही है कि ऐसे२ अनन्त विश्व उसमें प्रतिबिंबित हो तो भी वह विकारी न होता हुआ अविकारी रहता है। इस समुद्रकी एक २ बूंद अस्तित्व, वस्तुत्व आदि साधारण तथा ज्ञान, सुख, वीर्य आदि असाधारण धर्मोंको पूर्णतया रखनेवाली है। जो स्वाद इसकी एक बून्दके पीनेमें है वही स्वाद इसके एक लोटा पानीके पीनेमें है।

इस समुद्रकी मर्यादा कभी कम व अधिक नहीं होती, न इसका कभी आदि, मध्य व अन्त है। अगुरुलघु गुणद्वारा षट्गुणी हानि वृद्धि होते हुए यद्यपि उत्पाद व्यय सहित है तथापि अपने सर्वस्वको आपमें रखनेके कारण परम ध्रौव्य है। इस समुद्रको देखते२ जब देखनेवाला स्वयं डूब जाता है, जब दृष्टा और दृश्य दोनों एक हो जाते हैं तब अभेद भावमें क्या२ आनन्द विलास है इसको वही जाने जहां ज्ञान और सहज वैराग्य है।

८५–स्वयं जागृति।

निश्चयसे परम तत्त्वज्ञानी आत्मा अनादि अविद्यासे विरक्त रहा हुआ आप स्वयं अपने अनन्त गुणोंके अनुभवमें जागृत होरहा है। इसकी यह जागृत अवस्था ऐसी स्वच्छ प्रकाशमय है कि जिसमें जगतके पदार्थोंकी सर्व अवस्थाएं यथार्थ रूपसे झलक रही हैं। जो२ शुभ और अशुभ भाव हैं वे भी सर्व इसकी चैतन्यमई निर्मल भूमिकामें प्रतिबिंबित होरहे हैं; पर यह ज्ञानी उनसे विकारी नहीं होता। यह जानता है कि मैं शुद्ध चिदानन्दमय सिद्ध भगवानके समान हूं। मेरी और सिद्धोंकी एक जाति है। मेरी यह जागृति ही आश्रव चोरोंको मुझसे दूर रखनेवाली है। तथा यह मेरी जागृति ही मेरेको जो आनन्द प्रदान कर रही है उससे मेरेको ऐसी रुचि होरही है कि मैं इस जागृतिमें ही जमा रहूं और अपने परमानंदमय स्वरूपका अनुभव किया करूं। क्योंकि इस आनन्दको छोड़कर तीन लोकके पदार्थोंमें उपयुक्त होनेमें कहीं कोई आनन्द दृष्टिगोचर नहीं होता है। वास्तवमें आपकी जागृति ही एक अपूर्व विश्रांति घर है जो भवमें भ्रमते हुए थकित प्राणीके लिए एक भारी

अवलम्बन है। इसको मोक्ष कहें, शिव महल कहें, सुखरस-कूप कहें, जो कुछ कहें सो ठीक बन सकता है। यही वह आत्माराम है जिसमें आत्मा स्वयं विना किसी सहायताके कल्लोल किया करता है। जब इसकी कल्लोल दशा होती है तब वहां कोई संकल्प विकल्प नहीं रहता है। क्या रहता है उसे वही जानता है जो इस दशामें तन्मय हो आप आपका अनुभव करता है। यही अनुभव स्वयं जागृतिरूप, आनन्दमई तथा निर्मल प्रतापरूप है।

८६--मैं निरपराधी।

परमात्मतत्त्ववेदी निजानन्दसवेदी आत्मप्रभु भले ही इस नोकर्म, द्रव्य-कर्म्म, भाव-कर्मसे निर्मित घरमें रह रहा है व अनादि कालसे रहता चला आया है तथापि इसका स्वभाव जैसाका तैसा ही है। यह अपनी स्वभाव सम्पदाका स्वामी होकर स्वाभाविक ज्ञान दर्शन विभूतिका ही विलास करता रहता है। मैं अपने भीतर जब देखता हू तब ऐसे ही आत्मप्रभुके दर्शन पाता हूं। वास्तवमें जो मैं हूं सो आत्मप्रभु है वा मैं स्वयं आत्मप्रभु हू, ज्ञाता दृष्टा अविनाशी हूं। मैंने अनादिकालसे कभी भी परको अपनाया नहीं, न भविष्यमें किसी भी परको अपनाऊँगा, न अब कोई परवस्तु मेरी है। इसीसे मैं सदाका निरपराधी हूं और ऐसा ही सदा रहूगा। यही कारण है जो मुझे बंध कभी हुआ नही न आगामी बंध होगा न अब वन्ध होता है, निरपराधीको काहेका बंध? जो परको अपना माने व परकृत चेष्टाका जो झलकाव अपने उपयोगमें होता है उसे अपना स्वभाव धर्म जाने सो अपराधी होय तो होय। मैं स्व स्वभावमय हूं। ऐसी विपरीत बातका माननेवाला नहीं। इसीसे मैं

अपने ज्ञानानन्द स्वभावका अनुभव करनेवाला सदा रहता हुआ सिद्ध, कृतकृत्य, ईश्वर, परमात्मा, परमब्रह्म, परम सुखी आदि नामोंके भावोंको रखने योग्य हूं। यही विचार निश्चयधर्मका मनन और सुख-शांतिका प्रदाता है।

८७—प्रेमरस।

अनादि कालसे जिससे प्रेम किया उसीने ही ठगा—उसीने ही भव भवमें भ्रमण कराया, नरक निगोद दिखाया, पशुगति व मनुष्ययोनिमें भटकाया, कभी देवगतिको झंकाया—उस अप्रेमपात्रको प्रेमपात्र समझकर मैंने जो २ संताप सहा वह अकथनीय है। जैसे रज्जूको सर्प जान कोई भयसे भागा भागा फिरे ऐसे मैं फिरा—वृथा ही क्लेशित हो दुःख सहा। अपना आनन्द अपने पास, अपना प्रभु अपने पास, अपना मित्र अपने पास; खेद है कि उसको न जाना! अतएव उससे प्रेम न किया इसीसे ८४ लक्ष योनिमें टक्करें खाईं। आज शुभ अवसर मिला जो अपनेमें ही अपने साक्षात् चेतन प्रभुको देखा—इसीहीको शरणभुत जाना। यही प्रेम-समुद्र है—साक्षात् अमृतरस कूप है। अब मैंने इसीके प्रेमरसको ग्रहण करना स्वीकारा है अथवा यों कहो कि अब यह आत्मा अपने आपको जान गया है कि मैं अनादि अनन्त अविनाशी ज्ञाता दृष्टा हूं। मैं ही सिद्ध निरंजन निर्विकार, अव्याबाध, अटल, निकल और आनंदमय हूं। बस यह आप स्वयं आपमें लीन होकर स्वसंवेदन गम्य जो निज अनुभवरस है उसे पीता हुआ परम तृप्त होरहा है। अब यह त्रिगुप्तिमय परम मौनस्वरूप अनुभूति गुफामें बैठकर केशरीसिंहवत् राज रहा है।

८८--श्रीवीर प्रभु।

वीर प्रभुके गुणानुवाद सुनकर व उनके निर्वाण दिवस दीपमालिकापर उनकी विशेष भक्ति देखकर मेरे चित्तमें इच्छा हुई कि श्रीवीर प्रभुके साक्षात् दर्शन करूँ, उनसे धर्मामृत पाकर अपनेको तृप्त करूँ। मैं उनकी निर्वाणभूमि श्री पावापुरजीके जलमंदिरमें स्थित चरणपादुकाके निकट गया और वहां अपनी खूब दृष्टि लगाई पर वीर प्रभुके दर्शन न पाए। यकायक मैं शांतिसे बैठकर अपनी दृष्टिको भीतर फेंकने लगा। दृष्टि स्थूल शरीर, सूक्ष्म कार्माण व तैजस शरीर तथा रागद्वेष क्रोधादि भाव, दया, क्षमा, शील, तप आदि शुभ भावको उल्लंघकर ज्योंही देखने लगी त्योंही यकायक परम वीतराग, ज्ञाता दृष्टा, आनन्दमई वीर प्रभुका दर्शन मिल गया। दर्शन करते ही दृष्टि वीर प्रभुके रूपमें ऐसी तन्मय हुई कि वहां ही जम गई, जमनेके साथ ही साक्षात् वीर प्रभु जिनके दर्शनकी खोज थी और देखनेवाला जो यह आप दोनो एक होगए। द्वैतका भाव मिट गया-अद्वैतरूप वीरप्रभु साक्षात् प्रगट हो गया। उस समयकी जो दशा उसका जाननेवाला भी वही और अनुभव करनेवाला भी वही। घड़ीभर पीछे मन विकल्प उठाकर चिन्तवन करने लगा कि हा! जो आनन्द वीर प्रभुके दर्शनसे हुआ वह अपूर्व है। आजतक मैंने कभी पाया नहीं था, ऐसा वीर प्रभुका उपकार विचार कर वह मन तथा उसका प्रेरा वचन व काय वीर प्रभुकी स्थापनारूप चरणकमल द्वन्द पर अपनी अटल भक्ति करके नमस्कार दंडवत् व स्तुति आदि करने लगा। वीर प्रभु आप ही है-ऐसा जो

आनन्द अनुभव करता है उसका वर्णन होना अशक्य है।

८९-संत समागम।

एक रात्रिको मैं गाढ़ निद्रामें वेखबर सो रहा था। यकायक निद्रा ढीली हुई और मैं एक स्वप्न देखने लगा। क्या देखता हूं कि मैं स्वयं अति शुद्ध क्रांतिको लिये हुए पद्मासन जमाए हुए बैठा हूं तथा मेरे सामने मेरे जैसे शुद्ध क्रांतिधारी अनगिनती संत उसी पद्मासन स्थितिमें अतिशय मौन विराजमान हैं। सर्वेका नकशा अपने समान देखकर मैं बहुत आश्चर्यमें पड गया कि ऐसा संत समागम तो आजतक कहीं देखनेमें न आया था। इस संत समागममें सब ही संत परम शुद्ध ज्ञानानदी विद्यमान हैं। कहनेको अनेक हैं; परन्तु एक रसके रसीले व एक भावके भरे हुए होनेके कारणसे एक हैं। इन स्वप्नको देखते२ मैंने ज्योंही आख खोली और अपने चारों तरफ देखा तो मुझे हरएक प्राणीमें उसी संतके समान सौम्यज्ञान मूर्तिका दर्शन होने लगा। अपनेमें देखूं तो वही, पक्षीमें देखूं तो वही, वृक्षमें देखू तो वही, स्त्रीमें देखुं तो वही, गायमें देखूं तो वही, बलधमें देखू तो वही, चींटीमें देखूं तो वही, सर्पमें देखूं तो वही, मक्खीमें देखू तो वही, लटमें देखूं तो वही, जलकायिकमें देखूं तो वही, दीपशिखामे देखूं तो वही, ठडी पवनमें देखूं तो वही, खेतकी गीली मिट्टीमें देखूं तो वही, सूर्यमें देखूं तो वही, चंद्रमें देखूं तो वही, नक्षत्रमे देखू तो वही, चंडालमें देखू तो वही, भंगीमें देखूं तो वही, कुलीमें देखू तो वही, बाबूमें देखूं तो वही, हाकिममें देखूं तो वही, व्यापारीमें देखूं तो वही, ब्राह्मणमें देखूं तो वही, अन्धेमें देखूं तो वही, बालकमें देखूं तो वही, विशेष

कैसे कहूं ? जिस प्राणीको देखता हूं उस प्राणीमें ज्ञानका धनी अपनी ज्ञानकलोलें [illegible] रहा है ज्ञानका प्रकाश होरहा है वही मेरे समान। इस तरह मैं सब सन्तोंको देखता हुआ जो आनंद अनुभव कर रहा हूं वह विचित्र है। किसीको जगत असार दीखता है, मुझे तो यह जगत परम सार आनन्दमय दिख रहा है। जहां देखो वहीं सन्तलोग अपने स्वसंवेदनमई सत्स्वरूपमें कल्लोल कर रहे हैं।

१०--अज्ञान रिपुका विनाश।

आज एक विजयी आत्माने अज्ञान रिपुका संहार कर डाला है। जिसके कारण ज्ञान सूर्यका उदय होगया। वास्तवमें विचार किया जाय तो ज्ञान सूर्य अपनी गुणावलीको लिये सदा प्रकाशमान है ही। अज्ञानी लोग अपने सामने आए हुए अज्ञानतमके कारण उसको न देखकर चिल्लाते हैं कि ज्ञानसूर्यका उदय नहीं है। इतने कोलाहलके सिवाय और न मालूम क्या क्या काम करते हैं। मैं सुखी, मै दुःखी, मै रोगी, मैं शोकी, मैं बलवान, मैं विद्वान आदि कर्मफलोंमें आया मान कर्मफलचेतना रूप आपको अनुभव करते है तथा मै एक कार्यका करनेवाला हूं, मैं पालनेवाला, सुधारनेवाला, नष्ट करनेवाला, मैं उपकार करनेवाला आदि क्रिया रूपी जो कर्म उसमें अहंकार कर कर्म चेतना रूप आपको अनुभव करते हैं। आप सदा ज्ञानी, आनन्दमई, सत्स्वरूपी, अविकारी, परम स्वच्छ, सिद्ध-सम कृतकृत्य होते हुए भी आपको ऐसा अनुभव नहीं करते हैं। इसमें बाधक अज्ञान शत्रु द्वारा फैलाया हुआ इन्द्रजाल ही है। तत्व विचार या भेद विज्ञान रूपी शस्त्रसे जब अज्ञान शत्रुका संहार होता है तब यह जीव आपको ज्ञान चेतना रूप अनुभव करता

हुआ सुखी रहता है। ज्ञान चेतना मेरी, वह मेरा स्वभाव, उससे मैं सदा तन्मय, जो वह सो मैं, जो मैं सो वह, वह व्यापक, मैं व्याप्य, मेरा और ज्ञान चेतनाका तादात्म्य सम्बन्ध है। इसप्रकार विकल्प करते हुए जब जो भव्य इन विकल्पोंके जालसे भी परे हो जाते हैं तब आपको आप कैसा देखता, जानता और आचरता है इसका आत्म वे स्वयं ही पा लेते हैं। वास्तवमें वह दृष्टा, ज्ञाता, परम प्रभु आप आपमें शोभायमान है।

९१-अज्ञानकी महिमा।

यह आत्मा इस संसारमें अज्ञानके नशेमें चकना चूर होकर अनादि हीसे आप रूपको भूल इस तरहका वेखबर होरहा है कि यह सर्व जगतकी वस्तुओंको अपनाना चाहता है। इसकी भूल इतनी गहरी है कि जो यह शरीर, धन, स्त्री, पुत्र आदि चेतन अचेतन पदार्थ बिलकुल पर हैं उनको भी कभी कभी अपना मान कभी हर्षित कभी विषादित होता है। अन्तःकरणकी व्यवस्थासे बिलकुल अजान रहकर जैसे रज्जुमें सर्पका भय करके कोई इधर उधर आकुल हो भागे व क्लेशित हो लोटे पोटे, ऐसे यह अज्ञानी जीव राग, द्वेष, मोह आदि विभावोंको अपना ही स्वभाव मानता हुआ महान् दुःखी रहता है। जैसे किसी चतुर पुरुषके कहनेसे व स्वयं विचार करते किसी भ्रमिष्ट जीवको यकायक यह निश्चय हो जाता है कि यह सर्प नहीं किन्तु रज्जु है और तब तुरन्त ही उसका सर्व भय, सारी आकुलता नष्ट होजाती है-वह बड़ा खुशी होजाता है-निश्चिंत होजाता है। इसी तरह जब उस अज्ञानी जीवको किसी ज्ञानी गुरुके निमित्तसे व स्वयं विचार करते२ यह निश्चय

होजाता है कि मैं तो राग, द्वेष, मोह रहित शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव-धारी सिद्ध भगवानके समान हूं तथा यह राग, द्वेष, मोह, कर्म-जनित अवस्थाएं हैं, परके निमित्तसे होनेवाले भाव है मेरी ज्ञानकी स्वच्छताकी परिणतिकी ऐसी महिमा है जिसमें ये प्रगट होते हैं; पर यह सब उसी तरह जानेवाले भाव हैं जैसे किसी स्फटिकमणिके निर्मल पाषाणमें एक सूर्यका प्रतिविम्ब दिखता हो वह प्रतिबिम्ब अवश्य थोड़ी देरमें जब उस सूर्यका सन्मुखपना न हो मिट जाने-वाला है। जैसे अज्ञानकी महिमामें मैं दुःखी था वैसे अब ज्ञानकी महिमामे मैं सुखी और सतोषी हूं। मुझे मेरा स्वभाव साक्षात् अनु-भवमें आरहा है। मैंने अपनेको पहचान लिया है। मेरी पहचान होते ही जो मेरा स्वभाव मुझे प्रतिभासा था। अब मैने अपनेको यथार्थ जानकर व अपना भ्रम मिटाकर जो सुख सपादन किया है वह अकथनीय है। उसको वही जाने जिसका भ्रम मिटे।

९२—सुखबीज।

परम अदभुत शक्तिशाली आत्मा अनादि मोहवश आप स्व-रूपको भूला हुआ व जड़ पुद्गलकी परिणतियोको अपनी मानता हुआ जितनी आकुलताओंके भारको उठा रहा था उनका विचार भी नही किया जा सक्ता। एक शृंखलाबद्ध भारी कालके प्रपंचमें उल्झा हुआ दुःख संततिको भोग २ कर जगतमें एक बडा भारी नाटक खेल चुका था परन्तु आज इसको अपनी पहचान होगई है। इसको अनुभव होगया है कि मैं तो जगतका साक्षी, ज्ञाता दृष्टा हूं। जिस सुखकी मैं खोज कर रहा था वह सुख कही अन्यत्र नही किन्तु मेरा ही निज स्वभाव है। मै गुणी तथा सुख मेरा गुण है। इस

आपके स्वरूपकी पहचान ही उस अनंत सुखकी उपलब्धिका बीज है जो इस आत्मामें ही है पर कर्म मेघाडम्बरके निमित्तसे तिरोभूत है। भेद ज्ञानके प्रतापसे आवरण हटेगा और आत्मसूर्य पूर्णपने आर्विभूत होगा। फिर कभी अम्बरका आच्छादन होनेका नहीं, फिर कभी अनंत सुखका अन्यथा परिणमन होनेका नहीं। मेघाच्छादित सूर्य भले ही हो पर क्या कोई प्रवीण सूर्यको मैला कह सक्ता है? कदापि नहीं। उसी तरह कर्म आवरणसे तिरोभूत आत्मा भले ही हो पर क्या कोई भेदज्ञानी आत्माको मैला, अज्ञानी व रागी, द्वेषी, मोही, तथा दुःखरूप कह सक्ता है, जान सक्ता है या अनुभव कर सक्ता है? कदापि नहीं। आत्माका आत्मारूप ज्ञान ही आत्मविकाश तथा यथार्थ सुखका बीज है।

९३-अनुभूतिका फल।

परम शुद्ध ज्ञानानन्दमय व परम विवेकी आत्मा अपनी अनुभूतिको स्वरूप ज्ञानके अभ्यासके प्रतापसे शुद्धतामें प्राप्त करता हुआ एक अद्भुत आनन्दके फलको भोगता है जिसका आजतक कभी अनुभव नहीं किया था। इस निज अनुभूतिका इतना ही फल नहीं है किन्तु इससे एक यह और फल होता है कि कर्मोंके संयोग छूटते हैं। उनमें निर्वलता होजाती है जैसे मंत्रके प्रभावसे सर्प व विच्छूका जहर उतर जाता है। यह अनुभूति वास्तवमें वह आत्मा ही है जिसका स्वभाव वचनसे अगोचर और मनकी कल्पनासे वाहर है। मनके विक्षेप रहित होनेपर आत्मतत्त्व स्वयं झलक उठता है। जिसका मन, वचन, कायमें आत्मापन नहीं रहा है जो आपको ही चैतन्यदेव जानता है और आपकी ही आप स्वयमेव उपासना करता है

वह व्यक्ति किसी अनिर्वनीय स्थानमें पहुंच जाता है जहां किसी प्रमाण, नय, निक्षेप आदिकी कल्पना नहीं रहती है, जहां न निश्चय नय है न व्यवहार नय है। जहा एक अनुभवीको चैतन्य, चैतन्य-रूप ही एकाकार अनुभवमें आता है। इसी अनुभवको आनन्दका समुद्र कहते हैं जिसमें मग्न होता हुआ यह अनुभवी ऐसी निर्वि-कल्प दशाको पाता है कि जिसका वर्णन होना बुद्धिके बाहर है।

९४-शांततामें वीरता।

यह जगत एक भ्रमजाल है और आपत्तिका स्थान है उसके लिये जो अज्ञान अन्धकारमें पड़ा हुआ आकुलताके महासंकट भोग रहा है, पर जो सम्यग्ज्ञानकी दीप्तिसे चमक रहा है उसके लिये एक महा अनुपम क्रीड़ावन है। ज्ञानी आत्माके हृदय-मंदिरमें जहां शांतता है वहा वीरता भी वास करती है। इन दोनोंका सहचर-पना है, विरोध नहीं है। क्योंकि ये दोनो ही उस आत्माके स्व-भाव हैं जो कि नित्य टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा स्वभावधारी आनंदमय और अविनाशी है। शांतता उस अतीन्द्रिय अमृतमय सुखको अपने भीतर धारण करती है जो कि जगतके क्षणिक इंद्रिय जनित सुखोंसे विलक्षण है। वही वीरता भी इसी कारण रहती है कि शांतताकी सहायतासे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभाव भावोंकी दाल नहीं गल सकी, वे टक्कर मार मार कर थक जाते हैं पर आत्मा-प्रभुके स्वभावमें कोई विकार नहीं कर सकते। वास्तवमें विचारा जाय तो शांतता ही एक ढाल है जिसमें वीरताकी कड़ाई रहा करती है। मोह शत्रुके प्रेरे हुए असंख्यात लोकप्रमाण विभाव भावरूपी योद्धा आत्माके पतनके लिये आते हैं। पर इस अनुपम ढालके

सामनेसे मुँह फिरा कर चले जाते हैं । कर्म शत्रुओंका संवर और उनकी निर्जरा तो होती है पर वे अपना अड्डा नहीं जमा सकते । इस तरह शांतता और वीरताका स्वामी भगवान आत्मा अपने पदमें कल्लोल करता रहता है । वस्तु गुण पर्याय स्वरूप है । भगवान आत्मा भी अनन्त गुणोंका स्वामी है और अपने गुणोंमें नित्य परिणमन करता है । यह अपनी स्वभाव परिणतिका ही कर्ता और उसीका ही भोक्ता है । यह परद्रव्य, परगुण, पर पर्यायका न कभी कर्ता व भोक्ता हुआ है, न है, न कभी होगा । धन्य है इसकी महिमा जिसका पता एक सम्यग्ज्ञानी ही पा सक्ता है ।

९५-स्वदेश स्थितिमें स्वतंत्रता।

परम आनंदका सागर आत्मप्रभु सर्व विकल्पोंसे रहित होकर और अपना स्वदेश छोड़ परदेशमें आवागमन त्यागकर स्वदेशमें स्थिति रखता हुआ जिस स्वतंत्रताका उपभोग कर रहा है उसका वर्णन होना दुर्निवार है । अपना साम्राज्य अपने असंख्यात प्रदेशोंमें दृढ़ रखता हुआ अपने अनन्त गुण रूपी प्रजाके ऊपर ऐसे समान वर्तावसे राज्य कर रहा है कि उसने उन सर्व ही गुणोंको अपने हरएक प्रदेशपर सत्ता दे दी है । वे सर्व गुण एक दूसरेसे भिन्न लक्षण रखते हुए भी विना किसी विरोधके हरएक प्रदेशमें एक साथ रह रहे हैं । तौ भी यह उनका स्वामी होकर उन सबको अपने स्वदेशसे जाने नहीं देता है और परस्पर उनके साथ प्रेमभाव रखता हुआ सुख और शांतिसे राज्य कर रहा है । यह आत्मद्रव्य स्वतंत्रतासे अपने स्वभावकी महिमामें कल्लोल कर रहा है । वैसे ही इसके सर्व गुण भी स्वतंत्रतासे रमण कर रहे हैं । वास्तवमें ऐसे एकमेक

होरहे हैं कि एक आत्मप्रभु ही अपने अखण्ड प्रतापको लिये हुए झलक रहा है। जो कोई ज्ञानी इस तरह आपको अनुभव करता है वह सहज हीमें स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा ज्ञान रसको पीता हुआ परम सुखी रहता है।

९६–परमसाधु।

ज्ञानानंद विलासी अविनाशी आत्मा स्व स्वरूपके सम्यक् प्रकाशमें प्रकाशित होता हुआ जिस तरहकी रत्नत्रय निधिके स्वामित्वको वर्त रहा है उस तरहकी प्रभुताके होनेसे ही उसको परमसाधु कहते हैं। जो परमसाधु सो ही मै। जो ही मैं सो ही परमसाधु। दोनोंकी जाति एक, स्वभाव एक, गुण एक हैं। इस परमसाधुकी सेवा, वन्दना, स्तुति स्वात्मानुभव है और परमसाधु द्वारा प्रदानकी हुई आशिष परमामृत रसका आस्वाद है। जो कोई भव्य जीव इस परमसाधुकी शरण ग्रहण करता है वह सर्व आकुलताओंसे छूटकर और पुण्य व पापकर्मकी शरणको त्यागकर एक परम ज्ञानकी शरणका आश्रय करता है। यही आश्रय निष्कर्म भावरूप है अतएव निष्कर्म अवस्थाका कारण है। परभसाधुकी संगति परम शांत और सुखमय है। धन्य हैं वे प्राणी जो इस संगतिका लाभ उठाते हैं और अपने जन्मको सफल करते हैं। परमसाधुकी संगति ही निश्चयधर्मका मनन है।

९७–निर्भयता।

सम्यग्दृष्टी आत्मा अपनेको अकाट्य, अजर-अमर, अविनाशी, ज्ञानस्वरूप अनुभव करता हुआ एक अपूर्व निर्भयता रखता है जिससे इसको इस लोक, परलोक, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति, मरण तथा आ-

कस्मिक भय नहीं सताते क्योंकि इस आत्माका स्वभाव ही इसका लोक तथा वही परलोक है। स्वस्वरूपका वेदन ही वेदना है। आप सदा रक्षारूप है, अपने स्वरूपरूपी किलेमें सदा स्थित है, मरण व व अकस्मात्का होना ज्ञान स्वभावमई आत्मामें हो नहीं सक्ता। अनंतानन्त कर्म वर्गणाएं इसके ऊपर आओ, बैठो, उदय हो, रंग दिखला चली जाओ तौभी उनसे इस आत्म-देवका बाल बांका हो नहीं सक्ता। यह सदा ही निजानन्दमई भूमिकामें तिष्ठनेवाला तथा निज अनुभवसे उत्पन्न परम अमृत रसका पान करनेवाला है। अपने क्षेत्रमें स्थित निज विभुतिके सिवाय परद्रव्यके क्षेत्रमें स्थित किसी भी भाव, गुण, द्रव्यसे इसका उपकार व अपकार नहीं होता। इसकी तृप्ति आप अपने ही रसपानसे है। पर वस्तु इसकी तृप्तिमें कुछ भी काम नहीं कर सक्ती। अद्भुत परम स्वाधीनताको रखता हुआ आत्मदेव बिलकुल बेपरवाह है मानो अपने स्वभावकी महिमामें उन्मत्त होरहा है। तीन लोकके पदार्थ इसका कुछ विगाड़ नहीं कर सक्ते इसीसे यह परम निर्भय है। मैं इस निर्भयताकी भावना करता हुआ परम सन्तोषी व शांतताभोगी होरहा हूं।

९८--परम भाव।

एक ज्ञानी आत्मा परम स्वरूपमें थिरताको पाता हुआ जिस परम भावके अपूर्व आनन्दमय आराममें क्रीडा कर रहा है वह अनेक सुन्दर गुणरूपी वृक्षोंसे सुशोभित है। यद्यपि अनेक वृक्ष हैं पर वे सब उस वनके समान क्षेत्रको घेरनेवाले हैं इसलिये वे सब जगहव्यापक हैं और सब २ हीमें उन्मग्न हैं। इसीसे वह वन किसीके द्वारा खंडित नहीं किया जा सकता, मर्दन नहीं किया जा

सकता, नष्ट नहीं किया जासकता, किसी भी तरह कम या अधिक नहीं किया जासकता, जो कुछ जिस रूपमें यह बन अपनी सत्ताको अब रख रहा है वह सत्ता पहले भी थी और आगामी भी रहेगी। इसीसे इस आतमवनको अखण्ड, नित्य, अभेद्य और टकोत्कीर्ण कहते हैं। एक आश्चर्य और भी है कि इस वनमें इस वनके समान सम्पदाको रखनेवाला एक ज्ञानी पक्षी कभी अभेदरूपसे पूर्ण वनका कभी उसमें व्यापक प्रत्येक वृक्षका स्वाद लेता हुआ जिस आनंदमें उन्मत्त होरहा है वह एक अपूर्व है और वर्णनसे बाहर है। इस स्वाद संवेदनमें कोई प्रकारकी भी हिंसा उस खाद्य बन या वृक्षकी नहीं होरही है प्रत्युत स्वादक और स्वाद्य दोनों ही अपने२ स्वरूपमें अन्तर्मग्न हैं इससे वह बन मानो आप ही अपनी सम्पदाको भोगता हुआ आप ही अत्यन्त प्रफुल्लित है। वैसे ही वह पक्षी भी स्वतंत्र रूपसे अपने धनको आप अनुभव करता हुआ परम आनंदित है। स्वतंत्रताका उपभोग होना यही निश्चयधर्मका मनन है।

९९--सच्चा गुरु।

अनादि संसारके आतापसे क्लेशित प्राणी यकायक अपनी अन्तर्दृष्टि खोल जब अपने असल स्वरूपको देखता है तो वहां जिस आत्माका दर्शन पाता है वही उसके सारे कष्ट मेटनेको सच्चा गुरु है। जिनका अनादिकालसे कभी सम्बंध हुआ नहीं, न अभी है, न भविष्यमें होसक्ता है ऐसे अपनेसे भिन्न किसी प्राणीको व उसके मन, वचन, कायके परिणमनको अपना गुरु मानना कि यह हमारे अज्ञानको मेट देगा-हमें सुखासन पर बिठा देगा-हमें मोक्ष कर देगा-सरासर अज्ञान है, बहिरात्मपना है या व्यवहार नयका

वक्तव्य है। तीनकाल व तीनलोकमें अपनी परिणतिका खामी प्रत्येक आत्मा स्वयं था, है और रहेगा। इसीसे यह आत्मा स्वयं शिष्य या स्वयं गुरु है। शुद्ध निश्चय नयसे विचार किया जाय तो यह गुरु शिष्यका व्यवहार निज पदार्थमें नहीं है। निज आत्मा तो टंकोत्कीर्ण परम शुद्ध स्वभावका धारी अभेद अपूर्व आनन्दमय एक अद्भुत पदार्थ है। सो ही मैं हूं ऐसी अनुभूति सो ही निश्चय धर्मका मनन है। ऐसी अनुभूतिकी दृढ़तामें जब आप आप ही तन्मय होजाता है तब जो कुछ अनुभवमें आता है वही वह आत्मा है या मैं हूं। उसका स्वरूप वचन अगोचर होनेपर भी अनुभव गोचर है। जो स्वस्वरूप अनुभवी हैं वे ही अपने आपके सच्चे गुरु हैं कुछ,

१००--तीव्र प्रेम।

आज एक ज्ञानी आत्मा सर्व कर्म फन्दोंसे भिन्न रह कर जिस स्वरूपके आनन्दमें तन्मय होता है वह स्वरूप वचन अगोचर, सुखमई, निराबाध, निष्कलंक, नित्य, गंभीर, अनंतधर्मात्मक, चैतन्य लक्षणसे लक्षित, परम उदार, शांत और परम उपादेय है। वह एक अनुपम सूर्य है जिसकी कला प्रताप और प्रकाशके समान ज्ञान और वैराग्यसे परिपूर्ण है। यह सूर्य स्वपर प्रकाशक कहाने पर भी किसीको प्रकाशूं इस अपेक्षासे रहित है। उसका सहज स्वभाविक, अमिट प्रकाश है। प्रकाशने योग्य जो कुछ हो वह भले ही उसकी छविमें झलको, वह किसी अग्निके दिखानेसे जलता नहीं, किसी मोतियोंकि हारके दिखनेसे हंसता नहीं। सुन्दर प्रतापशाली राजाके दर्शनसे संतोषित होता नहीं, असुंदर दरिद्रीके दिखावसे ग्लानित होता नहीं। परम वीतराग होनेपर भी वह ेपा स्वरूपवान है

तमें कोई उस समान रूप धारी है नहीं। उसके रूपकी यह महिमा है जो एक भेद विज्ञानी कदाचित् एक दृष्टि भरके उसकी झलक भी पा जाय तो सदाके लिये उस स्वरूपका आशक्त होजावे, ऐसा तीव्र प्रेम बढ़ावे कि उस विना चैन न पावे। भले ही इस तत्त्व ज्ञानीका मन कहींपर भी जावे पर तीव्र प्रेमका बन्धन ऐसा गाढ़ होजाता है कि उसका मन अवसर पा उधर आता ही है और पुनः पुनः आते आते अपने नाशका उपाय करता है तो भी आता ही है और उस स्वरूपमें बंधे हुए तीव्र प्रेमसे पैदा होनेवाले अमृतमई आनन्दका स्वाद लेता हुआ परम तृप्त होजाता है।

१०१--परम धर्म।

ज्ञाता दृष्टा आत्मा परम धर्म जो अपना शुद्ध ज्ञान चेतनामय अतींद्रिय आनन्दका अनुभव है उससे तन्मयी होता हुआ संसारके विकार और प्रपचजालोंसे उतना ही दूर है जितना पृथ्वीसे मेघाच्छन्न आकाश दूर है। राग, द्वेष, मोह आदि विभाव जहां रञ्च मात्र भी अवकाश नहीं पाते। किसी आत्माकी ज्ञानकी स्वच्छतामें भले ही उनका झलकाव हो और मूर्ख उस झलकावके होनेपर उन राग, द्वेष, मोहोंको आत्माका धर्म समझ ले परन्तु ज्ञानी उनको ज्ञेय मात्र जानता है। उनको मोह कर्मका अनुभाग या रस पहचानता है जैसा कि वास्तवमें है। आत्माका सर्वस्व वही है जिसके साथ उसका व्याप्य व्यापक सम्बंध है। अनन्तगुण तथा स्वभाव जो सदासे आत्मामे व्यापक हैं और सदा ही व्यापते रहेंगे उन्हींके अखंड पिंडको आत्मा कहते हैं। इन गुणोंमेंसे कोई भी गुण आत्मासे पृथक् नहीं किया जासक्ता। गुणी धर्मी है उसमें व्यापक अनन्तगुण व

स्वभाव उस धर्मीके धर्म हैं। आत्मा वस्तु अपने गुणोंसे अभेद है। इसीसे उसको नित्य टंकोत्कीर्ण, वचनातीत और अनुभवगम्य कहते हैं। जगतके अतृप्तिकारी रसोंके स्वादसे विलक्षण जो अपूर्व अतींद्रिय अमृत रस है उस रसके रसिक आप आपमें ठहर अन्तर्मुख हो जब स्वानुभूतिकी दृष्टिसे देखते व स्वानुभूतिके मुखसे स्वाद लेते तब निज वस्तुको पाकर जैसा कुछ सुखसंवेदन करते हैं वह वचनातीत तथा निराला है-वही उसका परम धर्म है।

१०२—समता मंदिर.

परम सुखका सागर, सर्व गुणसम्पन्न, सकल लोकस्वरूप, ज्ञाता, समदम शमका स्वामी, सज्जनमन आनन्ददायी, सन्त हृदय-कमल विकाशी आत्मा एक निकट भव्य अंतरात्माकी अवस्थामें जब वस्तु स्वरूपका विचार करता है तब उसे अजीवोंसे भिन्न जीवोंकी सत्ता जो दीखती है उसमें जो२ अनन्तगुण प्रत्येकमें प्रकाशमान हैं उन सबोंमें ऐसी समानता दीख रही है कि किसी जीवको किसीसे कम या अधिक गुणवाला नहीं कहा जा सकता। समान जातीयताके कारण उस अन्तरात्माको सर्व जीव समुदाय एक समताका मंदिर प्रतीत होरहा है। उस समता मंदिरमें ऐसी शांतिका राज्य है कि वहां कहीं भी राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि विभावोंका पता नहीं चलता। साम्यदृष्टि गर्भित न्यायराज्यमें चोर डाकुओंका चिन्ह न रहे इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इस समता मंदिरमें विराजना उस लौकिक शांतिसे बिलकुल विलक्षण है जो उष्ण ऋतुमें किसीको सावन भादोंकी वृष्टिके नाटके नीचे मालूम होती है। इस मंदिरका दर्शन, द्रष्टाको ऐसे आनन्दके अनुभवमें निमग्न करदेता है कि जिसका वर्णन हो नहीं सक्ता।

१०३-सारमार्ग।

परम प्रतापशाली, आनन्द मंदिर, जगतमें स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे स्वअस्तित्वको प्रकाश करनेवाली एक चैतन्य मूर्ति अपने सर्वस्वको छोड़कर सर्व परपदार्थोंको दूर झटकाती हुई, वीतरागताकी अनुपम छटाको जमाती हुई अपने विचित्र चरित्रोंसे अपनी महिमा प्रगट करती हुई अपने ही आधारपर आप स्थित है। इस अकम्प मूर्तिकी यह अवस्था वास्तवमें वह सारमार्ग है जिसे सुखका उपाय, निर्वाणमार्ग व रत्नत्रय धर्म कहते हैं। इस चैतन्य मूर्तिके सामान्य स्वरूपका अनुभव करते हुए वही उपाय और उपेय प्रतीतिमें आता है या यों कहिये कि वहा उपाय और उपेय भावकी कल्पना ही नहीं दिखती। अध्यात्मस्थानमें चैतन्यका आसन सोही वीतराग सम्यग्दर्शन, स्वसंवेदन ज्ञान तथा वीतराग चारित्र है। यही स्वसमय है, यही वह बन है जहा ऋषभदेवादि महावीर तीर्थंकरोंने बैठकर आत्मध्यान किया था और निज अनुभूति त्रियाके साथ रमणकर अतीन्द्रिय आनन्दका उपभोग किया था, यही बन वह सारमार्ग है जिसपर चलना निश्चयधर्मका मनन है।

१०४-संतसेवा।

परमानन्दका मन्दिर एक आतमा साधु अपने ही स्वक्षेत्ररूपी झोपड़ेमें अपनेमें सर्वांग प्रेमरससे व्यापक चेतना, आनन्द, सम्यक्त्व, चारित्र, आदि गुणरूपी संतोंकी सेवा करता हुआ जिस बृहत् सेवाधर्मका उदाहरण दे रहा है उसका वर्णन किया जाना अत्यन्त दुर्लभ है। संतसेवा शांतिका मूल है क्योंकि जो २ संत होते हैं वे

सब परम सुखी, परम गुणी, परम गंभीर, परम वीर्यवान तथा परमानन्द विस्तारक होते हैं। संतोंका शरीर संत नही होता है परंतु वह आत्मा प्रभु जो शरीरमें कल्लोल करता है संतपदवीका धारक कहा जाता है। संतसेवा आत्मसेवा है, संतसेवा गुणसेवा है, संतसेवा शांतिसेवा है, संतसेवा आनंदसेवा है। संतसेवाके कर्त्ता ज्ञानमार्गके सेवी होते हैं। संतसेवामें उस सुखशांतिका सदा निवास रहता है जो हरएक आत्माकी पूंजी है। वास्तवमें देखो तो सेवक व सेव्य दोनों एक होते हैं। जहां एकताका अनुभव होता है वहीं निश्चयधर्मका मनन है, जहां वह मनन है वहीं इस नरजीवनकी साफल्यता है।

१०५-शांतिधर्म।

परम प्रतापी ज्ञानवान आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित हो जब अपने आपमें एक निज आत्माके स्वरूपका दर्शन करता है तब उसको विदित होता है कि जिस शुद्ध बुद्ध परमात्माका नाम जगत विख्यात है वह सिवाय मेरे अन्य कोई नहीं है। मैं ही परमपूज्य परमानंदी व परम धर्मी हूं। अनंत धर्म या स्वभाव मेरेमें सदाकाल व्यापक हैं। मैं उस चित्शक्तिका सदा विलासी हूं जो सर्व ज्ञेयको एक कालमें जाननेको समर्थ है। मेरी निराली शक्तिकी मेरी महिमा मुझे ही अनुभवगम्य है। मैं अपने असल स्वरूपको जब १४ जीव समास, १४ मार्गणा व १४ गुणस्थानोंमें देखता हूं तो वहां उसे यथार्थ रूपसे स्पष्ट प्रगट नहीं पाता हूं पर वहीं जब निश्चय दृष्टिका चश्मा लगाकर देखता हूं तो हरएक जीवसमास, मार्गणा, या गुणस्थानमें अपने ही यथार्थ रूपको देखता हूं। मेरे स्वरूपमें सर्वांग शांति धर्म छाया हुआ है। इसी ही से मेरा

स्वरूप वीतराग है, मेरी आत्मा आनंदमय है। मेरा भाव शुद्धोप-योग है। मैं अपने शांतिधर्ममें तन्मय होता हुआ उस अनुभव आनंदका विलास करता हूं जो आनंद सिद्धात्माओंके ज्ञानमें सदा स्फुरायमान है।

१०६-आत्मश्रद्धा।

अति दीर्घदृष्टिसे विचार किये जाने पर यह पता चलता है कि एक ज्ञानी आत्मा जब आत्मश्रद्धाके चबूतरे पर खडा होजाता है तब उसे साक्षात् आत्मदर्शन होजाता है। आत्मश्रद्धा गुप्त भंडारको खोलनेके लिये कुंजी है। कर्म-शत्रुओंको भगानेके लिये एक अमोघ मंत्र है। मोह विषके मारनेके लिये एक जडीबूटी है। भेदज्ञानके निर्मल जलको लानेके लिये परम श्रोत है। आत्मश्रद्धा आत्माको अनात्मासे भिन्न दिखाकर अपनी ओर खींच लेती है और उसे स्वज्ञान साम्राज्य सम्हालनेके लिये उद्यत कर देती है। निज साम्राज्यमें लोकालोक सर्व गर्भित होजाते हैं तो भी वे उसकी सत्तासे भिन्न ही रहते है। निज सत्ता कभी भी अपनी अभाव-ताको न पाती हुई जीवित रहती है और जीवको ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई व निर्विकार अनुभव करा देती है। इस अनुभवका कारण आत्मश्रद्धा है। आत्मश्रद्धा परमात्मपना साक्षात् दिखाकर जिस गाढ प्रेमरसमें इस जीवको डुबा देती है उसका वर्णन करना कठिन है। आत्मश्रद्धा चिरकाल जीवित रहे यही साक्षात् अती-न्द्रिय सुख देनेको परम दातारका काम करती है। आत्मश्रद्धा मेरेसे अभिन्न मेरे ही स्वरूपमय है। आप आपको आप सा देखना ही निश्चयधर्मका मनन है।

१०७–चैतन्यसंघ ।

आज चिरकालसे जिस बातका इच्छुक था वह अद्भुत समागम आनकर प्राप्त हुआ है। अचैतन्य अर्थात् निर्जीव दुःखमई पदार्थोंके संगमें अनादिकालसे व्याकुल था। जड़की संगतिमें पड़ा हुआ गफलतकी नींद सो रहा था। अपार संकटोंके दाहसे संतप्त होनेके कारण यह गाढ़ अभिलाषा थी कि कोई उत्तम संग प्राप्त हो जिससे हर समय शांतिका राज्य रहा करे, धन्य है वह आजका समय जो मुझे एक अनुपम चैतन्य संघका समागम प्राप्त होगया है। जितने जीव इस लोकमें हैं उन सबकी चैतन्य भूमिकामें परम निर्मलता, निष्कपटता, तथा निराकुलितपना है वे सब ही यदि शुद्ध दृष्टिसे देखे जाय तो शुद्ध चैतन्य है इसीसे उन सबका संघ एक चैतन्य संघ है। उन्हींकी संगतिमें आज मैं एक ऐसे शांत समुद्रमें निमग्न होगया हूं कि मेरा सर्व भव आताप उपशम होगया है। एक निराली ज्ञान छटा छा रही है। मानो मुझे सिवाय मेरे कोई दिखलाई नहीं दे रहा है। चैतन्य संघके संगमसे हरएक व्यक्ति आनन्द अनुभव करे यही आशीर्वाद उन महान आत्माओसे प्रगट होता है जो चैतन्य संघके साथ रह निरंतर शांति और सुखका अनुभव करते हैं। यह जगत चैतन्यसंघसे व्याप्त है। ज्ञान दृष्टिवाले इस संघका दर्शन उपलब्ध कर परम तृप्त होते हैं। अज्ञानीको स्वप्नमें भी दर्शन नहीं होता।

१०८–परम विजय।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित होजाता है तब एक अचिंत्य शक्तिरूपी बन्दूकका चलानेवाला होकर सर्व कर्म

शत्रुओंको हटा देता है और उनके स्वामी मोहका पीछा करके उसे ऐसा भगा देता है कि वह कहीं गुप्त रीतिसे छिप जाता है तब वह अपनी विजयपताका आत्मभूमिमें गाड़कर परम तृप्त और सुखी होजाता है। यह आत्माकी परम विजय है। इस विजयके आनंदका अनुभव ही वह सच्चा सुख है जो हरएकके पास है पर अनुभव विना स्वादमें नही आरहा है। इस विजयके हर्षमें प्रफुल्लित आत्मा जब चारों तरफ देखता है तब सिवाय आप रूपके और किसीका दर्शन नहीं पाता है। जैसे धतूरेका खानेवाला उन्मत्त होकर चारों तरफ हरा पीला रंग ही देखता है इसी तरह आत्मानुभवी आत्मज्ञानके शांत रसमें उन्मत्त हुआ आत्माके सिवाय और किसीको नहीं देखता है। यही अवस्था परम विजयकी दशा है। जो इस दशाके आशक्त है वे इस जगतमें परम सुखी हैं।

१०९--गुणग्राम।

परम सुखदायी ज्ञाता दृष्टा आत्मा जब अपने भीतर देखता है तो वहां अनंतगुणोंका ऐसा पिंड दिखलाई पड़ता है जो गुण सब एक दूसरेमें व्यापक है। इस कारण इस आत्माको गुणग्राम कह सक्ते हैं। यह गुणग्राम आत्म प्रभु अपनी अपूर्व शक्तियोंसे अपने आपमें कल्लोल व परिणमन करता हुआ जिस महिमाको प्रगट कर रहा है उसका वर्णन किसी तरह हो नहीं सक्ता। इसका कारण यह है कि जो अनुभव करनेवाला है उसके कहनेको जबान नहीं है और जो कहनेका विकल्प करता है व कहता है वह अनुभव करनेवाला नहीं है। इसीसे आत्मकथाको शब्दोंसे कहना केवल अपनी एक उन्मत्त चेष्टा है। परन्तु मित्रोंको संकेत रूपसे

कहनेकी आदतमें उन्मत्त पुरुष कुछ कहते ही हैं। मैं एक हूं, निर्मल हूं, शुद्ध हूं, ज्ञान दर्शनमई हूं, शरीर प्रमाण व्यापक आपमें आप हूं, क्रोधादि विकारोसे रहित हूं इत्यादि विकल्प उठाकर जो कोई अपने उपयोगको इंद्रिय और मनके विषयोंसे अलगकर स्वरूपमें गुप्त या मौन होजाता है वही निश्चय धर्मका मनन करता है।

११०–गुणीकी महिमा।

इस जगतमें उसीकी महिमा है जो कि गुणी है। गुणी वही है जिसके सर्वांगमें उसके स्वाभाविक गुण व्यापक हैं जिनके कारण वह गुणी द्रव्य बहुत ही असली शोभाको नित्य विस्तारता है। आत्मा भी एक गुणी द्रव्य है जिसके सर्वांगमें अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्त्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्त्व, अगुरुलघुत्त्व जो साधारण गुण हैं तथा चेतना, सुख, सम्यक्त, चारित्र, वीर्य, अमूर्त्तत्व आदि जो विशेष गुण हैं पूर्णतया व्यापक हैं। इन गुणोंमें स्वभावसे ही स्वप्रकाश झलक रहा है जिससे चेतना गुण सर्व ज्ञेय पदार्थोंको देखता जानता है, सुख अतीन्द्रिय निराकुल आनन्द दे रहा है, सम्यक्त्व स्वस्वरूपमें गाढ़ रुचिकर कर रहा है, चारित्र परम शांति अथवा वीतरागताकी महिमामें स्थिर कर रहा है, वीर्य आत्मबलकी अद्भुतता और अनंतताका प्रकाशक है। अमूर्तत्व आत्मा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि २० पुद्गलके गुणोंसे रहित बतलाता है, अस्तित्व आत्माके अखण्ड सत् रूपको, वस्तुत्व आत्माको सामान्य विशेष गुणोंका समुदाय व उसके कार्यकारी वस्तुपनेको, प्रदेशत्व आत्माको साकार अर्थात आकाशके कुछ स्थानको घेरनेवाला-

निश्चयसे [illegible] प्रदेशी लो। । [illegible] पर

स्वशरीरके आकार प्रमाण रखनेको, द्रव्यत्व आत्माको अखंड गुणोका समुदाय होते भी नित्य परिणमनशील है इस भावको, प्रमेयत्व आत्मा किसी न किसीके द्वारा जानने योग्य है इस भावको तथा अगुरुलघुत्त्व आत्माकी ऐसी मर्यादा रखता है कि उसके सब गुण परिणमन करते २ भी कभी उसमेंसे न छूट जांयगे और न नया गुण आके मिल जायगा इस भावको बतलाता है। इस तरह और भी गुण इस आत्मा पदार्थमें हैं। जितने कथनसे हम आत्माको पहचान लें उनके लिये इतने ही गुणोंका जानना जरूरी है। मेरा गुणी आत्मा अपने गुणोंमें व्यापक एक अखंड शुद्ध चैतन्यमई पदार्थ है। इसीको परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर, केवली, सिद्ध, योगीश्वर, अविनाशी, परमेष्टी, परज्योति तथा जिन कहते हैं। इस आत्मागुणीकी महिमा अपार है। जो आपको आत्मा जान उसीकी गाढ़ रुचि व ज्ञानचारित्रमें तल्लीन रहकर उसका आनन्द लेता है वही परम सुखी होता हुआ भविष्यके लिये अनंत सुखी होजाता है।

१११—परम ऋषि।

परम प्रतापी आत्मा अपने परम त्याग धर्मको पूर्ण स्वाभाविक वैराग्यके साथ धारण किये हुए अपने ही शुद्ध आत्म प्रदेशोंकी परम गुप्तिमई एकान्त बनीमें बैठकर तथा अपने ही द्वारा अपने शुद्ध चैतन्यभावका अनुभव कर जिस अपूर्व सुख और शांतिकी मुद्रामें विराजमान होरहा है वह मुद्रा इसके लिये परम ऋषिकी उपमाको चरितार्थ कररही है। मैं परम ऋषि हूं ऐसी भावना अपने आप होना ऐसी कि जिसमें कोई संकल्प विकल्प न हो स्वानुभव

है अथवा स्वानुभवका कारण है। यद्यपि मैं ऋषि हूं पर जो कुछ इस जगतमें सुख शांति व अनंत शुद्ध गुणोंका भंडार है सो सब मेरे पास है इससे मैं परम धनिक भी हूं। तथा मैं विना किसी संकोच, भय, पराधीनता, अंतराय या अन्तरके अपनी ही अनुभूतिका आनन्दमई रसका सदा भोग किया करता हूं। इससे मैं महाभोगी भी हूं। मैं परम ऋषि हूं, परम धनिक हूं या महाभोगी हूं व और मैं क्या हूं, मैं इन विकल्पोंसे भी रहित वचनातीत जो कुछ हूं सो हूं—इसीसे मैं केवल स्वानुभव गम्य हूं।

११२—परमानन्द ।

जगत्में यदि कोई सार वस्तु है तो एक मैं हूं। मेरे सिवाय अन्य समस्त पर हैं। मैं जब मेरी ही भूमिकामें, मेरे ही द्वारा, अपने ही असंख्यात प्रदेशी आसन पर बैठकर अपनी अंतरंग पांचों इंद्रियोंसे अपने आत्माका इसतरह उपभोग करता हूं कि अपनी चित्त रूपिणी स्पर्शन शक्तिसे आत्माकी शुद्ध चैतन्य भूमिकाके अति कोमल और सूक्ष्म स्पर्शको स्पर्शताहूं, अपनी स्वानुभूति रसकी रसिका भेदज्ञानमई जिह्वासे अपने आत्मामें कूट कूट कर भरे हुए अतीन्द्रिय सुखमई अमृतका स्वाद लेता हूं। अपनी चैतन्य वासनाकी ग्राहक चित् परिणति रूप नासिकासे जगत्के गंधोंसे अतीत अनुपम निर्गंध आत्म वस्तुकी अमिट वासको सूंघता हूं, अपने अपूर्व बोध नेत्रसे आत्मा और उसके भीतर व्यापक अनंत गुणोंको कभी एक साथ कभी पृथक२ देखता हूं, तथा अपने निर्मल भाव श्रुतज्ञानरूपी कर्णोंसे द्वादशांगका सार जो आत्मात्मिक रसीला गान है उसको सुनता हूं तब मुझे एक साथ पांचों

इंद्रियोंका उपयोग करनेसे जो परमानन्द होता है उसका वर्णन नहीं हो सकता। चतुर प्राणी पुद्गलमई पांचों इंद्रियोंके विषय भोगोंसे मुंह मोड़ आध्यात्मिक इंद्रिय रस भोगमें आसक्त होकर परम तृप्तिका लाभ करता है।

११३-वीरत्व।

परम निरंजन ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व चिंताओंको छोड-जगतके प्रपच जालोंसे मुंह मोड़-मोह शत्रुके विध्वंशके लिये अपनी शक्तिको सम्हालकर उद्यत होगया है। इसका यह वीरत्व इसे सर्व कर्म शत्रुओंसे अस्पृश्य और अबंध रखता है। कोई भी भावकर्म व नोकर्म इसकी सत्तामें प्रवेश नहीं कर सकता। वास्तवमें जो कोई वीर अपनी सर्व शक्तियोंको सम्हाल कर उनके उपयोगके लिये कटिबद्ध होजाता है वह अपने देशमें शूरमापन और साहस ऐसा रखता है कि कोई भी उसके परम पारणामिक भावके विरोधी भाव व कर्म आदि उसके देशमें घुसनेका साहस नहीं कर सक्के। इस वीरत्वकी सम्हालमे जो अतीन्द्रिय आनन्द होता है उसका वर्णन कोई कर नही सक्ता। प्रत्येक संतका धर्म है कि आप अपनेमें यथार्थ वीरत्वको रखता हुआ शंका, कांक्षा, मूढता, अप्रेम, अनुपगूहन, शिथिलता, घृणा तथा अप्रभावना ऐसे आठ दोषपात्र शत्रुओंसे बचता रहे तथा सदा ही निःशंक, निर्भय तथा अपनी अनंत शक्तियोंका स्वाभिमानी रहे। जो वीर जिस गाढ़ स्वस्वरूपका विलासी होता है वही स्वस्वरूपका कारणरूप और वही कार्यरूप होजाता है। वही वीर कारण कार्यके द्वैतसे रहित होकर स्वरूपाशक्त और स्वाधीन होजाता है यही निश्चयधर्मका मनन है।

११४--परम वीरता।

परमानंद पदधारी सुखसंपन्न परम गम्भीर आत्मा वीर अपने सर्व औपाधिक भावोंको अपनेसे भिन्न अनुभव कर उस मोहकर्मके सामने डटकर खड़ा होगया है जो अपनी परिणतियोंके द्वारा आत्माको रागी, द्वेषी, मोहीके नामसे कहलाता था। यह अपनी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई परम पवित्र भूमिकामें अपने आसनको जमाकर और संवर ढाल व स्वानुभूति रमणकी असिको ग्रहण कर परम वीरताके भावमें रंजित होगया है। इस समय इस वीरको अपनी शक्तिका पूर्ण अहंकार है। यह अपनेको शुद्ध बुद्ध निरंजन निर्विकार आनंदमई अनंत गुणोंका स्वामी अनुभव कर रहा है। परमात्मामें और इस भावनामें परिणत आत्मामें कोई अंतर नहीं है, जैसे किसी वीर योद्धा-पर चारों तरफसे शत्रुसेना आ टूटे पर उसकी भुजा व अस्त्र बलके सामने उस वीर योद्धाका कुछ भी बिगाड़ न कर सके ऐसे इस सम्यग्दृष्टि आत्माके ऊपर चारों तरफसे कर्म रज आती है पर वीरात्माकी वैराग्यमई निर्लेप अवस्थामें स्थान नही पाती है। यह वीर परम निर्भय रहता हुआ जिस अमृत रसका पान कर रहा है उसका वर्णन होना कठिन है।

११५--प्रमोदभाव।

जगतमें जब कोई भव्य आत्माके सत्य स्वरूप पर दृष्टिपात करता है और उसके महान गुणोंका विचार करता है तो उसका हृदय आनंदसागरमें निमग्न होजाता है, प्रमोदभाव उसके चित्त-पर जम जाता है। मैं आनंद रूप हुआ यह विकल्प जब होता है व जो करता है सो समय और कर्त्ता दोनों ही उस चैतन्य

प्रभुसे भिन्न है, जो सर्व विकल्प भावोंसे परे रहकर आपमें आपी कल्लोल करता हुआ रहता है और अनुभव दशामें परम शांतिका उपभोग करता है। आत्मा ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी, असंख्यातप्रदेशी, सुखसागर, अविकारी, रत्नत्रय स्वरूप, स्वाधीन और अनुभवगम्य है यह विकल्प जो करता है इससे भी परे रहकर जो आप आपी आनन्द मूर्ति होकर आप आपी अनन्त गुणात्मक होकर तथा आप आपीको देख प्रमोद भावसे युक्त होकर स्वतंत्रतासे रहता है वही आत्मा तथा मै हू। मैं हूं व नही व ऐसा हूं व ऐसा नहीं हूं। इत्यादि विकल्पोंसे भी जो जुदा है ऐसी परम नैष्कर्मण्य अवस्थामें तल्लीन जो आत्म प्रभु वार२ स्व अनुभव करता है वही प्रमोद भावका लाभ करके आनन्दमई रहता है।

११६--एकान्तता।

सर्व दुःखोंसे अतीत निज स्वभावका धारी आत्मा अपने परमज्ञान और परमसुखमें कल्लोल करता हुआ सर्व परद्रव्य परभाव व परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे दूरवर्ती होकर अपनी असंख्यात प्रदेशरूप भूमिकाका आश्रय करता हुआ ऐसे परम एकांतका सेवन कर रहा है कि जहांपर सिवाय आपके और कोई नहीं है तथा वह स्थान ऐसा दुर्गम है कि वहां अन्य कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसी एकांतता जिसके पास वर्त रही हो वह सदा निरपराधी रहता है, वह सदा स्वभाव मग्न रहता है, उसकी शोभा अकथनीय व अल्पज्ञानियों द्वारा अशोचनीय होती है। इसकी एकांततामें यद्यपि उसके साथ व्यापक रूपसे रहनेवाले अनंतगुण हैं तथापि उनकी संगति इस आत्मप्रभुके स्वभाव भोगमें कोई बाधक

नहीं है । जहां ऐसी एकांतता है वहीं निर्विकल्प समाधि है तथा वही परम शांति वैराग्य व परम आनंद तथा रत्नत्रय भाव है ।

११७--दृढ़ता।

हार्दिक विचारके भीतर प्रवेश करके जो कोई निज शक्तिका अनुभव करता है उसको विदित होता है कि मैं एक ऐसी दृढ़ताको रखता हूं जिसका पता सिवाय आपके दूसरेको नहीं लगता । इस स्वरूप दृढ़तामें रागद्वेषादि विकारोंका प्रवेश नहीं है । स्वाभाविक आनन्दको धारण करती हुई यह निज शक्ति परम वीतरागमय तथा परम सुखदाई है । भूत, भविष्य, वर्तमानके कर्म नोकर्म कितना ही यत्न करें पर इसकी स्वरूप सत्तामें प्रवेश नहीं कर सकते । यह शक्ति अपनी अद्भुत छटाको विस्तारती हुई तीन लोकके विजय-पनेको धारण कर रही है । ऐसी आत्मशक्तिका भोक्ता मैं निरंतर अपनेको शुद्ध चैतन्यमई निर्विकार अनुभव करता हूं और जगतमें रहते हुए भी अपनेको जगतसे भिन्न जानता हूं । मेरी आत्मश-क्तिमें जो दृढ़ता है वह अपूर्व शांत भावको लिये हुए है । इस शांतिमें रहता हुआ मैं जिस क्रीड़ावनमें कल्लोल करता हूं वह आत्मीक गुणोंसे प्रफुल्लित तथा सदा विकाशमय है । कल्लोल करते हुए कर्म व कर्मक्रियाका जहां विकल्प नहीं होता वहीं निश्चय धर्मका मनन है ।

११८--शांतता।

परम पुरुष सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित होता हुआ जब अपनी भूमिको निरखता है, तब वहां हर जगह शांतताका ही वास पाता है । शांतता पुरुषकी सत्तामें सर्व प्रदेशोंमें व्याप्त है ।

शांतताका दृढ़तर वास राग द्वेषादि विकारोंको रंच मात्र भी स्थान नहीं देसक्ता। शांतताकी भूमिकामें ऐसी स्वच्छता है, कि जिसकी निर्मलताईमें ज्ञेयोंके आकार झलकते हैं, तौ भी अपना कोई असर नही डाल सकते। शांतताने अपने साथ उस अतीन्द्रिय आनंदको भी अपनेमें व्याप्त कर पूर्ण मित्रतासे बिठाया है, जिससे परम पुरुषको पूर्ण तृप्ति होरही है, उसके भीतर आकुलता और कलुषताके दर्शन नहीं होते। यद्यपि पर्यायोंके उत्पाद व्ययके कारण समय२ परिणमन होता है, इससे सविकल्पता है, परन्तु एक अनुभवी आत्माके अनुभवमें यथार्थ निर्विकल्पता छारही है, शांतताके स्रोतसे आनंदामृतकी धारा बहती है, उसीमें स्नान कर व उसका ठंढा जल पीकर जिसका मन संतोषी है, वही जगतमें निश्चय धर्मका मनन कर्ता और आत्माके मनोहर उपवनमें क्रीड़ा करनेवाला है।

११९--प्रेम धर्म।

इस जगतमें एक व्यक्ति प्रेम धर्मका उपासक बन उपासक और उपासकके भेदसे रहित होकर ऐसी अवस्थामें पहुच जाता है कि जिस दशामें मन, वचन, कायमेंसे किसीका गुजर नहीं होता। वह एक ऐसी दशा है जहासे न तो कुछ रखना है, और न कुछ निकालना है, जहापर आत्मा आप अपनी सत्ताभूमिमें निश्चलतासे खड़ा हुआ अपनी ही परम शक्तिसे अपनी विभूतिका विलास करता है-कर्त्तापने और भोक्तापनेसे रहित होजाता है, भले ही अपने अतीन्द्रिय रसको उत्पन्न करे तथा उसीका भोग करे। वास्तवमें प्रेमधर्मने इस व्यक्तिको अपनी अनत गुण रूपी प्रजाका सच्चा प्रेमी बना दिया है। प्रेमधर्मने इसे जिस आनन्दमें पहुंचा दिया है, उसका

अनुभव उसीको है, अन्यको नहीं । प्रेमधर्म निश्चयकी दृष्टिसे जब देखता है, तब सम्पूर्ण विश्वमें एक समान आत्मा दिखलाई पड़ता है । यों कहिये कि यह विश्व ही एक शांत समुद्र झलकता है, जहांपर कल्लोल करना वास्तवमें निश्चय धर्मका मनन है ।

१२०--स्वसंवित्ति।

परमानन्द धारक सकल द्रव्य शिरोमणि चित् परिणति प्रवर्त्तक आत्मा सर्व संकल्पोंसे रहित होता हुआ स्वसंवित्तिके मनोहर लोकाकाश व्यापी राज्यमें कल्लोल करता है और उस राज्यमें समान सत्ताको भोगनेवाले अनन्त गुणरूपी प्रजाको इस योग्य रीतिसे रखता है कि वे सर्व गुण उसी राज्यमें अपनी स्थिति सर्व जगह धरते हुए भी अविरोध रूपसे रहते हुए स्वतंत्रतासे अपने स्वरूपमें मग्न हैं। इसीसे वहां भले प्रकार समता देवी अपना दौरा करती है । और सुख शांतिरूपी पुष्पोंकी वर्षा वर्षाती है । इस स्वसंवित्तिमें स्थित आत्मा परमोत्कृष्ट गुण जो दर्शन, ज्ञान चारित्र हैं उनके द्वारा ऐसी शोभाको पारहा है कि इस दृश्यमान जगतमें न सूर्य न चन्द्रमा न रत्न न दीपक न चन्दन न अमृत कोई भी पदार्थ समर्थ नहीं है। सत्यताके न्यायसे देखा जाय तो जो कोई इस स्वसंवित्ति नायक प्रभुको समझता है वही निश्चय धर्मका मनन कर्त्ता है ।

१२१--अद्भुत रस।

परम शुद्ध निरंजन ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व सांसारिक रसोंसे अतीत अतींद्रिय आत्मामें उत्पन्न परमानंद रसका स्वाद लेरहा है। यह वह रस है जिसकी उपमा जगतमें नहीं है । यह रस

यद्यपि सम्यग्दृष्टियोंके लिये कोई आश्चर्यकारी नहीं है परन्तु सम्यक्तको यकायक पानेवालोंको आश्चर्य उपजाता है—उनको यह एक अद्भुत रस ही मालूम देता है। रत्न और कांचको एकसा देखनेवाला जब रत्नकी परीक्षा जान जाता है तब उसे रत्नके गुणोंको विचारते हुए कुछ आश्चर्य होता ही है पर पुनः पुनः अभ्यास करनेवालेको कोई अदभुतता नहीं झलकती। यह अदभुत रस मेरी सत्तामें कूट कूट कर भरा है। जब उपयोग उसके स्वाद लेनेको सन्मुख होता है उसी समय आत्माको अनुभव होजाता है। मै सर्व रसोसे निराले इस अद्भुत रसको अपनी ही ज्ञानानंदमई भूमिकामें बैठकर तथा अपने यथार्थ स्वरूपका मनन कर स्वाद लेता हूं और परम तृप्तता लाभ करता हूं।

१२२–महासत्ताका दर्शन।

एक विवेकी मन जब इस दृश्य या अदृश्य जगतमें चेतनात्मक सर्व द्रव्योंकी ओर दृष्टि डालता है और उनके निश्चय स्वरूप पर ध्यान देता है तो उसको अनुपम महासत्ताओंका दर्शन होता है। जब उनको अलग २ देखता है तब उसको यह मालूम होता है कि अस्तित्व गुणकी जैसे एक महासत्ता है तैसे चेतनत्व, वीर्यत्व, सुखपना, सम्यक्त तथा चारित्र आदिकी पृथक् २ महासत्ता विराज रही है। इन महासत्ताओंका भेदरूप दर्शन करते करते जब उन सबके धनी आत्माओंका एकाकार समुदायको एक अद्भुत ज्ञान समुद्र सदृश महासत्ता देखता है तब यकायक उसमें डूब जाता है। फिर उसको अपनी भी खबर नहीं रहती। वास्तवमें मनको तब बेहोशी होजाती है, वह अपने संकल्प विकल्प कार्यसे रहित हो

जाता है। इसी अवस्थाको आत्माकी अनुभूति कहते हैं। उसी समय आत्मा शुद्ध नयका विषयभुत द्रव्यरूप यथार्थ अनुभव तथा स्वादमें आता है। इस स्वादकी खबर जिसको है वह उन्मत्तदशामें होता है उसको वही जानता है। वचनोंमें शक्ति नहीं है जो कुछ कह सके।

१२३--संत समागम।

सर्व भेदभावसे रहित अभेद रत्नत्रयका धारी एक ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे शून्य होकर जब कभी अपने प्रदेशोंकी भूमिमें देखता है तो अनन्त संतोंको परम ध्यानमें लीन बड़ी ही शांतिसे अपने ही स्वभावमें परिणमन करते हुए अवलोकन करता है और अत्यन्त हार्दिक प्रेम और भक्तिसे उन संतोंकी वीतराग मुद्राके दर्शनमें और ध्यानमें तल्लीन होजाता है। ये सब संत इसी आत्माके प्रत्येक प्रदेशमें व्यापक शुद्ध गुण हैं जो कभी भी आत्माकी सत्ता भूमिको त्यागकर नहीं जाते। इन सब गुणरूपी संतोंकी समय २ की आवश्यक क्रिया बराबर नियमसे अंतराय और अतीचार रहित चलती है। आतमप्रभु इस अद्भुत अमिट अविनाशी संत समागममें बैठा हुआ जिस अतीन्द्रिय आनन्दका लाभ करता है उसका वर्णन किसी तरह नहीं हो सकता। यह आत्मा उन संतोंके प्रेममें ऐसा तन्मय हो जाता है और वे संत भी इसके प्रेममें ऐसे लीन हो जाते हैं, कि किसी समय ये सब एक आध्यात्मिक एकताके रसमें डूब जाते हैं, उस समय आत्माकी अनुभूति परम शुद्धिमें ठहरी हुई परमैश्वर्यको भोगती है, और निश्चय धर्ममें रत हो जाती है।

१२४-षोडशकारण भावना।

निज आनन्दका भोगी आत्मा अपनी श्रद्धाकी विशुद्धिसे स्वसंवेदन रूप विनयके साथ निज शील और व्रतमें निर्दोषता रखता हुआ, निरन्तर ज्ञान स्वभावमें लवलीन होता हुआ, पर पराधीनतासे रहित स्वाधीनता स्वरूप संवेग पर चढ़ा हुआ, आत्म-ध्यानमई तथा कर्मशोषक तप और पर पदार्थ ममत्त्व रहित त्यागसे अलंकृत हो स्वशोभा विस्तारता हुआ, अपने ही उपवनमें विराजित परम साधु स्वरूप आत्मारामकी समतामें सहाई होता हुआ निज क्षेत्र मदिरमें शोभायमान आत्मप्रभुकी और सम्पूर्ण आत्मक्षेत्रमें विराजित आत्माओंकी एक निश्चय तत्त्व विचारमई अनुभवके द्वारा वैय्यावृत्य करता हुआ, परमात्म स्वरूप अरहत, आचार्य, उपाध्याय और भावश्रुतकी अतरग गुण महिमामें तल्लीनतारूप निश्चयभक्तिको विस्तारता हुआ, अपने परम स्वाधीन स्वभावको कभी न त्यागकर आवश्यकापरिहाणमें वर्तता हुआ, आत्मानुभव रूप मार्गको प्रकाश करके प्रभावनाको बढाता हुआ, तथा शुद्ध निश्चयसे सर्व जगतवासी परमात्मस्वरूप आत्माओंसे परमप्रीति रूप वात्सल्यभाव झलकाता हुआ जैसी सोलहकारण भावनाओंकी निश्चय पूजा कर रहा है वह अती-इन्द्रिय आनन्द रूप निर्विकार और शातता विस्तारक है। जगत ऐसी पूजा करके संतुष्ट हो।

१२५-दशलक्षण धर्म।

परम प्रतापी आत्मा अपने आपके स्वभाव पर जब दृष्टि फेंकता है तो वहां यद्यपि अभेद है तौभी भेद भाव करके क्रोध कषायके अभाव रूप उत्तम क्षमा, मान कषायके अभाव रूप उत्तम

मार्दव, माया कषायके अभाव रूप उत्तम आर्जव तथा लोभ कषायके अभाव रूप उत्तम शौचको सर्वांग व्यापक देखता है। तथा वहीं नियमित रूपसे वर्तने वाले सत्य धर्मकी सत्ताको पाता है। अपने स्वरूपसे अच्युति तथा परभ्रमण विरमण रूप संयमकी शोभा, निज अनुभव रूप अग्निकी तप्तायमान ज्वाला रूप तप धर्मकी दीप्ति, अन्य सर्व औपाधिक भावसे विरक्त रूप त्याग धर्मकी अपूर्व छटा, सिवाय निज असंख्यात प्रदेशोंके अन्य सर्व जीवोंके सर्व प्रदेश तथा अन्य सर्व पुद्गलादि द्रव्यका सम्बन्ध रहित आकिंचन्य भावकी गर्मी तथा परम शुद्ध टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव रूप परम ब्रह्म स्वभावमे चरण रूप ब्रह्मचर्यधर्मकी सुन्दरता ये. सब सामग्रियां आत्माकी सर्वांग सत्ताको व्याप कर रहती हुई आत्माका स्वभावरूप धर्म यद्यपि एक प्रकार है तो भी उसे दशलक्षणरूप प्रगट कर रही हैं। इस उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप धर्ममई निज आत्माके शुद्ध स्वभावका श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र अर्थात् उसके स्वभावमें तिष्ठकर आनंदित रहना अथवा आपका आपमें परिणमन करना यही निश्चय धर्मका मनन तथा सुख शांतिका भंडार है।

१२६-परम क्षमा।

जब कोई वीर आत्मा सर्व प्रपंच जालोंको त्यागकर अपने आत्माके सच्चिदानन्दमई स्वरूपमें तन्मई होता है तब उसको जो आत्मसंवेदन होकर थिरता होती है वह थिरता उसके सर्व दोषोंकी अभावरूप तथा परम क्षमारूप है। इस स्वरूपमें द्वेषका नाम नहीं है। यह वह परम शांति और समता है जिनका भोग करनेसे आत्मा फिर किसी अन्य भोगकी कामना नहीं करता है। तथा परम

तृप्ति पाता हुआ स्वस्वरूपमें पूर्णतासे मगन होजाता है। जगतके सर्व जीव आप समान गुणधारी हैं यही विचार रागद्वेषका अभाव करता और सुख, शांति और चेतनाके एकतामई रसमें लीनकर देता है। इस परम क्षमारूप निर्विकल्प दशामें रमता रामको सिवाय आप आपके कुछ सूझता नहीं है। इसीसे वह अद्वैत भावका अनुभव कर रहा है। इसी अनुभवका स्वामी स्वयं आप ही ज्ञाता दृष्टा और गुणग्रामी है। इसकी यह अनुभूति स्वयं विकाश रूप और प्रफुल्लित कमलिनीवत् सुन्दर है। आत्म चंद्रमाकी ज्योतिका आनंद लेती हुई यह अनुभूति परम सुखी और परम तृप्त रहती है। इसकी सत्तामें पूर्ण क्षमावणीकी महिमा राज कर रही है और वहीं रत्नत्रयका अनुपम और परम शोभित निवास है। वर्षभरके क्या कोटानुकोट जन्मके अपराधोंका वहा नामों निशान नहीं है। ऐसी परम क्षमाका स्वामी मैं आपको आप ही जानता हुआ निर्द्वन्द और निस्पृह रहता हूं।

१२७–परम शांति और समता।

जो कोई भव्य सर्व दुविधाओंको दूरकर अपनी शुद्ध रंगभूमिमें अपनी वस्तुको निहारता है उसको यकायक परम शान्ति और समताका लाभ होता है। क्योंकि वहां अशांति और रागद्वेषके कारणभूत कर्मका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जिस भूमिमें सुखसत्ता चैतन्य बोधका राज्य हो वहां न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, कषायकी कालिमाका कुछ भी पता वहां नहीं मिलता। वहां दशलक्षण और रत्नत्रय अपना निवास परम सुखसे करते हुए सदा ही अपनी मनोहर शोभा दिखाते हैं।

द्रव्य जगतमें यद्यपि छः हैं पर उनमें पुद्गलादि पांच जड हैं केवल एक जीव ही चैतन्य है। यद्यपि जीव अनंतानंत हैं पर उन सबको सामान्य दृष्टिसे जाति अपेक्षा विचारते हुए वे सब एकाकार शुद्ध निरंजन निर्विकार आनन्दरूप ही दिखलाई पड़ते हैं। जैसे आप वैसे सब यह विकल्प ही क्षणमात्रमें निर्विकल्पमें ले जाता है, जहां केवल अपने आत्माके सच्चे स्वरूपका अनुभव है वहां जो शांति और समता है उनका वर्णन किसी तरह नहीं हो सक्ता।

१२८--अद्भुत मेवा।

एक भव भ्रमणसे आकुल भूखा, प्यासा व्यक्ति यकायक जब अपने आत्मारूपी बागमें पहुंच जाता है तो वहां आनन्दामृतसे पूर्ण परम स्वादिष्ट षट्रसोंसे विलक्षण विज्ञान मात्र एक रससे रसीले फलोंको भोगता हुआ और उपशम भाव रूप ठण्डे जलको पीता हुआ जो सुख अनुभव कर रहा है उसका हिसाब कोई कर नहीं सक्ता। जगतकी मेवाको अनन्तकाल भोगनेपर भी जो तृप्ति नहीं होती वह तृप्ति एकवार भी आत्मा रूपी बागके फलोंके भोगनेमें होजाती है। स्वात्मानुभवके विलाससे प्रफुल्लित होता हुआ आत्मा परम समता सखीसे मित्रता करता हुआ और अपनी निर्मलतासे उसको निर्मल करता हुआ धर्म रस परिपूर्ण गोष्ठीमें तन्मय होरहा है। धन्य हैं वे भव्य जीव जो स्वामृतपूर्ण स्वसंवेदन ज्ञानके मेवोंको भोगते हुए परम सुखी रहते हैं।

१२९--जातिमेला।

इस जगतमें यदि कोई अपनी जातिको देखे तो उसको विदित होगा कि अनन्तानंत जीव जो अनेक एकेंद्रियादि शरीरोंमें वास

करते हैं वे सब इसकी जातिके हैं। उन सबमें सामान्य गुण भी एकसे और विशेष गुण भी एकसे। यदि गुणीका ख्याल थोड़ी देरके लिये छोड़ देवें और केवल सर्व गुणीके सर्व गुणोंको जोड़ डालें तोभी जो एक जीवके गुणोंका बल वही सब जीवोंके गुणोंका बल आएगा। वस्तुतः प्रत्येक जीवके गुणोंमें ही अपनी अनंत शक्तियां परम प्रकाशको लिये हुए व्याप रही है। इससे सर्व प्रपंचजाल और गणनासे मुखमोड़ जो कोई अपने आत्माके गुणरूपी समुद्रमें कल्लोल करेगा और इसमें एकाग्र हो रम जायगा उसको निर्विकल्प अनुभव प्राप्त होजायगा। मानों वह अपने अटल दुर्गमें पहुच जायगा जहां कोई परभावका प्रवेश नहीं हो सकता व जहां यह आत्मा स्वात्मासे उत्पन्न आनन्दामृतका पान करते हुए परम तृप्तिको पाएगा कि जिसका विचार भी दुर्लभ है। यही सच्ची जातिसेवा है।

१३०—स्वप्रतापकी महिमा।

सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित होकर जो कोई निज ज्ञान धाम अविनाशी आत्म-तत्त्वका अनुभव करता है वह एक ऐसी भूमिमें पहुच जाता है जहांपर ऐसा अनुपम ठाठ है कि जिसका वर्णन नहीं होसकता। उस भूमिका प्रकाश कोटि चन्द्रमाके प्रकाशसे भी अधिक है। उसका प्रताप कोटि सूर्यके प्रतापसे भी अधिक है। उसके ज्ञान साम्राज्यका अतिशय ऐसा प्रबल है कि जिसके सन्मुख इन्द्र, चक्र-वर्ती, धरणेन्द्र आदि किसीका भी राज्य नहीं है। यह राज्य अवि-नाशी, अटल और शत्रुके आक्रमणसे रहित है। इसकी जो अनंत गुणरूप प्रजा है वह भी अखण्ड प्रतापधारी और सदा ही सुखमय स्वभावधारी है। इस भूमिके प्रतापके आगे कर्म बंधनके पटल यका-

यक उड़ने लग जाते हैं। किसी अन्यकी शक्ति नहीं है जो इस भूमिमें प्रवेश कर सके; कर्म, नोकर्म, भाव कर्म सर्व ही पुद्गल जड़की खेती है। सो इसमेंसे किसीका भी गुजर इसमें नहीं हो सकता। जैसे मंत्रोंके प्रतापसे विष उतर जाता, ज्वर चला जाता उसी तरह इस अनुपम मंत्रके प्रभावसे कोई भी शत्रु अपना स्पर्श नहीं कर सक्ता। जो इस भूमिके अनुपम प्रतापमें आराम करते हैं वे ही यथार्थ आत्मानुभवको पाते हुए सुख शांतिका लाभ करते हैं।

१३१-नवीन चमन विकाश।

परमानंद धाम शांति सुधास्थान आत्मा अनादिकालसे पुद्गलके सम्बन्धमें अपने आत्मचमनको मुरझाया हुआ रखकर जो कुछ आनन्द अनुभव उस चमनके विकाशसे होता उसको न पाकर आकुलताके सागरमें डूब रहा था सो आज जब अपनी निश्चय दृष्टिको खोलता है तो इसकी आत्मा आत्मरूप और पुद्गल जड़रूप भासता है। इस भाव भासनाके होते ही वह आत्म चमन जो मुरझा रहा था यकायक प्रफुल्लित होजाता है। वास्तवमें यह अनादिकालसे म्लानित था आज ही प्रकाशित हुआ है इसीसे इस विकाशको हम नवीन चमन विकाश कह सक्ते हैं। ज्ञानी आत्मा अब अपनी निश्चय दृष्टिको पसारे हुए एकाग्रतासे इस आत्मबागके दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख, सम्यक्त आदि गुण रूपी वृक्षोंकी सैर कर रहा है और वृक्षोंकी मनोहर ज्ञानरूपी सुगन्धको लेता हुआ उनके अतींद्रिय आनंदरूपी अमृत फलोंको भोगता हुआ परम तृप्त होरहा है। इस आत्माकी ऐसी परिणति ही निश्चय धर्मका मनन और साक्षात् सुख शांतिमय है।

१३२--परम तप।

श्री जगतवंद्य परम निस्पृह ज्ञाता दृष्टा प्रभुका आप ही आपमें रहना परमसार व उत्तम तप है। यह तप आत्माका निज धर्म है। इस तपमें संसार सम्बन्धी न कोई व्याधि है न आधि है। न इसमें कोई विषाद है न उन्माद हैं, २२ परीषह व ४ प्रकार उपसर्ग कोई भी इस तपमें स्थान नहीं पा सकते है। सर्व कष्टोंसे रहित सदा आनन्दरूप यह तप है। इस तपके तापसीमें सदा स्वच्छ अतीन्द्रिय सुखकी निर्मल धारा बहा करती है। उसी धारामें यह तापसी कभी स्नान करता है, कभी उसीका जल पीता है। यह परम तप सर्व परद्रव्योंके ससर्गसे रहित है। इसमें किसी कर्मके उदयकी छाया भी नहीं पड़ती। न वहां किसी कर्मका बंध है न स्पर्श है। यही तप परमात्माका आसन है। यही तप उसकी मुद्रा है। यही तप उसका शृंगार और यही वीतरागस्वरूप है। यह तप ही स्वानुभव है। यही जगत वंद्य है व यही आत्मस्वरूप है। इस तपके मर्मी ही परम तपी और सच्चे साधु हैं।

१३३--अटल राज्य।

परम निरंजन ज्ञाताद्दष्टा आत्मा अपनी अनुभूति राजधानीका अटल राज्य करता हुआ परम संतोषी तथा आनन्दरूप होरहा है उसे कोई प्रकारकी आधि--व्याधि उपाधि नहीं है, न वहा किसी कर्म, नोकर्म, भावकर्म रूपी शत्रुओंका भय है। विषय विकार व कषायोंके चक्कर वहा अपना कुछ भी असर नहीं कर सक्के। इस अटल राज्यमें तिष्ठा आत्मारूपी सम्राट् अपनी अनंतगुणरूपी प्रजाका समभावसे पालन करता है। सबको अपने२ स्वभावमें रमनेकी स्व-

तंत्रता है। सब एक क्षेत्रमें रहते हुए भी कोई किसीको बाधक नहीं होते। वहां किसी देव, गुरु व शास्त्रका भी प्रवेश नहीं होता न किसी अन्य आत्माका प्रवेश है। सर्वसे निराला, सर्वसे स्वतंत्र रहता हुआ परम निराकुल है। इस अटल राज्यमें जो कुछ व्यापार है सो उसीके भीतर है—सभी गुणरूपी व्यापारी अपनी२ सहायता एक दूसरेको करते हैं। पर इस राज्यसे न कोई व्यापारी बाहर जाता है न कोई बाहरसे वहां आता है। सर्व राज्योंका पतन व परिवर्तन होता है पर इस राज्यका कभी पतन व ह्रास नहीं होता, न इसमें कोई वृद्धि होती है। इसका द्रव्य, इसका क्षेत्र, इसका काल, इसका भाव सब इसका इसीमें है। ऐसे अटल राज्यका स्वामी नित्यानन्द भोगी रहता हुआ परम तृप्त रहता है।

१३४–मंगल।

संसारके भयानक जंगलमें भ्रमते हुए इस जीवने जब अपनी तरफ देखा तो यकायक इसको परम मंगल स्वरूप अपने ही स्वरूपका दर्शन हो गया। वास्तवमें देखनेवाला उपयोग है। उपयोगकी गति स्व स्वरूप पर होते ही जिस तत्वका दर्शन होता है वह तत्व जगतमें परम मंगलरूप, उत्तम तथा परम शरण है। कारण कि शुद्ध आत्माका अनुभव समस्त मलको धोता और परमशुद्ध शांतभाव और आनन्दको प्रकाशता है। ज्ञानामृतके समुद्र अविनाशी आत्माके सिवाय जगतमें उत्तम क्या पदार्थ हो सकता है। जिस असंख्यात प्रदेशी मन वचन कायके अगोचर अखंड आत्मदुर्गमें कोई विषय कषाय चोर प्रवेश नहीं कर सकते इस कारण यह ही परम शरण है। इस मंगलमई पदमें कोई विघ्न बाधा नहीं होती

है। इस पदका जो अनुभव करनेवाला वह भी वही है जिसे अनु-भव किया जाता है। वास्तवमें यह ध्याता ध्येयका विकल्प भी जिस पदमें नहीं है वही मंगलरूप परम पद है। इस पदके अनुभवी निश्चयसे निश्चयधर्मका मनन करते हुए अकथनीय आनंदको पा परम तृप्त रहते हैं।

१३५-मोहहारक दृश्य।

परम निरंजन ज्ञाताद्दृष्टा अविनाशी आत्मा जो सर्व संकल्प विकल्पोंसे दूर है, मन, बचन, कायके अगोचर है, संसारसागरकी प्रपंचरूप तरगावलीसे दूरवर्ती है, अनन्तज्ञानादि गुणोंका भंडार है, तथा अपने स्वरूपमें आप निश्चिन्त है सो आप ही अपनेमें अपने लिए अपनेसे अपने स्वरूपको अपने स्वसंवेदनमें लेता है और स्व-रूपके अनुभवसे उत्पन्न जो अतींद्रिय सुखामृत उसका पान करता है। इस निश्चयधर्मरूप क्रियामें कोई प्रकारका उद्वेग नहीं है। यह क्रिया निज स्वरूपके विकाशमें विरोधी जो कर्मपटल उसके उड़ा-नेको तीव्र पवनके समान है, कर्मकाष्ठके जलानेको अग्नि सदृश है, मोहांधकारके हरणको सूर्यके समान है, संसाररूपी कीचके शोषनको भानु किरणवत् है, मोहनागके विष उतारनेको परम मंत्र है, निज तृप्ति होनेके लिये अटूट और रमणीक नैवेद्यका भंडार है, परद्रव्य, परभाव, परक्षेत्र, परकालके प्रवेश न होने देनेके लिये परम दुर्ग है। इस दुर्गका निवासी अनंतकालके लिये मोह शत्रुके आक्रमणसे बच जाता है तथा अपने स्वानुभवसे प्राप्त परम सुखका भोग करता है।

१३६–गुणग्राम।

बहुत भव संकटोंमें भ्रमण करते हुए इस संसारी आत्माको औगुणग्राम बहुत मिले परन्तु गुणग्रामका लाभ नहीं हुआ। यकायक जब इसकी मोहनिद्रा उछटती है यह अपने आपमें गुणग्रामको पाता है। उस मनोहर ग्रामका दर्शन करते ही उसका सर्वस्व उसीमें लवलीन हो जाता है। उसको और सर्व विचार विस्मरण होजाते हैं। आनन्दकी मनोहर छटा बुद्धिपर जम जाती है। इंद्रिय विषयोंके विकारोंका व मनके संकल्प विकल्पोंका वहां कुछ भी पता नहीं चलता है। सहसा साहस आता है और सर्व विरोधी भावोंकी विदाई होती है। चेतन प्रभुको सिवाय अनन्त गुणधारी आत्माके और कोई दिखता नहीं है। देखनेवाला और देखने योग्य दोनों एक होकर आपमें आप कल्लोल करते हैं। इस कल्लोल मालामें ही रत्नत्रयका वास है। यही मोक्षमार्ग तथा मोक्ष है। यही आनन्द और वीतरागता है। यही ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी एकता है। ऐसे गुणग्रामका वासी ही सच्चा महात्मा तथा उदार है।

१३७–परम सुख।

अकल निर्भय अज अकलंकी परम आतमा सर्व भव विकारोंसे शून्य हुआ आप आपमें बैठा हुआ अतींद्रिय आनन्दका उपभोग करता है और एक निःकंटक राज्यमें तिष्ठा हुआ अपने अनन्तगुणरूपी मित्रोंको अपने सर्वांगमें लिपटाए हुए एकीभावसे उन सबमें वर्तन करता है। राग द्वेष मोहके दोषोंसे बिल्कुल मुक्त हुआ समताभावका आदर करता है। समताभावकी अनुपम आकर्षण शक्तिके द्वारा जगत भरमेंसे शांत निर्मल जल सदृश शांत भावको खींचकर

अपनेमें इतनी बहुतायतसे भर लेता है कि अपनेमें शांतताका एक अगाध समुद्र भर जाता है। इस समुद्रका इतना विस्तार है तथा इसकी इतनी गहरी निर्मलता है कि इसके भीतर लोकालोक डुबकी लगाए तो भी इसमें कुछ विकार नहीं होता। ऐसे शांत समुद्रमें सदा ही मग्न रहना एक ज्ञाता दृष्टा प्रभुका परम कार्य है और वही परम सुख है।

१३८--शांतता।

महा मोहानलमें दग्ध होनेवाले प्राणी चिरकाल विषयवासनाओंके दास रहते हुए अपने आपको न पाकर शांतताके मननसे कोसों दूर रहते हैं। परन्तु उन्हींमेंसे कोई भव्य जीव जब अपनी दृष्टि सर्व पर फन्दोंसे फेरकर मै कौन हू, मेरा क्या स्वरूप है इस प्रश्नपर विचारता हुआ अपनी ओर देखता है, भीतर घुसकर अपने स्वरूपको झांकता है तो उसे मालूम होजाता है कि मैं तो परम शांतता और आनदका सागर हूं—मेरेमें न अज्ञान है न मिथ्यात्व है, न कषाय है, न कर्म है न नोकर्म्म है। न मै नारकी हूं, न देव हूं, न पशु हूं और न मनुष्य हूं। न मै बाल हू, न युवा हूं और न वृद्ध हू। मै कैसा हूं इसका कुछ वर्णन नही हो सक्ता। मेरी छविकी महिमा देखनेवालेको ही मालूम हो सक्ती है। मैं अपनेको एक अखंड चैतन्य धातुका महा मनोहर पिंड पाता हूं। जो स्वच्छ ज्ञान ज्योति मेरेमें झलक रही है ऐसी ज्योति किसी भी बड़े या छोटे पुद्गलमें नहीं है। मैं अब इसे ही देखकर आनदित हो रहा हूं। सारी भवबाधा खो रहा हूं। जिस शांतताके विना चिरकाल भिक्षो तथा उसे विना अन्तरके अनुभव कर रहा हूं। अब मेरेको

जो अतीन्द्रिय सुखका लाभ है उसका श्रेय इस शांतताको है जो मेरे घरमें निरंतर वास कर रही है ।

१३९--आत्मविकाश.

एक व्याकरण, न्याय, साहित्य दर्शनादिके ज्ञानसे शून्य पुरुष जब श्रीगुरुके द्वारा अपने आत्माकी भिन्नताका पता पा लेता है कि यह आत्मा शुद्ध स्फटिक रत्नके विकारोंसे रहित चैतन्य धातुकी घनी मूर्ति है जिसमें कषायका लेश मात्र भी नहीं है, न जिसके स्वभावमें कोई जड़ या जड़का कार्य व असर है और अपने उपयोगको सर्व तरफसे रोककर अपने निश्चित श्रद्धानके अनुभवमें जमा देता है तब वहां सिवाय आपके और किसीको भी नहीं देखता है। उसकी एकाग्रता आपमें होजाती है । अपनी सत्तामें ठहरनेसे तथा वारवार अभ्यास करनेसे कषाय अंश घटता है और साम्यभाव प्रगट होता है--कर्म मल क्षीण होता है जिसके कारण ज्ञानका विकाश होता है । स्वात्मानुभवका फल ही आत्माका पूर्ण विकाश है जिसका अर्थ है कि आत्मा सर्वज्ञ होजाता है । कोई भी ज्ञेय उसके ज्ञानके विषयमें न आवे ऐसा नहीं रहता । आत्माके स्वादमें यही तो फल है कि आत्मसुख, शांति बढ़े तथा ज्ञानकी निर्मलता होती जाय तथा जिन जिन पदार्थोंको पुस्तकोंसे भी नहीं जान सकने उनको जान जावें । मैं नहीं जानता अब जानूंगा यही व्यवहार है । इस समस्त प्रपंच जालको छोड़ मैं आप ही जो कुछ हूं सो हूं--मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, निर्विकार हूं, आनंदमय हूं, अनंतगुणरूप हूं, नित्यानित्य, एकानेक, भेदाभेद, अस्तित्व नास्तित्वरूप तथा सर्व अजीवों व अन्य जीवोंकी सत्तासे निराला हूं यह भी विकल्प व्यवहार है । इन सर्व व्यवहार

अंतरंग बचन तथा वाह्य बचन बकवादको छोड़कर मैं आप आपमें निश्चल मेरुवत् थिर होता हू तब स्वतः ही स्वात्म लक्ष्मीका स्वाद लेता हुआ जिस आनंदको पाता हू उसकी जगहमें कोई उपमा नहीं हो सकती–वही सार है, नियम है, धर्म तथा मानवका कर्त्तव्य है।

१४०–सार पदार्थ।

तीन लोकमें जब किसी सार पदार्थका पता लगाया जाता है तो वह कहीं अन्यत्र नहीं दिखता है। जो इस बातका पता लगाना चाहता है वही एक सार पदार्थ है क्योंकि सुख शांति और पूर्ण ज्ञानका वही भंडार है। उसीमें कोई प्रकारका विकार व परनिमित्तसे होनेवाली पर्याय नहीं है। उसीको पूज्यनीय कहते है। वही गुण–निधि है। जिसका गुण यती, मुनि, ऋषि, अनगार निरंतर जपते हैं। वह ज्ञान सूर्य सर्व तिमिरका विध्नशक है, उसीकी शांत छायामें निवासी व्यक्तिका सर्व भव आताप शांत होजाता है। उसके प्रदेशोंमें कोई परवस्तु, परगुण, परपर्याय किसी तरह प्रवेश नहीं कर सक्ती है तो भी उसमें सर्व ही पदार्थोंकी गुण पर्याय झलकती रहती हैं–उसके स्वभावमें तल्लीनता होनेसे कोई आपत्ति जगतभरमें ऐसी नहीं है जो स्वभावको चलायमान कर सके। ऐसे निश्चल निर्भय ज्ञानानंदमय अविनाशी चित् पदार्थका दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप अनुभव अनुभवकर्त्ताके सर्व आतापोंको शांतकर उसको सुख समुद्रके शांत रसमें निमग्न करनेवाला है। निश्चय धर्मी आत्मा और निश्चय धर्म उसीका स्वभाव दोनों एकमेक तादात्म्य हैं। दोनोंका भेदभाव रहित एकाकार अनुभव ही परम मंत्र है जो सर्व कर्म पटलोको विना किसी अस्त्रके छेदन करनेको समर्थ है।

१४१--ज्ञान सार है।

जिस किसी व्यक्तिको संपूर्ण पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होता है उसे कोई आकुलता नहीं होती। उसे ही यथार्थ सुख प्राप्त होता है। हम जब इस ज्ञान गुणकी सत्ताको देखते हैं तो मालूम होता है कि इसकी सत्ता अपार है। तथा इसका आधार वह आत्मा है जो मैं हूं-मेरे वस्तु स्वरूपमें ज्ञान ही अटूट भण्डार है। यह सर्व ज्ञेयोंको जान सक्ता है। इसकी शक्तिको महिमा ही ऐसी है, जो कुछ ज्ञेय है सो इसकी सत्तामें झलके। ज्ञान सार इसीलिये है कि यह परमानंदकी प्रगटताका वीज है। यथार्थ ज्ञान होते ही पदार्थोंका द्रव्य सब अलग२ दीखने लगता है। भ्रमवुद्धि सब चली जाती है। अनेक द्रव्य एक प्रकाशमें परस्पर अन्तर व्यापक होकर इन्द्र धनुष्यके समान नाना रंग दिखाते हैं तौभी ज्ञाता पुरुषको कोई भ्रम नहीं होता, वह हंसकी तरह दूधको दूध और पानीको पानी जानता है। वह परम सन्तोषी रहता हुआ आत्माको आत्मा और पुद्गलको पुद्गल जानता है। ज्ञान धनका भण्डारी अपने ज्ञान धनमें सन्तोषी होता हुआ जैसे२ अपने आत्माके सार गुणोंका अनुभव करता है तैसे २ आनन्दामृतका स्वाद लेता हुआ सुखी रहता है।

१४२--आनंद घर।

आज मैं सर्व आपत्तियोंसे दूर होकर निजपदमें बैठता हूं। वही सत्यार्थ रूपसे आनंदका घर है, वही सर्व भयोंके प्रवेशसे निर्भय है। वही परमोत्साहका स्थान है। वहीं निजमूर्तिके विलासका और उसके द्वारा सुखसे वर्तनका बड़ा भारी रंग गुंथ आता

है। उस घरमें सिवाय आत्मीक गुणोंके उन किसी भी गुणोंका अवकाश नहीं है जो पदार्थको अनात्माके नामसे बोध कराते हैं। उस घरमें सर्व ही निवासी परम सज्जन, परम शांत तथा अपने२ नियमित कार्य्यमें तत्पर हैं। वहां किसी भी दुष्ट, विकारी, क्लेशपूर्ण तथा आकुलतामय क्रोधादि भावोंका नाम व निशान नहीं है। वहां परम स्वच्छता है। कोई प्रकारकी कर्मकी मलीनता वहा नहीं है। उस स्वच्छ आत्मभूमिमें रहता हुआ मै किसी भी शत्रुसे कोई प्रकारकी बाधा नहीं पाता हूं। प्रत्युत विना किसी अंतरके निज स्वाभाविक अतीन्द्रिय आनन्दका अनुभव करता हूं जो जगतके अतृप्तिकारी सुखोंसे दूर तथा परम पवित्र है।

१४३--गुरूपदेश।

एक व्यक्ति इस खोजमें निकलता है कि कहीं गुरुका उपदेश प्राप्त हो तो मैं सत्य मार्गको पाकर अपना हित करूं। उसकी यह रुचि ही वास्तवमें आत्म गुरुका उपदेश है। यही गुरूपदेश किसी बाह्य गुरुका निमित्त मिला देता है और यह व्यक्ति यथार्थपने अपनेको समझ जाता है। जब यह समझ होती है कि मैं तीन लोकका नाथ ज्ञाता दृष्टा अविनाशी अखण्ड अतीन्द्रिय सुखका भण्डार परमात्मा हू तब उसकी अनादि कालकी अपनेको तुच्छ माननेकी बुद्धि विदा होजाती है, अनन्त शक्तिमय हूं ऐसी अहंबुद्धि उमड़ आती है—पहले देहादिक व रागादिक भावोमें अहंबुद्धि थी सो निकल जाती है। स्वचैतन्य भावकी झलकमें जगत परम शांत, क्षोभ रहित व स्थिर प्रगट होता है। रागद्वेष, मोह व शत्रु मित्रका कहीं पता नहीं चलता। इस प्रकारके प्रभावमें गेहूके साथ

जौके दाने अलग२ नहीं दीखते। मिश्रको ही गेहूं समझ लेता है। परन्तु ज्ञान प्रभातके होते ही दृष्टाको जौ और गेहूं भिन्न२ दीखते हैं फिर स्वप्नमें भी जौको गेहूं व गेहूंको जौ नहीं कह सक्ता इसी तरह सर्व पर द्रव्य रहित केवल आत्माको जाननेवाला कभी उसे और रूप नहीं जान सक्ता। यही स्वरूप ज्ञानका अनुभव निश्चय धर्मका मनन और सुख शांतिका बीज है।

१४४--आत्मोद्धार.

परम निरंजन ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई आत्माका आत्म स्वरूपमें तन्मई होना ही परम सुखका बीज है। तन्मयता निर्विकल्प तत्त्व तथा स्वस्वरूपका विकाश है। यही आत्मोद्धार तथा यही आत्मविचार है। यही तत्त्व सर्व जगतको आपके समान बतानेवाला तथा यही समता देवीका निवास है। इसी देवीके उपासक सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित हो आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमें अनंत गुणोंका दर्शन पाते हुए तथा स्वाधीनताका आनंद लेते हुए सतत सर्वसे निस्पृह, उदासीन, वीतराग तथा निर्दोषी रहते हैं। ऐसे महा पुरुषोंके ऊपर अनेक परीषह तथा उपसर्ग पड़ते हैं तो भी वे सब उनको पुष्प सदृश मालूम होते हैं। वे सब पुद्गलकी तरफ लतियाए जाते हैं। आपकी तरफ एक आत्माका ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रहता है। इसीका सदा आप रूप रहना ही आत्मानन्द विलास है।

१४५-आत्मलीनता.

आज एक चिरकालसे दुःखित पथिक यकायक एक अपूर्व आनन्द धाम जो आत्माका स्वभाव है उसमें पहुंच गया है। इस

धामकी महिमा निराली है। इसकी छटा अद्भुत परम गुणवाली है। यदि कोई ज्ञान संपदाका एक स्थान हो तो वही है। यदि कोई आनन्दका एक स्थान हो तो वही है। जगत भरमें किसी भी अन्य स्थानमें ज्ञान, शांति और आनन्दका दर्शन नही होसक्ता सिवाय इस परम धामके इस धामकी यात्रा करना आत्माका सच्चा हित है। इसका पूजन करना परम श्रेय है। जो कोई व्यक्ति अपना सर्वस्व अन्य स्थानोंसे हटाकर इस जगह रख देता है अर्थात् इस स्थानको ही अपना नित्य निवास स्थान बना लेता है, वह आत्मलीनताकी दशामें पहुंचकर सर्व क्लेश आपदाओंसे बच जाता है, तथा नित्य आनन्दके मनोहर अनुपम क्षेत्रमें रहता हुआ परम सुखी, सन्तोषी और वीतराग होजाता है। इस आत्मलीनताकी महिमा निराली है। धन्य है वह उपयोग जिसने योग्यताको प्राप्त कर अपना ठिकाना वहां बनाया है। उसी उपयोगने अनन्त शांत स्वभावी गुण रूपी प्रजाके अविरोध सहवासको पाकर अपना सच्चा कल्याण किया है। वही निश्चय धर्मका मनन करता हुआ अनुभवके आनदका सदा विलास करता है।

१४६--गूढ़ता।

हम देखते२ इस विश्वकी गुप्तता और गूढ़ताका जब पता चलाते है तो हम एक ऐसे स्थानपर पहुच जाते हैं जहांपर हमें ये कोई नगर, महल, बरतन, कपडे, चंद्र, सुर्य, पर्वत, समुद्र, मनुष्य, पशु आदि दिखाई नहीं देते। किन्तु हमें छः द्रव्य ही नजर आते हैं। उनमेंसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाशमें ज्ञान नहीं दिखता। एक जीव द्रव्य ही ज्ञानका भंडार प्रगट होता है। उस समय जब हम

अपने ज्ञानरहित पांचोंसे दृष्टि फेरकर ज्ञानमई अनन्तानन्त जीव द्रव्योंको देखने हैं तो हम अपनेमें और उनमें कोई अन्तर नहीं पाते हैं। सत्ता सर्व जीवोंकी भिन्न२ होते हुए भी जातीयता व विशेष गुणोंकी अपेक्षा देखते हुए सब एक रूप दिखते हैं। शत्रु मित्र, माता पुत्र, इष्ट अनिष्ट, स्वामी सेवक आदि ऊंच नीचपनेकी कल्पनाएं विलय हो जाती हैं। क्योंकि सर्व जीवोंके विशेष गुण परम शांत, परमानंद तथा परम ज्ञानमई हैं इसलिये सर्वके गुणोंका समुदाय एक आश्चर्यकारी शांत आनन्दमई समुद्र बन जाता है। हम अब सर्व कल्पनाओंके जालोंको काटकर इसी समुद्रका ही स्नान करते हैं, इस हीका जल पाते हैं, इस हीमें कल्लोल करते हैं, इस हीमें तैरने व इस हीमें कभी आसन जमाते खड़े होते, गमन करते, ठहरते, घूमते व अवगाहन करते हैं और परमानंदका भोगकर परम तृप्त रहते हैं।

१४७-सदानन्दी।

एक त्रिगुप्तमय पर्वतकी गुफामें परम शांत ऋषि सदानन्दी नामके विराजमान हैं। इनका आकार यद्यपि पुरुषके समान है परन्तु इनके कोई भी सूक्ष्म या स्थूल शरीर पांचों ही प्रकारमेंसे नहीं है। अटूट मौन धारे हुए, गंभीरता विस्तारते हुए निश्चलताकी सीमाको पहुंचे हुए परम ज्ञानी ध्यानी समाधिलीनसे मानों होरहे हैं। किसी भी स्थानपर रञ्च मात्र भी किसी क्रोध, मान, माया, लोभका छींटा नहीं दीखता। इनकी शांत मुद्राको देखकर कोई कभी नित्य, कोई अनित्य, कोई एक, कोई अनेक, कोई अस्तिरूप, कोई नास्तिरूप, कोई भेदरूप, कोई अभेदरूप कहते हैं पर हमें तो एक चित्पिंडके

सिवाय और कुछ नजर नहीं आता। उसमें अचितका जरासा भी अंश नहीं है। इस मूर्तिमें कितना वीतरागत्व, कितना आनंद इसका कोई पता नहीं चलता। वास्तवमें यह मुद्रा शुद्ध आत्मीक गुणोंकी अथाह समुद्र है। जो इसमें स्नान करता, गोते लगाता, मगन होता वह मानो अपनी सत्ताको ही खो बैठता है। उसका सर्वस्व इस समुद्रके निर्मल आनंदानुभवरूपी जलमें धुल जाता है। ऐसे सदानन्दी ऋषिका दर्शन, पूजन, भजन, ध्यान और अनुभव जो करे सो भी सदानन्दी ही होजावे। अपनी अनादि जगभ्रमणकी आदतको मिटावे। स्वस्वरूपमें थिरताको पावे-जैसा है वैसा रह जावे-परसे मुक्त हो आप आपको ही अपनी प्रभुताईमें रमावे।

१४८—परम धाम।

एक व्यक्ति भववनमें भटकता हुआ किसी ऐसे धामकी आवश्यकता समझता है कि जहां, कोई बाधा व कोई विकार न हो, जहां यह निरंतर अपने आत्मीय आनंदका विलास करे, आपहीमें कल्लोल करे, आपहीकी क्रियाको करे और आपके ही स्वादको अनुभवमें लेवे। जहां कोई शत्रु किसी प्रकारका कभी आक्रमण न कर सके ऐसे धामको गंभीर विचारके साथ जब देखता है तब अपना ही क्षेत्र पाता है जो असंख्यात प्रदेशमय है। इस परम धाममें किसी भी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभावका सम्बन्ध नहीं है। न इसका कभी ह्रास है न पतन है न इसे कोई भेद छेद सक्ता न अन्यथा कर सक्ता। यह जन्म जरा मरणादि व्याधियोंसे बिलकुल पृथक् है। इस स्वक्षेत्रमें ही अपनी अपूर्व संपदाका अटूट निवास है जिसका भोग करते हुए भी कभी किसी प्रकार वह कम

नहीं होती है । इस स्वक्षेत्रके परमधाममें एक मननकर्ताका उपयोग जब बडी धैर्य व शांतिसे बैठ जाता है तब परम विश्रांति इस उपयोगको प्राप्त होती है ऐसी कि मानो वह उसीमें घुल जाता है, डूब जाता है, तन्मय हो जाता है । उपयोग और परम धाम इस द्वैतकी कल्पनाको दूर कर देता है। यही परम धाम सदा ही निवास करने योग्य परम निर्भय दुर्ग है। इसीका निवासी सतत सुखी और स्वगुण विलासी रहता है ।

१४९-सुखानुभव ।

इस संसार असारमें कुछ भी सार न पाता हुआ एक व्यक्ति समस्त पर पदार्थोंकी वासनासे तृप्त न हो उदास होकर एक वृक्षके नीचे इस विचारमें बैठ जाता है कि मैं क्या करूं, किस तरह मनमें भव आतापको शांत करूं ? इतने हीमें आत्मगुरु उसे समझाते हैं कि तू किस मूढतामें फंसा है । जिस सुखशातिको तू चाहता है वह तेरे ही पास है, तेरी ही विभूति है, तेरे ही घरमें गडी है। यदि तू सावधान होकर खोजे तो तुझे अवश्य ही मिल जावे । भेद विज्ञान रूपी कुल्हाड़ी काममें लाकर इस सम्पत्तिका स्वामी बनना चाहिये। इतनी बातको सुनते ही उसका भ्रम दूर होता है और ज्यों ही वह आपको सर्वपर द्रव्योंसे भिन्न ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई अमूर्तिक परमात्माके समान सिद्ध, शुद्ध, निरंजन, निःकषाय, निर्द्वन्द, निर्भय, अभेद्य और शांत अनुभव करता है, अनादि कालकी भव आतापकी बाधा शांत होजाती है और परमस्वाधीन सुखानुभवका लाभ होता है—फिर तो उसे एक प्रकारका नशा चढ़ जाता है—वह इस नशेमें चूर होकर सिवाय आपके और किसीको नहीं देखता है, उसे उस

स्वानुभवके नशेमें आत्मरसके सिवाय अन्य रसका वेदन नही होता। धन्य हैं वे प्राणी जो इस रसको पीकर शांति लाभ करते और अपने जीवनको सुखिया बनाते हैं।

१५०--शांत सागर.

जगज्जालके संतप्त स्थानमें निवासी एक दुःखित व्यक्तिको यकायक भ्रमरूपी आड़ी चादरके हटाते ही परम शुद्ध ज्ञानामृतसे परिपूर्ण एक शांतसागर ज्योंही नजर आया उसकी सारी आकुलताएं मिट गईं और ऐसे परम निराकुल सुखका लाभ हुआ कि जिसकी उपमा इस जगतमें नहीं मिल सक्ती है। तथा जब वह इस समुद्रमें स्नान करने लगा इसका पाप मैल मिटने लगा और जब उसके स्वच्छ जलको पीने लगा उसकी अनादिकालकी तृषा मिटी और परम तृप्तिका लाभ हुआ। इस जलको पीते यह व्यक्ति ऐसा उन्मत्त हुआ कि मानों अपने आपेमें नहीं रहा। अब तो उसका यह भाव भी मिट गया कि मैं देखनेवाला और यह शांतसागर देखने योग्य-मैं स्नान करनेवाला और यह समुद्र स्नान योग्य—मैं पीनेवाला और यह ज्ञानामृत पेय है। यह अपनेको क्या मानता है, क्या नहीं मानता है, इसे कोई नहीं कह सक्ता। यह तो बिलकुल अपने स्वरूपानुभवके मदमें चूर है। इस दशामें उसको क्या मजा आता है इसको वही जाने जो स्वरूपमस्त है वह कहता नहीं। जो कहता है वह स्वरूप मस्त नहीं।

१५१—विचित्रताका दृश्य.

जगत एक नाटकशाला है। पुद्गल और जीवोंने अपने२ विचित्र स्वांग बना रक्खे हैं जो एक बड़ी भारी मनोहरता दिखा

रहे हैं। अपने कार्यसे खाली जो व्यक्ति हैं वे इन विचित्र दृश्योंमें किसीमें राग व किसीमें द्वेष करते हैं। उनके मोहजालमें फंसकर उनहीके वशमें हो उनहीकी रिझानेवाली क्रिया किया करते हैं, परन्तु जो अपने कार्यमें लीन हैं वे इन विचित्र दृश्योको देखते हुए भी जैसे चक्षु अग्निको देखकर जलती नहीं, अमृतको देखकर संतोषित नहीं होती ऐसे उनमें कुछ भी रागद्वेष नहीं करते हैं तथा अपने कार्यके सिवाय परके कार्य उनकी शक्ति व संयोगोंपर अवलंबित हैं ऐसा जानते हुए वे अन्योंपर ध्यान नहीं देते। इसीसे अपने ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि अटूट भंडारके स्वामी बने हुए सदा ही आनंदित रहते हैं। मैं ही ईश्वर, परमात्मा, परब्रह्म, भगवान, केवली, जिन, बुद्ध, विष्णु, शंकर, ब्रह्मा, खुदा, ईश, सत्यदेव तथा सदासुखी हूं ऐसी भावना करते करते अपने आत्मसमुद्रमें ऐसे मगन हो जाते हैं कि उन्हें तब फिर उस अनुभव दशामें कुछ फिकर नहीं रहती।

१५२-ज्ञान सिद्धि।

सुख शांतिसे परिपूर्ण आत्मा असत्य व्यवहारोंसे रहित तथा सर्व ही सत्य परिणामोसे परिपूर्ण है। उसमें जब जो कोई उसके वास्तविक स्वभावको देखता है उसे अवश्य पता लग जाता है कि वह तो स्फटिककी मूर्तिके समान शुद्ध निर्विकार मेरे शरीर प्रमाण औदारिक, तैजस, कार्माण तीन शरीररूपी गुफाओंके भीतर तिष्टा हुआ भाव कर्मादि विकारोसे रहित परम सौम्य, ज्ञाता दृष्टा, पर कर्तृत्त्व भोक्तृत्त्वसे शून्य, परम निर्भय, अखंड, अविनाशी, अमूर्तिक, ज्ञान चेतनामई साक्षात् मेरे ही देहरूपी मंदिरमें प्रगट है। ऐसा

जो ज्ञान जिसमें न संशय है न भ्रम है न अध्यवसान है तथा जो स्वरूप श्रद्धासे सपन्न है और जिस ज्ञानमें ज्ञानोपयोगकी सन्मुखता है वही ज्ञान भेद विज्ञानसे उत्पन्न सम्यग्ज्ञान है। यही ज्ञान ज्ञान है। इसीको कभी केवल ज्ञान कभी स्वसवेदन ज्ञान कहते हैं। कहनेवाले अपने कथनकी अपेक्षाको आप समझें। जहां स्वरूप ज्ञान है वहां ही ज्ञान सिद्धि है। वहीं निश्चय धर्म है। ऐसे धर्मको मनन करनेवाला मन मनन करते करते आप स्वयं मर जाता है।

१५३--प्रेम पात्रता।

एक जगतका प्राणी अपने बहिरंग और अंतरंग प्राणोंके भीतर जब देखता है तो ऐसे व्यक्तिको देख पाता है कि जिसकी सुन्दरताके सामने तीन लोकमें कोई पदार्थ नही है। उसमें एक यह बड़ी खुबी है कि वह तो सबको देखता है पर उसे कोई भी पदार्थ जो उसके समान नहीं हो देख नहीं सक्ता वह—परमशांतिका समुद्र है—उसमें विरागता कूट कूटकर भरी है। जहां भी देखो वहां वीतरागता है। इस जगमें उसके समान जो कोई है उसमें तो यह वीतरागता मिल सक्ती है पर उसकी जातिको छोड़कर बिजातीय पदार्थोंमें यह वीतरागता रश्च मात्र भी नही मिलती। उसीमें सच्चा आनन्द है जो परम तृप्तिकारी तथा परम उत्तम है। जगतमें उसके समान किसीमें यह आनन्द भले ही मिले पर जो उस समान नहीं है उसमें इसका कहीं पता नहीं है। यदि कोई सर्व चिंताके जालोंसे बचना चाहे तो उसको निराकुल तथा सार और मंगलमई उस अपने घटमें विराजित परम पदार्थका दर्शन जिस तरह बने करना

चाहिये । एक दफे नहीं किन्तु पुनः पुनः दर्शन करते ही रहना चाहिये । यहांतक यह क्रिया करनी चाहिये जहांतक देखनेवाला व जिसे देखता है दोनोंमें द्वैतभाव मिट जावे । वे दोनों पूर्ण अद्वैत होजावें । वास्तवमें देखनेवाला व जिसे देखता है दोनों एक हैं–कहनेमें दो होजाते हैं । जो इस भेदको समझता है वही निश्चय धर्मका मनन करता है ।

१५४–अनाकुलता.

परम प्रतापी ज्ञाताद्दष्टा आनंदमई आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोसे रहित होकर अपनेमें ज्योंही तिष्ठता है और वहां दृष्टिपात करता है तो उसको एकदम अनाकुलता ही अनाकुलता दिखलाई पड़ती है । कारण यही है कि अनाकुलताके कारण रागद्वेष मोह कोई भी उसकी सत्तामें नहीं है न वहां रागादि भावोंके कारण-रूप कोई ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म हैं । परम शुद्ध स्फटिक मणिवत् स्वच्छ आत्मभूमिमें किसी भी विकारका स्थान नहीं है । इस परम निराकुल आत्म भूमिमें आत्माराम अपनी एक रूप स्थितिमें विराजमान है । इस भूमिमें जैसी उत्तम क्षमा, शाति व अनाकुलता है उसका मुकाबला बिलकुल नहीं किया जासक्ता । एक साधुके लिये यदि कोई आश्रयका स्थान है तो यह है । यही परम शरण, परम निर्भय एक अखंड दुर्ग है जिसमें निवास करना परम हितकारी है । वास्तवमें आसन जमानेके लिये जगतमें कोई भी काष्ठ, पाषाण या चटाई योग्य नहीं है । यदि कोई आसन है तो दृढ़ता है जिसका आधार आत्मभूमि है । जो समताभावसे इस आसनमें जमता है वही निश्चयधर्मका मनन करके निराकुलताका लाभ करता है ।

१५५--ज्ञान मार्ग।

परम प्रतापी ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व संकल्प विकल्पसे रहित होकर जब अपनी भूमिको देखता है तो उसमें एक मार्ग और एक वह स्थान जहां उस मार्गसे पहुचना है ऐसी दो बातें दिखलाई पड़ती हैं। स्थान तो आत्माके शुद्ध स्वरूपका ज्ञान है। ज्ञानमय अवस्था ही साध्य और ज्ञानावस्था ही साधन है। इस ज्ञान मार्ग पर चलना ही निश्चयधर्मका मनन है। जहां यह आत्मा आत्माको आत्मामें ही निरीक्षण करता है और अनात्माओंसे अपनी सनमुखता हटाता है वहीं आत्मज्ञान रूपी मार्ग प्रगट झलक जाता है। इस ज्ञान मार्गमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्चरित्रका उजाला प्राप्त होरहा है। रत्नत्रयमई यह ज्ञान मार्ग भूतकालमें अतरात्माओंको प्यारा था, वर्तमानमें प्यारा है, भविष्यमें इसीके ही आलंबनसे स्वस्थानका लाभ होता है। इस ज्ञान मार्गको पहचान कर जो कोई इसपर गमन करता है वह परमानंदका लाभ करके परम तृप्त रहता है।

१५६—स्वपरिणति।

सुखोंका बीजभुत आत्मा अपनी परिणतिको जब अपने ही स्थानपर रखता है तो एक विलक्षण आनन्दका लाभ करता है जिसका वर्णन किसी भी तरह नही किया जा सक्ता। यह आनन्द संसारके इद्रिय विषयसे पैदा होनेवाले क्षणिक सुखसे बिलकुल भिन्न जातिका है। यही असली सुख है—यही परम स्वाधीन है जहां शुद्धात्माका स्वभाव प्रकाशमान है। उसीमें इसका निरंतर उदय है। मैं स्वयं आत्मा हूं—आत्मा सिवाय अन्य कोई नहीं हूं। आत्मासे प्रयोजन

उस चैतन्य धातुमई द्रव्यसे है जो अस्तित्त्वादि सामान्य गुणोंका तथा सम्यक्त, चैतन्य, चारित्र, आनंद, वीर्य आदि विशेष गुणोंका एक सर्वांग व्यापक समुदाय असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश प्रमाण तथा अमूर्तिक होकर भी गृहीत शरीर प्रमाण आकार धारी है। मेरा कोई सम्बन्ध मोहादि भावकर्मोंसे, मोहनीयादि द्रव्यकर्मोंसे व शरीरादि नोकर्मोंसे नहीं है। मै आप आपी अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभावमें वर्तनेवाला हूं। मैं अपनी परिणति अपने आपमें रखता हुआ अपने ही निश्चयधर्मका विलास करता हुआ परम तृप्त तथा सुखमई हूं।

१५७--गुरुका दर्शन।

मोह मदिराके नशेमें चकचूर एक व्यक्ति यकायक जागता है तो क्या देखता है कि एक गुरु उनके पास खड़े हैं। इस गुरुकी कृपासे यह आत्मा तुर्त प्रतिबुद्ध होता है और अपने गुणोंका पक्का निश्चय कर लेता है कि मैं शुद्ध बुद्ध ज्ञाता दृष्टा अविनाशी परम ब्रह्म स्वरूप हूं। मैं ऐसा ही हूं, और रूप नहीं हूं यही विश्वास सम्यग्दर्शन है। मैं ऐसा ही हूं और रूप नहीं हूं यही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। मैं ऐसे ही अपने स्वरूपमें रमता हूं परमें नहीं, यही प्रवृत्ति सम्यग्चारित्र है। इन तीन रत्नस्वरूप आत्माका विलास और उस विलाससे उत्पन्न आनंदका भोग जो कुछ होता है उस सबका कारण मात्र एक गुरु हैं। परन्तु वह गुरु कोई अन्य नहीं है। आप ही आत्मा अपना गुरु है। गुरु भी यही है तथा शिष्य भी यही है। आत्माकी अपनी ओर सन्मुखताका कराना ही गुरुपनेका कार्य है तथा अपनी परिणतिका आत्माकी सन्मुखतामें जाने देना ही

शिष्यपना है। जो सर्व प्रपंचजालसे रहित होकर अपने आत्माका दर्शन करता है वही अपने परम अभीष्ट गुरुका दर्शन करता है। इस गुरुका दर्शन करते२ एक भाव यकायक ऐसा आता है जब गुरु तथा शिष्यकी कल्पना ही नहीं रहती है। इसी अवस्थामें आत्माका साक्षात् अनुभव है व आत्मानंद है।

१५८-सम्यक्तत्व।

सात तत्त्वोंके महा गहन लोकाकाश प्रमाण जालके भीतर एक मनसे देखते हुए सूक्ष्मदृष्टि यकायक एक सम्यक्तत्वको उस जालके भीतर देख लेती है कि जिस तत्वमें न जड़ता है न मूर्तिकपन है न प्रमाद है न कषाय है न योग है न मिथ्यात्व है न अविरति है न कोई गुणस्थान है न मार्गणास्थान है न उदय, बंध व सत्ताके अचेतन स्थान हैं, न वहां श्रावकाचार है न मुनि चारित्र है, न वहां वहां उपदेश है न विचार है, न ध्यान है न धारणा है, न यम है न नियम है, न कोई आसन है न कोई विकार है, न कोई नय है न प्रमाण है, न कोई संकल्प है न विकल्प है—वह सम्यक्त्व परमज्ञान स्वरूप है, परम समता रूप है, परम शांत स्वरूप है, परम निर्ग्रंथ रूप है, परम योगस्वरूप है, परमानंदरूप है, परम रत्नत्रय स्वरूप है, परम प्रकाश रूप है, परमातम रूप है, परमेश्वर रूप है, परम गुणसागर रूप है, परम वचनातीत है और परम अनुभव गोचर है। उस सम्यग्तत्वको ही ग्रहण कर उसीमें रमनेवाला सर्व बाधाओंसे छूट कर परम सुखासनपर आरूढ़ होजाता है और जिस आनन्दका लाभ करता है उसका कथन कोई कर नहीं सक्ता। जो जाने सो जाने, जो माने सो माने, जो श्रद्धे सो श्रद्धे, जो रमें सो रमें।

१५९--समरस।

परम प्रतापी आत्मा सर्व सांसारिक रसोंके व्यापारसे भिन्न हो एक समरसके अनुभवमें इसी लिये लीन है कि वहां साक्षात् आनंद और शांतिका निवास है । कोई प्रकारका संकल्प विकल्प व चिंता जाल वहां नहीं है । कोई प्रकार मल व कालिमा जहां नहीं है । वह समरस परम स्वच्छ है । उसमें लोकालोकके सर्व पदार्थ अपने सच्चे रूपको यथावत् झलकाते हैं । अनेक प्रकार भेषोंमें छिपे हुए जीव पुद्गल भी वहां अपनी निज सूरतको गुप्त नहीं रख सक्ते । जगतके मूढ़ लोग भेषोंमेंसे मनोज्ञमें राग और अमनोज्ञमें द्वेष करते हैं । ज्ञानी जब भेषोंमें छिपे हुए द्रव्योंको अलग२ जान लेता है तब कोई न मनोज्ञ भासता है न अमनोज्ञ । अनात्मा अनात्मारूप और आत्मा आत्मारूप, सब सदृश अपनी जातीयताको रखते हुए प्रगट होते हैं। इस समरसकी ऐसी ही महिमा है कि इसमें वीतरागताका ही झलकाव रहता है । समरसका स्वाद परम निराकुल तथा संतोषप्रद है । इसीमें आत्माके अनुभवकी कला जगती है । यही सार अविकार और परम गुणाधार है । जो समरस स्वादी हैं वे ही परम वैरागी और परम ज्ञानी तथा परम आनंदी हैं ।

१६०--अमर रस।

परम शुद्ध स्वरूप धारी ज्ञानी आत्माका स्वाद जिस व्यक्तिको आता है वह उस अमर रसका पान करता है जिसका वर्णन किसी शब्द, वाक्य या रचनासे हो नहीं सक्ता। वास्तवमें देखा जावे तो शब्दोंमें असली भावोंको बतानेकी शक्ति नहीं है । असली भाव पदार्थमें रहते हैं उनका ठीक२ समझना भी किसी ज्ञानीके ज्ञानका

ही कार्य है। शब्द मात्र एक संकेत करते हैं। जहां सकल्पविकल्प रूपी मन भी पहुंच नहीं सक्ता वहां वचनकी गम्य कहांसे होसक्ती है। ज्ञाताका ज्ञान ही ज्ञाताके गुणोंको जान सक्ता और अनुभव कर सक्ता है। ज्ञान जानता है यह कहना भी असत्य ही है-जो वस्तु अपने स्वभावमें रहनेवाली है उसे यह कहना कि यह ऐसा वैसा करती है केवल कल्पना भाव है। कल्पनासे अतीत पदार्थका पूर्ण मौन सहित रहना अनुभवकर्ताको एक अपूर्व आनद करता है जिसको भोगते हुए वह भोक्ता न विचारता, न बोलता, न कुछ शारीरिक क्रिया करता है। उसकी महिमा वही जाने; उसके रसको वही पहचाने, यही अनुभवमें आनेवाला अमर रस सदाके लिये अजरामर शुद्ध भाव व पदमें रखनेवाला है।

१६१--सत्य पथ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित हो जब अपने स्वरूपको विचारता है तब वहीं अपने सच्चे आदर्शको स्वय पालेता है। अपने स्वरूप विकाशका जो कोई सत्य पथ है वह आप ही है दूसरा नही। ऐसा दृढ़ भाव होते ही उसका सारा भ्रम निकल जाता है और वह सुखशातिको अपनेमें ही पाकर परम संतोषित होजाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र ऐसा तीन प्रकार मोक्षमार्ग व्यवहार दृष्टिसे कहा जाता है पर निश्चयसे इन तीन स्वभाव रूप यह आत्मा ही है। यही सत्य पथ साक्षात् मोक्षका सरल मार्ग है। भेदज्ञान द्वारा विचारते ही सर्वसे भिन्न आप अलग दिखलाई देता है। सच पूछा जाय तो यह आत्माराम स्वयं त्रिकाल अबाधित अमिट अपने असल स्वरूपको लिये हुए है। इसमें बन्ध मोक्षकी कोई

कथा नहीं होसक्ती। यह स्वयं मोक्ष स्वरूप है। इसका अनुभव जिनको है वे ही आत्मज्ञानी, सुखी तथा वीतरागी हैं। उनकी ज्ञान कला उन्हें परमामृत पिलाती है जिससे परम तृप्तिका लाभ होता है। इस ज्ञान कलाको सत्य पथ कहो चाहे सत्य घर कहो जो कहो सो ठीक है। जो इस मार्गपर चलते हैं वे ही निश्चय धर्मके मननकर्ता हैं।

१६२—परम तप।

एक तपस्वी तीन दरकी गुफाके भीतर बैठा हुआ किसी प्रकारकी इच्छा न रखता हुआ, बडी ही शांति और वीतरागतासे तप कर रहा है उसके तपमें उसीकी निज सामग्री है। किसी भी प्रकारकी परकी सामग्रीका वहां कोई सम्बन्ध नहीं है। उस तपस्वीके अनेक शिष्य जो अपने गुरुके अनन्य भक्त हैं सदा साथ रहते है जैसे—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव; सम्यग्दर्शन सम्यग्चारित्र आदि। इसका तप कभी समाप्त होनेवाला नहीं। इस तपका कभी विच्छेद नही। इस तपसे तपसीको किसी प्रकारकी क्षुधात्रसा नहीं सताती है क्योंकि उसको आत्मानुभव जन्य परम अमृतका स्वाद निरंतर मिलता है। इस तपस्वीके तपमें कोई भी विकल्प नहीं है। पूर्ण निर्विकल्पता, पूर्ण शांतता तथा पूर्ण समताका वहां झलकाव है। अपने आप ही अपनेमें तिष्ठा हुआ स्वसंवित्तिकी अग्निमें अपनेको तपाता हुआ जिस आनन्दका भोग कर रहा है उसका वर्णन किसी तरह हो नहीं सक्ता। जो ऐसा आत्मतप तपे सो जाने, और कोई क्या जाने।

१६३-साम्यभाव।

परम योगीश्वर परम निरंजन परम शांत परम ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे शून्य अपने समान अब देखने लगता है तो उसे तीन लोकमें व्याप्त सभी जीव अपने समान दिखलाई पड़ते हैं। उनका स्वभाव और इसका स्वभाव बिलकुल एक है। न कोई किसीका शत्रु न कोई किसीका मित्र दीखता है। न कहीं द्वेष झलकता है। रागद्वेष रूप होकर परिणमना ही असाम्यता है। जब सब समान हैं तब वहां वीतरागता अवश्य है। इस तरह साम्यभावकी सामग्री एकत्र कर ज्यों ही इस आत्माको अपने आपमें स्थिरता होती है त्यों ही इसको परम अद्वैतभावकी प्राप्ति होती है। जिस भावमें सिवाय एक रसके और रस नहीं मालूम होता-परम अध्यात्मरसका परम निर्मल जल जहा बहता है-उस परम शांत धारामें उपयोगका स्नान कराना व उसके निर्मल जलको पीना इस समान और उसे कोई कार्य नहीं दीखता है। इसी दशामें स्वानुभाव है व इसे ही निश्चयधर्मका मनन कहते है।

१६४-शिव मार्ग।

परम सुखदाई ज्ञानानदी निजात्माका दर्शन ही शिवमार्ग है। यह शिवमार्ग जिसमें है उसीमें शिवका निवास है। शिवमार्ग परम सरल वक्रता रहित है। ज्ञानी आंख मीचकर एक दफे उसपर आरूढ़ होनेहीसे उस चल सक्ता है। और विना किसी रोकटोकके पहुँच सक्ता है। इस मार्गमें संकल्प विकल्परूप काटे नहीं हैं न इसमें प्रमाण और नयके विश्रांति स्थान है न नामादि निक्षेपरूप उतार चढ़ावके कहीं ठिकाने हैं। विकल्प रहित अभेद रत्नत्रयकी ज्योतिसे

परम प्रकाशमान यह मार्ग परम शांत व परम सुखदाई है। कहींपर भी क्रोध, मान, माया, लोभके मलीन पानीका दर्शन नही है। जहां देखो वहां अमृतमई स्वानुभवरूपी जल भरा मिलता है। मोक्षमार्गी पथिक इस जलसे ही स्नान करता व इस ही जलको पीता है। इस जलके सामने विषयभोगका जल बिलकुल खारा भासता है। जो इस भेदको पहचानता है वही निश्चय धर्मका मननकर्ता साधु है।

१६५-रस पान।

अद्भुत आनन्दका विलासी परम योगेश्वर ज्ञानमई आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित हो जब स्वस्वरूप वेदनकी तरफ सन्मुख होता है तब अपनेमें ही एक ऐसे मिष्ट जलके भरे हुए अथाह समुद्रको पाता है कि जिसके सदृश तीन जगतमें कोई भी समुद्र नही है-उसके निर्मल जलके रसका पान करता हुआ यह सुखसंपूर्ण आत्मा सर्व बाधाओंके विकल्प व नामसे भी शून्य हो रहा है। उसकी महिमा उसीमें ही प्राप्त है। संसारमें दुग्धादि षट्रस जिस रसको पा नहीं सक्के-ये छहों रस तृष्णा वर्धक तथा आकुलताके साधक हैं किंतु यह आत्मीक रस तृप्तिकारी तथा निराकुलताका भंडार है। यह रस स्वाधीन है जब कि छः रस पराधीन हैं। वह क्षयोपशमिक ज्ञान जो इन छः रसोंको ग्रहण करता है क्रमवर्ती तथा परोक्ष होनेसे आत्माका स्वभाव नहीं है। निजात्मीक रसका अनुभव इंद्रिय तथा मनके अगोचर स्वस्वरूपके ही गम्य है। स्वरस पान जैसा सिद्ध करते है व जैसा अरहंत, आचार्य, उपाध्याय व साधु करते हैं व जैसा एक सम्यक्ती करता है वैसा मैं करता हूं और अपने ज्ञानानन्दमें संतोषी होता हूं।

१६६--अभेदानुभव।

एक व्यक्ति सर्व संशयोंको दूरकर जब एक वनमें चला जाता है तब दूरसे उस वनमें भिन्न२ जातिके वृक्षोंके रहते हुए भी उन सबको वृक्ष सामान्य रूप अनुभव करके उनकी मनोहर शोभासे संतुष्टायमान होजाता है और उपवनानन्दमें मगन होजाता है। इसी तरह एक सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा आत्माके उपवनमें अनन्त गुणरूपी वृक्षोंके भिन्न२ होते हुए भी गुण सामान्यसे सबके समुदायको एक अभेदरूप अनुभव करनेसे उस आत्मारूपी उपवनकी परम शोभाके अनुभवमें परमानंदित हो मगन होजाता है। जब यह व्यक्ति इस आनन्दमई शोभामें लुब्धायमान होता है तब इसका उपयोग अन्य अनात्मीय पदार्थोंसे बिलकुल छूटा हुआ है। इसके उपयोग सिवाय आत्मरसके और किसी रसका वेदन नहीं होता। यही रसास्वाद अभेदानुभव और परम उपादेय है।

१६७--परमरस।

परम अध्यात्मयोगी एक चैतन्य प्रभु सर्व संकल्प विकल्पोंको छोड़कर और षट्रसोंके स्वादसे उन्मुख होकर जब निजात्मीक अतीन्द्रिय आनन्द रसके स्वादमें लवलीन हो जाता है तब एक विलक्षण भेदकला जग जाती है--जिस कलासे यह अपने स्वानुभव गढ़में अनन्तकालके लिये विश्रांति पा लेता है। उस गढ़में न रागादि भाव कर्म, न ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म न शरीरादि नो कर्मोंका प्रवेश होता है। उस गढ़में परम निर्मल आत्मीक गुणोंकी सेना है जिसका सेनापति यह आप स्वयं होरहा है। यह सेनापति

अपने गुणरूप सिपाहियोंकी आप स्वयं कवायद कराता है। वे सर्व परम समता व शांत भावसे विना किसी विरोधके निवास करते हैं। आत्मीक रससे पूर्ण कलशकी तरह भरा हुआ यह आत्मा अपने ही स्वभावमें तृप्त होता हुआ परम कृतार्थ और सुखिया बना रहता है। यह अहं ब्रह्मके विकल्पसे भी शून्य है। यहीं परम रसका निरंतर बहाव है।

१६८—पापहरणी गंगा।

एक पापी आत्मा अपना पाप धोनेके लिये सर्वजलमयी गंगाओंको त्याग कर क्योंकि वे सब शरीरके ऊपरी मलको ही धोनेवाली होती हैं, अपनी ही निर्मल आत्मानंदामृत जलसे परिपूर्ण आतमगंगामें प्रवेश करता है। अपने निजस्वरूपमें प्रवेश करते ही ज्योंही द्रव्यार्थिक नयसे आत्माका मनन करके कि यह स्वयं परमात्मा, परब्रह्म, ज्ञाता दृष्टा, अविनाशी, अमूर्तिक, क्रोधादि विकार रहित, अखंड, गुणपर्यय स्वरूप तथा परम निर्मल है उस आतमगंगाके अनुभवमें गोता लगाता है त्योंही बहुतसा कर्ममल छूट जाता है। ऐसा गोता वारवार लगाना पापमलको अधिकतासे धोना और साथ ही परम साम्य, शांत और अदभुत आनदका स्वाद पाना है। इस पापहरणी गंगाका उदय जिस हिमाचलसे होता है वह स्वय गंगामय है—नाममें भेद है—वस्तुतः एक हैं। जो भव्य जीव नित्यप्रति ऐसी गंगामें स्नान करते, इसीका ही पौष्टिक स्वरस पान करते, व इसीके भीतर रात्रिदिन निवास कर इसीकी ज्ञान वैराग्यमई तरगोंका आनंद लूटते वे ही एक दिन स्वयं निर्मल स्फटिकवत् झलककर परमपवित्र और सिद्ध भावके सुखदाई आराममें पहुंच जाते हैं।

१६९--चिद्विलास।

परम आनन्द रसधारी, गुणभंडारी, सर्व विषयवासनाके विलाससे रहित जब अपने आपके स्वरूपमें तन्मयताका भाव करता है तब यकायक चिद्विलासमें पहुंच जाता है। जहांपर चेतन्य गुण अपनी पूर्ण शक्तिको लिये प्रकाशमान हैं-वहांपर स्वगुणकी निर्मलता भी अद्भुत है जहांपर किसी भी तरहका रागद्वेष नजर नहीं आता है, किन्तु वीतरागताका जहां पूर्ण संचार है ऐसी परम शांततामई आनंदामृत जलसे पूर्ण ज्ञान समुद्रमें स्नान सर्व बाधाओंका निवारक व सुख विस्तारक है। इस चिद्विलासके रसमें वे ही हस कल्लोल करते हैं जिनको स्व और परका भेदविज्ञान होगया है। जिनकी दृष्टिमें अपने आपका स्वरूप भलेप्रकार जैसाका तेसा गड़ गया है। तथा स्वस्वरूपका ध्यान ऐसा होगया है कि उसके सामने सिवाय अपने आत्माके सच्चे स्वरूपके और कोई नजर ही नहीं आता।

१७०--परमेश्वरका आसन।

हम जब सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करते हैं कि परमेश्वर कौन, कहां व उसका आसन कैसा है तो पता चलता है कि मैं ही परमेश्वर हूं, मैं मेरे शरीरमें हूं, मेरे आत्माके असंख्याते प्रदेशोंका आसन ही मेरा या परमेश्वरका आसन है। इस परमेश्वरमे निरतर परम ऐश्वर्यका ही विलास है। इसके सर्वांगमें मिथ्यात्वकी कालिमासे शून्य सम्यग्दर्शन है, मिथ्याज्ञान व अज्ञानके मेलसे रहित सम्यग्ज्ञान है, तथा मिथ्याचारित्र व चारित्रमोहनीसे रहित सम्यक्चारित्र है। ये परमात्मा इन अति मनोहर तीन गुणोंसे शोभाय-

मान है इसी तरह इस अपने परमेश्वरमें दशलाक्षणी धर्मका निवास है-ये भी दशलक्षण इसके सर्वांगमें व्यापक हैं, क्रोध कषायका अभाव होनेसे उत्तम क्षमा संपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें अपनी परम शांतता लिये विराज रही है। मान कषायके नामोंनिशान न होनेसे उत्तम मार्दव रूप स्वाभाविक कोमलता विना कर्मी विकारके कल्लोल कर रही है। माया कषायकी वक्रता न होनेसे उत्तम आर्जव रूप स्वाभाविक सरलता जहां जैसा वस्तुओंका स्वरूप है वैसा ही झलकता है प्रगट हो रही है। लोभ कषायकी रगतका पता न चलनेसे वहां उत्तम शौच धर्म अपनी परम पवित्रता, परम तृप्तता, अपनी परम कृतकृत्यताको दर्शाकर जगमगा रहा है। असत्यका भाव बिलकुल न होनेसे उस प्रभुमें जैसे ऊपर कहे चार गुण व्यापक हैं वैसे उत्तम सत्यता भी व्यापक है जिससे कोई असत्यता व अवास्तविकपना, अयथार्थपना वहां नजर नहीं आता। सत्‌रूपी अनन्तगुण अपनी सत् पर्यायोंको दिखलाते हुए कल्लोल कर रहे है। मनवचनकाय व कषायका जहां कुछ भी सम्बन्ध न होनेसे उत्तम संयम धर्म अपनी गाढ़ अभेद्य अछेद्य परिणतिमें इस तरह विलास कर रहा है कि अपनी सर्वांग आधारभूत आत्मभूमिमें किसी भी कर्म नोकर्मको आने नहीं देता है। मोहका सर्वथा अभाव होनेसे इच्छा जहां किसी तरहकी भी नहीं है ऐसे आत्मामें अपने आत्माके अपने ही आत्माके निश्चय रत्नत्रयमई आत्मानुभव रूपी अग्निमें तपनारूप उत्तम तप परम शोभाको विस्तार कर दमक रहा है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभावकी अपेक्षासे मेरा जो कुछ है सो मुझमें है, मेरेमें परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभावका लेशमात्र भी नहीं

है इस तरह स्वभावसे ही उत्तम त्याग धर्म मेरेमें बहुत ह आद-रभावसे शोभायमान होरहा है। इस जगतमें अन्य कोई परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। जो कुछ मेरा है सो मेरे पास है वह मुझसे न छूटता है न मेरेमें कोई दूसरा आता है ऐसा मेरा स्वभाव ही उत्तम आर्किचन धर्ममय है सो परम प्रकाशको लिये हुए झलक रहा है। मैं स्वयं ब्रह्मस्वरूप हूं—मेरी चर्य्या अर्थात परिणमन सदा अपने आपमें ही है। मैं अपने परिणमनसे कभी भी रहित नहीं होता हूं। अपना शील स्वभाव स्वय ही यथावत् वन रहा है। इस तरह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्ममें मै पूर्णतया झलकता हुआ परमानदमें मगन हूं। इस तरह मैं स्वयं दशलक्षण धर्ममय हूं। ये दशों धर्म मेरे सर्वांगमें व्यापक हैं! मै स्वयं परमेश्वर हूं। मैं ही स्वयं परमे-श्वरका परम अखड अविनाशी आसन हूं। मैं इसी आसनपर बैठकर सदा अपने आत्मीक रसका पान करता हुआ परम तृप्त रहता हूं।

१७१—क्षमावणीमें उत्तम क्षमा।

आज इस आत्माके लिये रत्नत्रय भक्तिकी पूर्णताका दिन है। आज यह साक्षात् रत्नत्रय स्वरूप प्रकाशमान है। आज इसकी अवगाहनामें कषायोंका अशमात्र भी नहीं झलकता है। इसीलिये परम उत्तम क्षमाका यहां पूर्ण राज्य होरहा है। भले ही दूसरे इस पर क्षमा करें या न करें इसे कोई मतलब नहीं है। परन्तु इसकी ओरसे तो सर्व प्राणियोंपर परम क्षमा है। यह शांतिके सुखदाई समुद्रमें डूब रहा है। इसके प्रदेशोंमें कोई अपराध नहीं है जिसके लिये इसे प्रायश्चित्त व दड लेने व पश्चात्ताप करने या क्षमा मांग-नेकी जरूरत होवे। अपने शुद्ध ज्ञानानंदमई स्वभावकी आराधनासे

बाहर होना अपराध कहलाता है। परम प्रभु आत्मा सदा ही अपने स्वभावमें निश्चल है। इसीलिये इसे परमात्मा, परब्रह्म, परमानन्दी, शुद्ध, परम साम्य, परमाह्लादी, परम गुरु तथा परम सार और परमाराध्य कहते हैं—स्वानुभूतिमें तन्मयी प्रभूके लिये न कोई अपराध है न कोई क्षमा है। ऐसे परमसार रत्नत्रय स्वरूप भगवान-आत्माका अनुभव ही निश्चय धर्मका मनन है।

१७२—परम शांति।

जगतसे जिसका ममत्व नहीं तथा जो निज अनुपम स्वभावका धारी है उस परम पुरुष आत्मारामका निज भूमिकामें कल्लोल करना परम शांति तथा सुखका निवास है—उसमें किसी प्रकारकी कोई कालिमा व कलुषता नहीं है। उस आत्माकी सत्तामें परमाणु मात्र भी अन्य द्रव्यका सम्बन्ध नहीं है। वह आप आपी अपनेमें एक तरहके अतींद्रिय आनंद अमृतको उत्पन्न करता है और उसे आप ही पीता है—और आप ही परम सन्तोषको प्राप्त करता है। उसमें कोई दुविधा नहीं है न संसारकी संतप्तता है। वहां परम शांतिका ही राज्य है। उपयोग रूपी पथिक भव-वासके भ्रमणसे थका हुआ और आकुलताके जालमें फँसा हुआ यकायक जब उस परम शांतिके समुद्र आत्मसरोवरमें गोता लगाता है, सारी आकुलताको मिटा पाता है तथा स्वयं परम शांत हो जाता है। संसारकी ठड़ीसे ठंडी चीज भी उस शांतिका मुकाबला नहीं कर सकी। जय हो इस परम शांतिकी जिसमें सिद्ध सदा निमग्न रहते हैं और हरहक आत्मा भी निमग्न है। इस आत्माको परम शांत अनुभव करना ही निश्चय धर्मका मनन है।

१७३--परम वीर.

जो कोई आत्मा अपने स्वरूप संवेदनमें उत्साहवान है और स्वरूप प्राप्तिके लिये परम श्रद्धावान है वह जब कषायोंकी रंगतमें नहीं रंगता तथा कर्म-बंधनोंको काटनेकी दृढ़ भावना करता है उसे ही वीर कहना चाहिये। ऐसा ही वीर सम्यग्दृष्टी जीव अपने स्वरूपको ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म तथा रागद्वेषादि भाव कर्मोंसे जुदा परमवीर श्रद्धता, जानता तथा अनुभवता है जिस श्रद्धान-ज्ञान-चारित्रके बलसे यह परम आनंदका लाभ करता हुआ परिणमन किया करता है। उस परिणमनमें संपूर्ण आत्मशक्तियोंका विकाश होता है। इस परम धारावाही ज्ञानके प्रतापसे एक ऐसी ढाल ज्ञानीके हाथमें होजाती है कि जिस ढालके सामने कर्मोंके कोई आक्रमण असर नहीं करते है। वे कर्म स्वयं ही इस वीरके स्वसंवेदन ज्ञान रूपी मंत्रके प्रभावसे शिथिल पड़ते पड़ते गिरने, पड़ने तथा भागने लगते हैं। इस वीरके वीर्यका विकाश और अधिक होता है तब कर्मोंके चिन्ह नहीं मिलते और यह साक्षात् परम वीर वनमें तिष्ठा हुआ स्वस्वरूपमें कल्लोल करता है।

१७४--प्रकाश.

भव विपिनमें भ्रमण कर्ता एक व्यक्ति ज्यों ही अपनी सत्ताकी सम्हाल करता है त्यों ही अपने भीतर एक ऐसे प्रकाशका उजाला पाता है जिसमे मिथ्यात्वका अंधकार ढूंढे भी नही मिलता है। उस प्रकाशके सहारे यह छः द्रव्यमयी जगत अपना अलग २ स्वरूप जैसाका तैसा दिखा देता है। पहले जो अंधकारमें पदार्थ यथार्थ नहीं भासते थे वे सब ज्योंके त्यों ठीक२ साफ२ मालूम

होरहे हैं। किसी तरहकी भ्रमबुद्धि अब नहीं रही है। दीपक सम स्वपर प्रकाशन ज्ञानने यह भले प्रकार बता दिया है कि आत्माराम जिसका इस देहमें मुकाम है एक शुद्ध स्फटिकवत् परम ज्योतिमई व आनंदमई अद्भुत पदार्थ है, जिसमें अतीन्द्रिय आनदका अमृत मई रस कूट कूट कर भरा हुआ है। स्वसुख भोक्ताके लिये स्वभावमें स्थितिके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। मैं ही पूजक, मैं ही पूज्य, मैं ही ध्याता, मैं ही ध्येय, मैं ही कारण, मैं ही कार्य, मैं ही उपादान, मैं ही उपादेय, मैं ही धर्मी, मै ही धर्म इन कल्पनाओंसे जो बाहर होगया है वही व्यक्ति निश्चयधर्मका मनन करके परम सुखका लाभ कर सक्ता है।

१७५–परमार्थ।

परमात्म स्वरूपधारी ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे दूर रह अपने परमार्थ स्वभावमें तन्मय है। जगतमें जितने पदार्थ हैं वे सब अपने स्वराज्यकी सत्तासे बाहर है। मेरा आत्मा भी इसी माफिक अपनी अमूल्य गुणावलीमें तिष्ठा हुआ है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं होसक्ता जो मेरे इस स्वभावको विपरीत कर सके। अनादिकालसे कर्मोंका सम्बन्ध रहा परन्तु कर्मवर्गणा मेरे इस स्वभावको कुछ विगाड़ न सकी। मैं सदाका ही परमात्मा हू, भूत, भविष्य, वर्तमान तीन कालके कर्मबन्धनोंसे निराला हू। मेरी महिमा वही जाने जो वस्तुके सत् स्वभावको पहचाने। वास्तवमें मैं अपनी महिमाको आप ही जानता हूं। अपने स्वरूपसे उत्पन्न आनन्दरूपी अमृतका परम मिष्ट स्वाद लेनेके लिये मैं सर्व झगड़ोंसे अलग होकर अपनी ही महिमामें रमता हूं–अपने ही मनोहर शुद्ध

गुणरूपी वृक्षोंसे सकीर्ण आत्म उपवनके भीतर कल्लोल करता हूं। यही स्वारामक्रीडा स्वरूप संवेदन व परमात्माका ध्यान है। यही अनुपम सुखदायी और परम सारता विस्तारनेवाला है। यही परमार्थ है क्योंकि यही परमार्थका साधन है, यही निश्चयधर्म और यही सुखशांतिका समुद्र है।

१७६--परम समता।

ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालसे रहित हो जब अपनी स्वरूपकी आभाको देखता है तब यकायक परमानन्दका लाभ प्राप्त कर लेता है--उसके भावमें रागद्वेषकी कालिमा नहीं नजर आती है। असमताका मूल कषायका बल है। जहां स्वरूप सन्मुखता है वहां परम समता है। परम समता षट्द्रव्यमई लोकको अपने स्वरूपमें पाती है। उसे नीच, ऊँच, बड़े छोटे, सुन्दर असुन्दरकी कल्पना नहीं होती। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टि सर्व ही आत्माओंको शुद्ध दिखाती है। परम समताके लाभकी यही दृष्टि बीज है। इसी बीजसे आत्मानुभवरूपी वृक्ष बढता है। जिस वृक्षका फल परम कल्याणकारिणी अपनी ही शुद्धताकी अनंतकालीन रहनेवाली गंध है। इसी गन्धका आशक्त भव्य जीव कमलकी गन्धमें भ्रमर समान तन्मय होजाता है और सिवाय आत्मगंध लेनेके अन्य सर्व विकल्प जालोंसे बिलकुल शून्य होजाता है, और तब ही स्वात्मानुभूतिसे परम समता और सुखका लाभ करता है।

१७७--प्रेमभाव।

यदि कोई परम धैर्यके साथ विचार करता है तो उसको यह दिखता है कि संपूर्ण जगतके आत्माओंसे मेरा प्रेम भाव है।

क्योंकि जिसने आत्मीकगुणोंके समान सर्वकी आत्माके गुणोंको जाना है-जिसने अपने आत्मीक गुणोंके साथ प्रेम पैदा किया है-उसका प्रेम अवश्यम्भावी सर्व आत्माओंसे होगा। ऐसा एक विद्वान व्यक्ति परम प्रेमभावमें रंजित होकर अपने भीतर एक प्रेममयी परमशांत आनन्दसागर बना लेता है जिसके भीतर ही स्नान करता है। उसीका ही निर्मल जलपान करता है। तथा उसीमें ही क्रीड़ा करता है। उसका सर्व ध्यान और सर्व तरफसे हट गया है। एक मात्र अपने स्वरूपमें ही स्थिरीभूत होगया है। प्रेमभावकी अमृतमई घूंटीका पान करते करते इस प्रेमालुको परम संतोष है। तौभी यह इस अमृतपानको नहीं त्यागता-परम मनोहर सुखमई सुन्दरताकी शोभामें यह ऐसा लवलीन है कि इसे सिवाय अपने आपके और कोई दिखता भी नहीं। परम अद्वैत भावके रंगमें एकताई प्राप्त किये हुए जिस आत्मानुभवके शांत रसका लाभ प्राप्त करता है उसका वर्णन किसी तरह हो नहीं सक्ता-वह स्वानुभवगोचर ही है-जो जाने सो जाने, जो माने सो माने, जो अनुभवे सो अनुभवे।

१७८-उपशम भाव।

परम योगीन्द्र ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित हो जब एक परम निर्मल आत्मसरोवरमें स्नान करता है तब इसको परम उपशम भावका लाभ होता है। आत्मसरोवरमें गुणरूपी जल अनेक अद्भुत शक्तियोंको रखनेवाला मौजूद है। इस जलसमूहमें रागद्वेषादि कोई विकलत्रय जीव नहीं हैं न इसमें कर्मरूपी मल है। यह सरोवर परम शुद्ध स्वभावमई साक्षात परमात्मावत् पवित्र है।

न इसमें कोई वर्ण, गंध, रस, स्पर्श है इसीसे इसे अमूर्तिक कहते हैं। यह क्षीर समुद्रवत निर्मल है जिसके जलसे तीर्थंकर सम आत्माका अभिषेक होता है। सच पूछो तो स्नान कर्ता अपने ही आपमें स्नान करता हुआ तथा अन्य किसीकी तरफ ध्यान न करता हुआ जिस परम शांतिका लाभ कर रहा है उसका वर्णन नहीं हो सक्ता। इस परम उपशम भावमें सच्चा ज्ञान व सच्चा श्रद्धान व सच्चा चारित्र दमक रहा है। जिनवाणी द्वादशागका सार रूप जो भाव श्रुत है सो इसी भावमें रमण कररहा है। यही भाव साक्षात् केवल क्षायिक भाव है। यही भाव वचन अगोचर परमानदका अनुभव कराता है।

१७९--परमार्थ मार्ग।

भलेप्रकार विचारनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि निश्चय धर्म अपने ही आत्माका स्वभाव है, किसी पर द्रव्यसे पैदा नहीं होता, न किसीसे मिल सक्ता है। जब भेद ज्ञानके बलसे अपनी वस्तुको अलग कर लिया जाय तब ही वह स्वभाव स्पष्टपने भिन्न२ झलक जाता है। एक ससार पतित आत्माके लिये यही परमार्थ मार्ग है कि वह निश्चय धर्मको पुनः पुन देखे और मनन करे। मैं शुद्ध ज्ञाता दृष्टा अविनाशी अमूर्तीक आनंद स्वभावी परमशांत परम स्वरसवेदी निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्रमई एक अखण्ड अनन्त सामान्य विशेषात्मक गुणोंका समुदाय रूप चैतन्य-धातु पिड हूं- इसके सिवाय अन्य कोई रूप नहीं हू। जो हूं सो था सो ही सदा रहूंगा। मेरी गुण सम्पत्तिका कभी वियोग नहीं हुआ न है न कभी होगा। ऐसा ही अनुभवना निश्चय धर्म प्रगटताका निश्चय व पर- मार्थ मार्ग है इस मार्गका अनुयायी परम तीर्थ मार्गका चलनेवाला

होता है। वह सर्व संकटो व विभावोंके जालोंसे अपनेको भिन्न देखकर सदा सुखी और निराकुल रहता है। वही निर्मल पानीको पीता है और उस पानीके सच्चे स्वादको प्राप्त करता है। इस स्वादमें षट् रसका स्वाद न रहनेपर भी आत्मीक आनंदका अद्भुत स्वाद होता है। जो जाने वही जाने, वही अपने आपको माने, वही सच्चा परमात्मा स्वरूप पहिचाने।

१८०-अनेकान्त।

परम पूज्यनीय परम सुखदायी परमज्ञानी आत्मा जब अपने चैतन्यमई तनको देखता है तो अनेकान्तसे व्याप्त पाता है। अनेक अन्त अर्थात् धर्म अर्थात् स्वभाव जिसमें हो उसे अनेकांत कहते हैं। आत्मा अनन्त गुणोंका समुदायरूप एक अखंड ज्ञानपिंड है। इसकी महिमा इसकी इसहीमें है। इसकी अनेकान्तताका वर्णन किसी भी तरह किया नहीं जासक्ता-वचनोंकी शक्तिसे बाहर है। वास्तवमें वस्तुका स्वरूप अनुभवगम्य है। जो कोई अपने आपको सर्व परद्रव्योंसे भिन्न अवलोकन करता है अर्थात् अपने उपयोगको मात्र एक आत्मा हीके सन्मुख रखता है उसे उसी समय स्वरूपका साक्षात्कार होजाता है-विकल्प दशामें जो अनेकांत रूप झलकता था वही निर्विकल्प स्वात्मानुभवकी दशामें अनेकांत एकांत आदिसे शून्य कैसा भासता है सो अनुभवकर्ता ही जाने-वह स्वरूप वचनोंसे अगोचर है तो भी एक मोक्षार्थी व्यक्ति अनेकांतकी शरण ले आत्मपदार्थका मनन किया करता है। जब आप ही आप अपने आपमें स्थिर होजाता है तब आप आपका ही आश्रय है। यही निज आत्मभूमि परम सुखदाई और मनोहारिणी है।

१८१--अकाम भाव।

परमयोगी परम स्वतंत्र परम साधु परमानदमई आत्मा सर्व प्रपंच जालोंसे रहित हुआ तथा सर्व इच्छाओंसे बाहर ठहरा हुआ एक आश्चर्यकारी अकाम भावमें लौलीन है। इच्छाकी सत्ताके अभावको अकाम भाव कहते हैं। इस भावकी सत्तामें परम आध्यात्मिक भाव है। इसीमें वह अनुभव दशा है जहां सिवाय आप स्वभावके और किसीका स्वाद नहीं आता है। जहां सिवाय निर्मलताके मलका कोई काम नहीं है, जहा सिवाय शांतिके कोई अशान्त नही है। अकामभाव परमात्माका और मेरा निज स्वाभाविक भाव है। जो कोई परवस्तु मेरी कभी है नही, थी नही, होगी नहीं उसकी इच्छा भी क्यों हो ? यदि इच्छा हो तो वह बाधक है, किसी भी तरह साधक नही है। जैसे निर्मल पानीमें किंचित् भी रजका सम्बध उसकी स्वच्छताका निरोधक है वैसे ही निर्मल आत्मामें कोई भी मोहका रज उसकी पवित्रताका निरोधक है। अतएव मै सर्व विभाव भावोंको त्यागकर अपने ही स्वरूपकी महिमामें निश्चलतासे वर्तन करता हू और परमानन्दका विलास करता हू।

१८२--परम शुद्धता।

जहांतक विचार कर देखा जाता है परम शुद्धता इस हमारी आत्मामें ही वास कर रही है। हमको निर्मल जलके लिये कहीं अन्य स्थानमें जानेकी जरूरत नहीं है। हमारे ही पास शांति और आनंदका समुद्र है। यद्यपि इसपर कर्मका कादा छाया हुआ है पर जब वुद्धिपूर्वक कर्मके कीचको दूरकर देखा जाता है तो सुख-समुद्र आप स्वयं हो ही रहा है। इस सुख समुद्र आत्मामें किसी

भी प्रकारकी अशुद्धता नहीं है किन्तु परम शुद्धता है। जो कोई इस परम शुद्धताका दर्शन करते उसहीमें तन्मय होते उसहीके स्वानुभवरूपी रसका पान करते उनको एक अपूर्व तृप्तिका भान होता है। उनको एक आश्चर्यकारी आनंदका लाभ होता है, उनकी महिमा परमसार तथा सुखदाई होजाती है। उनको एक ऐसा नशा चढ़ जाता है कि उस नशेके भीतर आशक्त हो जानेसे वे ऐसी अवस्थामें पहुंच जाते हैं कि उसका भान न उनको ही रहता है न दूसरोंको रहता है। उस दशामें हां या नाका झगड़ा नहीं रहता, निश्चय व्यवहारका विकल्प नहीं रहता। वह एक परम शातिमयी आत्मशय्या होती है जिसपर परम विष्णुरूप आत्मा संतोषसे शयन करता है और इस निद्राकी अद्भुत निराकुलताका भोग करता है।

१८३-आत्म जागृति.

मै परमानंदी ज्ञाताद्रष्टा परमसुखी सर्व आकुलताओंसे रहित सिद्धसम गुणवाला हूं। मेरेमें आत्म जागृति सदा हीसे विद्यमान है। मैं अपनी इस जागृतिके प्रकाशमें वीतरागताकी निर्मलताका और आत्मीक आनन्दके अमृतमयी भोजनका निरंतर अनुभव करता हूं। मेरे भाव मेरे अपने द्रव्यके ही परिणाम हैं। उन भावोंमें किसी पर पदार्थकी रंचमात्र भी झलक नहीं है। मै सुख सत्ता चेतन्य वोधकी शक्तियोका भंडार हूं। भले ही लोकालोक मेरे स्वभावमें झलकें। मेरा उनसे सिवाय ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धके और कोई संबंध नहीं है। मैं अपने निज असंख्यात प्रदेशोके समुदायरूप देशमें रहकर अपनी अनंतगुणरूपी प्रजा और अनन्तानन्त अविभाग परिच्छेदरूपी उनकी सामग्रीका स्वतंत्र राज्य कररहा हूं। मेरेपर कोई स्वामी नहीं है, मैं

अपनी विभूतिका आप स्वामी हूं—और उसीमें ही रमण कररहा हूं। मुझे वन्ध, मोक्ष, संवर, निर्जरा, आश्रव, बन्धसे कोई प्रयोजन नही। मेरी आत्मजागृति मुझे महा आनन्द देती हुई मेरी सत्ताका निरन्तर प्रकाश कर रही है—यही मेरे लिये एक परम सुखदायी सामग्री है जिससे निजानुभव करता हुआ मैं परम तृप्त हो रहा हूं।

१८४--परमात्मा विचार.

सर्व संकल्प-विकल्पोंसे रहित हो जो कोई अपने आत्मस्वरूपकी तरफ दृष्टि देता है उसे एक मात्र अपना भाव परमात्म विचारपर लगाना होता है। जो परमात्मा सो ही मैं, जो मैं सो ही परमात्मा यही भाव साधक भी है और बाधक भी है। क्योंकि यह भाव निर्विकल्प आत्मानुभवकी तरफ ले जानेवाला है इससे साधक है और स्वयं शुभोपयोग होनेसे बन्ध रूप है इससे बाधक है। अतएव जिसमें बन्धपना हो उसे त्याग कर मै अबन्ध रूप जो अपना शुद्ध चैतन्य भाव उसीमें ऐसा तन्मय होता हू कि वहा न कोई विचार है न कोई वचन है न कोई कायकी क्रिया है। निष्क्रिय आत्मानुभवरूप अवस्थाका विलासी परमसुखराशी शुद्ध ज्ञानानदमई प्रभूरूप स्वात्मपदधारी नि.कलंक आत्माका आत्मामें रहना ही स्वसुखका अनुपम साधन है। यहां ही वह मनोहर स्वात्मरस है जिस रसका पान परम तृप्तिकारी है व जो दुग्धादि छः रसोसे बिलकुल निराला है। इस रसके रसिक जन सर्व आपत्तियें दूर कर परम शांतिमय भावमें लवलीन होते हैं और बातकी बातमें सर्व आकुलताएँ छोड़कर परम निराकुल भावमे योगी समान ठहरे हुए मोक्षके भावको प्राप्त होजाते है।

१८५—प्रेम पुष्प।

एक चिरकालका वियोग प्राप्त व्यक्ति यकायक अपने हृदयके मनोहर उपवनमें स्वात्मानुभूति रूपी स्त्रीको देखकर अपने उपयोगके निर्मल प्रेम पुष्पको उसके परम शांत और सुखदाई करकमलमें अर्पण करता है। इस समयका प्रेम मिलाप परम मंगलकारी और परम तृप्तिकर हो रहा है। न स्वात्मानुभूतिको न उसके प्रेमकारकको सिवाय परस्परके अन्य किसी वस्तुकी खबर है। मानो संपूर्ण जगत शून्य है, है ही नहीं-इस तरहका परस्पर संगठन जिस आत्माको उपलब्ध होता है वही अपना सार जीवन करता हुआ एक अनुपम आनन्दामृतके रसका पान करता है। उसके प्रदेश प्रदेशमें उमंगकी तरंगें लहराने लगती हैं। वह अपनेको परमात्मासे किसी अंशोंमें कम नहीं जानता है। वास्तवमें वही परमात्मा है। उसकी सत्ता उसहीमें सर्वांग कल्लोल करती है। इस प्रेम पुष्पकी जय हो जो एक समयमें प्रेमकारकके द्वारा अर्पण किये जानेपर प्रेम पात्राको अपने वश कर लेता है। यही पुष्प वह शुद्धोपयोग है जहां स्वाभाविक परिणतिका विकाश है—जहां परम निर्मल भूमिका है कि जिसपर कर्म पुद्गलकी कालिमा रंच मात्र नही ठहरती है। धन्य हैं वे व्यक्ति जो इस प्रेम पुष्पसे अपनी शोभा बढ़ाते और स्वात्मप्रियाका सुखमय संगम लाभ करते हैं।

१८६—मोक्षयात्रा।

संसारयात्रामें अनादि कालका भ्रमण करनेवाला एक आत्मा जब अपनी शक्तिकी सम्हाल करता है तो आपको उस अतीन्द्रिय आनन्दका समुद्र ही देखता है जिस आनंदकी लालसासे व्याकुल

था-संसारयात्रामें विषय सुखका लोलुपी था—अब आत्मसुखका प्रेमी होगया है । और जिन अंतराय कारक कर्म बंधनोंके कारण अपने स्वभावका विलास नहीं पा रहा है उन्हीं बन्धनोंसे मोक्ष होनेकी यात्रामें चलनेका अब दृढ़ संकल्प कर लेता है और एक क्षण भी संसारकी तरफ नहीं देखता हुआ मोक्षकी तरफ अपनी दृष्टि लगाए हुए मोक्षयात्राके मार्गपर चलता है । वह मार्ग एक वचन अगोचर स्वात्मानुभव रूप ऐसा गुप्त है कि वहां प्रमाण नय निक्षेपका कोई विकल्प नहीं होता है । मैं निश्चयका मनन करता हू या व्यवहारका यह भी जहां कोई झगडा नही है । मैं सिद्धसम हू दर्शन ज्ञानचारित्र मय हूं, यह भी विकल्प वहां अवकाश नही पाता । मैं हूं या नहीं हूं या हूं और नहीं या अवक्तव्य हूं इत्यादि सप्तभंगकी भी कोई चिन्ता नहीं है— क्या है सो वही जानता है जो स्वात्मानुभव कर रहा है । उसके वचन काय मन तीनो थिर है । वास्तवमें जब मन रागद्वेषादि कल्लोलोंसे विक्षिप्त नहीं होकर निश्चल होता है तब ही निजतत्व अपने अनुभवमें आता है—दूसरे विकल्प कर्ता ऐसा समझते हैं कि इस अनुभवकर्ताके उपयोगमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र तीनों झलक रहे हैं—उसके भावमे अभेद रत्नत्रय दमक रहे हैं । इसीको मोक्ष यात्राका मार्ग कहते हैं । धन्य हैं वे वीर आत्माएं जो इस स्वानुभव रूपी मार्गपर चलकर मोक्षके अनुपम विशाल तीर्थस्थान पर पहुंचकर शिवसुन्दरीसे भेटकर अनन्तकालके लिये आप आपी आपीसे होते हुए आपमें ही निरतर आपके लिये कल्लोल करते है ।

१८७-ज्ञानमहिमा।

यह आत्मा सर्व विषय विकारोंसे हटकर जब कभी अपनी असंख्यात प्रदेशरूपी भूमिकामें देखता है तब इसे यकायक एक महिमाका दर्शन होता है कि जिसका कथन इस निर्बल मनुष्यकी जिह्वासे नहीं हो सक्ता है। इस महिमामें परमेश्वरका साक्षात् दर्शन हो जाता है। जो रूप दृष्टिमें आता है उस रूपमें जब कोई पुद्गलपनेका अंश नहीं है तब उसकी उपमा किसी भी सूर्य, चंद्रमा, रत्न आदि पुद्गलके पदार्थसे नहीं दी जा सक्ती इसीलिये वह रूप निरुपम है। यद्यपि आत्मानुभवी उस परमात्माका दर्शन करलेता है पर अपनी जड़मई जिह्वासे बिलकूल वर्णन नहीं कर सक्ता। इसीसे वह शब्द अगोचर है। तथापि संकेत मात्र जो कुछ कहा जाता है उसको सुनकर कोई सूक्ष्मदर्शी तत्वज्ञानी अपने भीतर उस आनन्दमई वस्तुको देख सके तो देख लेवे। यह उसके ज्ञानकी ही महिमा है। ज्ञानकी महिमाकी ऐसी शक्ति है कि यह उपयोग उपादेय वस्तुको ग्रहण करके उसमें उन्मत्त हो जाता है ऐसा कि उसे कुछ विचार व विकल्प ही नहीं रहता। उस समयकी लीलामें दर्शक दृश्य, पूजक पूज्य, ध्याता ध्येय, ज्ञाता ज्ञेय, अनुमाता अनुमेयका तर्क नहीं होता। यदि कुछ वचनसे कहें तो कह सक्ते हैं कि वह एक परम स्वाधीन आनंदमई ज्ञाता दृष्टा परमशांत परमतृप्त एक शुद्ध पदार्थ है जो वह है सो मैं हूं, जो मैं हूं सो वह है।

१८८-मनका मरण।

कैसा भयानक शोकका समय है कि जो मन संसार भरके संकल्प विकल्प करता था, अनेक प्रकारकी तर्कणाएं उठाता था,

पिछली वार्तोका स्मरण करता था, प्रत्यभिज्ञान द्वारा यह विकल्प करता था कि यह वही है जिसे पहले देखा था, श्रुतज्ञानकी घुड़दौड़में दौडता था, कभी किसीसे प्रसन्न हो उसे प्यार व कभी किसीसे अप्रसन्न हो द्वेष करता था तथा धर्मसाधनमें अनुरक्त हो परमात्माके स्वरूपका अथवा आत्माके स्वरूपका मनन करता था, भेद ज्ञानद्वारा आत्माके स्वरूपको अनात्माके स्वरूपसे भिन्न विचारता था तथा अनात्माको छोडकर मैं शुद्ध स्वरूप हूं, ज्ञाताद्दष्टा आनंदरूप हू इत्यादि गुणीसे गुणोंका भेद करके विचार किया करता था। वह मन आज मनके परम प्रभु आत्माके भीतर स्वानुभव रूपी खडककी चमक होते ही यकायक मरणप्राय होगया है। मूर्छित हो गया है। मनमें शक्ति नहीं जो निजानदरूपी सूर्यके उदयको सहन कर सके। दीर्घकाल तक स्वानुभवकी असिके प्रहार होनेसे मनके प्राणोंके आधार सर्व कर्मबंधन कट जाते हैं तब मनका मरण हो जाता है और आत्मा अपने पूर्ण बल आनन्द तथा ज्ञानमें तन्मय होता हुआ सिवाय आपके न कहीं जाता, न किसीको देखता, न किसीको जानता, न किसीको कर्त्ता, न किसीको भोक्ता, न किसीसे रागद्वेष करता किन्तु पूर्णानन्दमें मगन रहता है।

१८९--परमेश्वरता।

एक व्यक्ति अपने स्वरूपकी तरफ जब दृष्टि डालता है तब उसको यकायक अपनी परमेश्वरताका दर्शन हो जाता है। यह परमेश्वरता अपनेमें स्वाभाविक है--अनादि अनन्त है। किसीकी दी हुई व करी हुई नहीं है। इस पदमें जो कुछ सार है सब विद्यमान है। इसमे पूर्ण आनन्द और पूर्ण शांतिका निवास है। जहां

कोई प्रकारकी कषाय कालिमा नहीं है । कोई प्रकारकी अल्पज्ञता नहीं है । आत्मा अपने शुद्ध गुणों और पर्यायोंमें परिणमन करता है । परन्तु कभी भी अपने गुणोंकी ध्रौव्यता त्यागता नहीं। नित्यानित्यात्मक स्वभावका धारी अपनी स्वानुभूतिमें मगन रहता है। सिद्ध, शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अविकार जो कोई है सो मैं हूं—मेरे सिवाय अन्य मेरेसे विलक्षण द्रव्यमें मेरीसी प्रभुता नहीं है। मैं आप अपने ही गुणोंका स्वामी हूं। उन ही गुणोंमें मेरी सदाकालकी प्रभुता है । इस मेरी परमेश्वरतामें कर्तापनेकी कालिमा नहीं है। न यहां परके दुःख सुखोंकि भोगनेकी मलीनता है। भले ही अपनी स्वाभाविक परिणतिको करे तथा भोगे परन्तु परका कर्ताभोक्तापना इसमें नहीं है । मेरी परमेश्वरताकी भक्ति पूजन करके कोई सुख सामग्री प्राप्त करो व निज सुखके अनुभवको प्राप्त हो तौ भी मेरेमें कोई भी विकार नही होता है। यह परमेश्वरता सदा जीवित रहती हुई अपूर्व आनन्दमें तन्मय रहती है । यही इसकी प्रतिष्ठा है ।

१९०—अनन्त सुख.

परम सुखी ज्ञाता दृष्टा आत्मा अपने स्वरूपमें इस तरह तन्मय हो रहा है कि जगतमें ऐसी कोई आकर्षण शक्ति नहीं है जो उसे अपने लक्ष्य बिंदुसे हटा सके—कोई ऐसा बाजा नहीं है जो उसमे खटका कर सके व उसे फिरा सके। कोई ऐसा मंत्र नहीं है जो उस आत्माके स्वभाव परिणमनमें विकार कर सके। सुमेरु पर्वतको निश्चल कहते हैं पर वह निश्चल नहीं क्योकि उस वृहद् स्कन्धमेंसे अनेक परमाणु छूटते तथा अनेक उसमें मिलने रहते हैं। परन्तु इस असंख्यातप्रदेशी आत्मामें पूर्ण निश्चलता है, इसका ग

कोई प्रदेश भिन्न होता न कोई प्रदेश उसमें आके मिलता है। गुणोंकी भी यही अवस्था है। कोई भी नया गुण उनमें मिलता नही, कोई भी गुण उनमेंसे विछुड नहीं जाता। अतिरिक्त इसके स्वात्मानुभव जन्य परम आनन्दमें ऐसा तन्मय है कि जरा भी उस अनुभवसे सरक कर इधर उधर होता नही-ऐसी अपूर्व निश्चलता इस अखंड आत्म पदार्थ ही में है। इसके सुखकी मर्यादा अनन्त है। अनन्त कालतक भोगते हुए भी सुखकी मात्रा कभी समाप्त नहीं हो सक्ती। इस तरहका जो कोई आत्मा है सो ही मैं हूं ऐसा श्रद्धान, ज्ञान, चारित्रका धारी सहज हीमें सर्व चिन्ताजालसे शून्य एक वृहत आनन्दका भोग करता है और निश्चय धर्ममें मग्न हो जाता है।

१९१--वृहत् सामायिक.

परमप्रिय आत्माराम सर्व विभाव भावोंका परित्याग कर एक अद्भुत स्वभावमें लीन है। जगतके लोग सामायिकके लिये चार तरफ प्रदक्षिणा देते, नमस्कार करते, पाठ पढ़ते, जप करते, सविकल्प पिंडस्थध्यान, पदस्थध्यान व स्वरूपस्थध्यानकी भावना भाते अथवा जैसे दालसे छिलका भिन्न है ऐसे मै रागद्वेषादि कर्मोंकी उपाधिसे भिन्न हूं ऐसा मनन करते अथवा मैं ज्ञाता दृष्टा आनन्द रूप परम अविनाशी शुद्ध शांत अमूर्तिक एक चैतन्य पिंड हूं ऐसा विचारते। परन्तु यह सब सामायिकाभास है—छोटी सामायिक है, व्यवहार सामायिक है। अब यह चैतन्य गुणालम्बी सर्व विकल्प जालोंसे रहित परम गुप्त निजानन्दमई परमशात आत्म समुद्रमें अपने आपको डालकर उसमें पूर्ण मगन होकर सर्व चिन्ताजालसे रहित है, वचनकायकी प्रवृत्तिसे बाहर है—केवल अपने शुद्ध स्वरूपके

साथ एकमेक होगया है। इसलिये सच्ची बृहत सामायिक कर रहा है। व्यवहारी लोग बहुत बड़े पाठवाली सामायिकको बडी सामायिक कहते हैं सो असत् है। जहां आत्मा आत्मीय भावमें एक सम हो जाय, रागद्वेषका झलकाव न रहे वहीं बृहत् सामायिक हो सक्ती है।

१९२--परम मति.

एक भव भ्रमणकारी दुःखमें संतप्त आत्माका विचार जब पर फन्दोंसे छूट अपने आपके विचारमें जमता है तब वहां एक परम मति पैदा होती है जिसकी महिमा अगाध है। इस मतिमें विषय कोई पदार्थ नही है किन्तु अपने ही आत्माका यथार्थ स्वरूप है। इस परम मतिके जमते ही सर्व संसार विस्मरण हो जाता है और यकायक एक आत्माका बना जगत सामने दिखने लग जाता है। इस जगतमें जितने गुण रूपी मनुष्य निवास करते है वे सब चेतनकी ही रंगतमें रंगे हैं। उनमें कहीं भी जड़ता नहीं दिखलाई पड़ती है, न किसीके अंग प्रत्यंगमें कषायोंकी कालिमा है, न कोई आकुलता है न कोई दुःख है। एक अपूर्व सुखशांतिका परम मनोहर दृश्य होता है कि जिसमें सिवाय चेतनके परिवारके और कोई नजर नहीं आता।

१९३--सम्यग्ज्ञान कला.

परम निरंजन ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व संकल्प विकल्पसे रहित हो जब अपने भीतर देखता है तब एक अपूर्व सम्यग्ज्ञानकी कला उसके भीतर प्रगट हो जाती है। जिस कलाके प्रकाशमें जगतके सम्पूर्ण पदार्थ ज्योंके त्यों अपने२ निज स्वभावको लिये हुए झल-कते हैं। उस कलाके सामने सर्व विभाव परिणतियें इकदम नहीं

दिखती है। वहां सर्व पदार्थ शुद्ध ही मालूम होते हैं। सम्यग्ज्ञानकला जब उपयोगको अन्य सर्व चेतन अचेतन द्रव्योंसे हटाकर केवल अपने निज स्वभावमई परमानंदसे परिपूर्ण आत्माकी ओर लगाती है वह अपनेको स्वात्मानुभवमें निमग्न पाती है। उस समय परमामृतका स्वाद आता है जिसका वर्णन स्वादकी रसमई स्वादतामें लीन व्यक्ति उस समय कुछ कह नहीं सक्ता, कुछ सोच नही सक्ता, अपने शरीरके किसी संकेतसे बुद्धिपूर्वक बता नहीं सक्ता भले ही दूसरा कोई सविकल्पी उसे देखकर उसकी गतिको समझ जावें—पीछे जब कदाचित् उपयोग स्वस्वरूपानंदके भोगसे हटे तब मन स्मरण कर कुछ कहनेका प्रयत्न करे तो करे, पर खेद है कि वह दूसरोंको उस आनंदका स्वरूप बता नहीं सक्ता। धन्य है यह सम्यग्ज्ञानकला! जो इसमे रत होते है वे परमानंदका लाभ करते हैं और चिरकालतक शिवरमणीसे उपभोग करते हुए परमतृप्त रहते हैं।

१९४—परम शांतता।

जब कोई प्राणी निराकुल भावसे अपने भीतर अपनी असंख्यात प्रदेशमई आत्मभूमिको देखता है तो उसमें परम शांतताका प्रचार पाता है। वहा कोई क्रोध, मान, माया, लोभादिका संचार नहीं है न वहां किसी भी पुद्गल परमाणुका सम्बन्ध है। वहां ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अनंतगुण सम्पूर्ण रूपसे व्यापकर प्रकाशित हो रहे हैं। हरएककी चमक निराली है। कार्यप्रणाली निराली है—महिमा निराली है। तथापि परम शांतताके प्रभावसे वे सर्व ही गुण विना किसी विरोधके एक ही क्षेत्रमें परस्पर अवगाहरूप तिष्ठ रहे हैं—उनके समुदायको ही एक आत्मवस्तु कहते हैं। वह आत्म-

वस्तु जब सामान्यपने देखी जाती है तो अखंड एक रूप प्रगट होती है। इस आत्माकी अखंड एकताका स्वाद लेनेमें परमानन्द-रूपी गुण जो इसमें परिपूर्ण भरा है उपयोगको अपने वश कर लेता है जिससे उपयोगको सिवाय आपके अन्य किसी भी वस्तुका भान नहीं होता। वास्तवमें जो प्राणी इस परम शांतताके स्वच्छ रसमें निमग्न हो जाते हैं उनकी सर्व बाधाएँ मिट जाती हैं। वे स्वात्मानुभवसे लवलीन होकर निश्चय धर्मका मनन करते हुए परमसुखी रहते हैं।

१९५–परम भाव।

परमशुद्ध भाव धारी ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व कर्मबंधनोंसे अपने आपको बिलकुल स्पर्श या गृस्या हुआ नहीं मानता है किन्तु अपनेको अपने शुद्ध निज स्वरूपमें ही तिष्टा हुआ जानता है जिससे एक अपूर्व-परम भाव उसकी सत्तामें वर्तन करता है। इस परम भावकी शोभामें जो महिमा इस आत्माकी होती है उसका वर्णन नहीं हो सक्ता। जो साक्षात् परमात्माका स्वभाव है वही मेरा निज भाव है यह विकल्प भी जहांपर नहीं पाया जाता न जहांपर यह विकल्प होता है कि मैं हूं-या-नहीं या स्वचतुष्टयमय हूं अथवा पर चतुष्टयमय नहीं हूं—सर्व विकल्पोंसे अतीत जो कोई निज स्व-भाव है वही मैं हूं—इस तरहके परम भावमें जो वर्तन करता है वही साक्षात् आत्माके परमभावको पहुंच जाना है। आत्माका परम भाव परम सार गंभीर तथा परमोपयोगी है। और साक्षात् शुद्ध ज्ञानानंद-मई है। इस भावकी उत्कृष्ट रचना परम अद्‌भुत, परम सार तथा स्वयं समयसार रूप है इसमें जीवादि सात तत्वोंकी कल्पना बिलकुल नहीं है। यह परम भाव आत्माका शुद्ध

पारणामिक भाव है। यही मेरा निज धन व मेरा निज रूप है।

१९६–शांत रस समुद्र।

ज्ञाता दृष्टा आनंदकारी परमपूज्य परमात्मा सर्व आकुलताओंसे रहित हो जब अपने भीतर देखता है तो सिवाय एक शांत रस समुद्रके किसी बातको नहीं देख पाता—मन उस समुद्रको देखते ही ऐसा मोहित हो जाता है कि फिर उसके निकटसे हटनेको नहीं चाहता इसलिये वह मन उस समुद्रमें ही गोते लगाता है और परमरसका पान करता है। इस शात रस समुद्रमें किसी भी अजीव पदार्थका वास नही है न किसी अन्य जीव व गुणका आवास है। इस समुद्रमें अनंतगुण अपनी स्वाभाविक शोभाको लिये हुए विकाशमान हो रहे है। ज्ञानी पुरुष इस अद्भुत सागरमें बैठकर उससे निकलनेका साहस नहीं करते—सिद्धात्मा भी इसी समुद्रमे निरतर गोते लगाते रहते है। जिनको इस समुद्रका पता लग गया है वे सदा ही निराकुल रहकर स्वानुभव रसका पान करते हैं।

१९७–परम समता।

यदि कोई व्यक्ति परम समताका लाभ करना चाहे तो उसको उचित है कि वह एक क्षणके लिये द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे देखने लग जावे—पर्यायार्थिक दृष्टिको गौण कर देवे। प्रथम दृष्टिसे देखते हुए सर्व ही पदार्थ अपने२ स्वभावमें दिखलाई पड़ते हैं, कोई भी विकारी भाव नजर नहीं आता है। जगतमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन छः द्रव्योंकी सत्ता पाई जाती है। उस दर्शकको सर्व ही द्रव्य अपने शुद्ध स्वभावमें दिखते हैं। जीव द्रव्यके सिवाय पांच द्रव्य अजीव हैं वे बिलकुल निर्विकार ही नजर

आते हैं–जीव द्रव्य यद्यपि अनंतानंत हैं और अपनी विकृत अवस्थामें अनेक रूपसे दीख रहे हैं तो भी स्वभावकी दृष्टिसे देखे जानेपर सर्व ही शुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, वीतराग तथा आनंदमई परमात्माके समान मालूम पड़ते हैं। उनमें कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई विद्वान, कोई सधन, कोई निर्धन, कोई रोगी, कोई निरोगी नहीं दिखता है। इस दृष्टिसे पदार्थोंको देखते हुए एक अपूर्व समता भाव हृदयरूपी मंदिरमें उमड़ आता है–रागद्वेषकी कालिमा मिट जाती है–तथा स्वयं ही एक प्रकारका अद्भुत स्वानुभव पैदा होजाता है। साथ ही निर्मल आनंद भी झलकता है। परम समता देवी तुर्त उसके घरमें ठहर जाती है और वह उस देवीकी पूजामें रत होजाता है।

१९८–स्वभाव रमण।

ज्ञाताद्रष्टा आनंदमई परम पदार्थ सर्व आकुलताओंसे विरमण होकर अपने निज स्वभावमें ही रमण कर रहा है। वचनोंमें शक्ति नहीं है जो उस स्वभाव रमणको व उसके फलको प्रगट कर सके। यद्यपि वचन अपना प्रयास करते हैं परंतु अपने कार्यमें सफल नहीं होते। अंतमें जिस व्यक्तिको बतलानेके लिये वचन उद्यम करते हैं वह व्यक्ति जब बचनोंका सहारा छोडकर स्वयं अपने स्वभावके जाननेका व उसमें रमण करनेका प्रयास करता है तब ही अपने स्वभाव-रमणके रहस्यको व उसके फलको यथार्थ जान सक्ता है।

स्वभाव अनंत ज्ञानदर्शन सुख वीर्यादि गुणोंका अखंड एक समुदाय है–ऐसे अखंड अविनाशी अमूर्तिक पदार्थका ज्योंका त्यों निश्चय रहना–रागद्वेषादिकी कल्लोलोंसे विचलित न होना ही स्वभाव रमण है। अपने ही पदार्थकी सुखशांतिका आप ही को भोग

हो जाना स्वभाव रमणका फल है। इस परमसार कार्यको जो करता है वही एक वीर पुरुष स्वभावालम्बी है—उसके पास रागद्वेष मोहादि विभाव फटकते ही नहीं—इसीसे वह वीतराग विज्ञानमय रहता हुआ सुखी रहता है।

१९९—परम सार।

यदि कोई व्यक्ति इस षट्द्रव्यमई जगतमें किसी परम सार वस्तुको देखना चाहे तो उसको पता लगेगा कि जिसे वह ढूंढ़ना चाहता है वह वस्तु स्वयं आप है। आपके सिवाय इस जगतमें कोई भी परम सार पदार्थ नहीं है। और यदि कोई हैं तो वे सब अपने ही समान हैं। उन सबोंके स्वभावमें व आपके स्वभावमें कोई अन्तर नहीं है। वास्तवमें परम सार पदार्थ यह आत्मा है। जो कि शुद्ध बुद्ध अविनाशी अमूर्तीक परमानंदमई क्रोधादि विकारोंसे शून्य है। उसमें कोई प्रकारके संकल्प व विकल्प नहीं होते हैं। वह निर्मल जल व निर्मल स्फटिकके समान है। उसमें ऐसी अपूर्व शक्ति है कि तीन लोकके सर्व पदार्थ अपने अनंतगुण पर्यायोंके साथ एक ही समयमे झलक जाते है तौभी कोई भी पदार्थ इसमें कोई टेढे हों व सीधे हों व भले ही कोई क्रोधी हों व कोई शांत हों, कोई अपना असर उस पदार्थमें कुछ नही कर सक्ता है। इस आतम पदार्थका एक२ प्रदेश परममिष्ट अमृतके समान परम निराकुल परम मधुर परम तृप्तिकारक आनन्दसे भरपूर है। इस पदार्थरूप मैं हूं, और रूप नहीं हूं यह विकल्प भी उसमें नहीं है। वह अनादि अनंत एक रूप चैतन्य धातुमई मूर्ति है। जो कोई सर्व नयोंके विकल्पोंसे दूर होते हैं और मन, वचन, कायकी क्रियाओंसे परे होकर आपमें

ही बस जाते हैं वे ही आत्मानन्दको भोगते हुए जो कुछ अनुभव करते हैं वह वचन अगोचर है ।

२००—परमागम सार.

जो आत्मा परम आनंदमई गुण विशिष्ट अपने अभेद रत्नत्रय स्वभावमें तल्लीन सर्व विभाव भावोंसे दूर है वही परमागम सार है। परमागमका जो लक्ष्य—बिन्दु हो व परमागमसे प्राप्त हो वही परमागमका सार है—उसे ही परमात्मा या यथार्थ केवल आत्मा कहते हैं—वही मैं हूं अन्य रूप नहीं हूं यही निश्चय धर्मका मनन है। इस शुद्ध स्वभाव मननका करनेवाला व्यक्ति जिस प्रकारके जगतमें बैठ जाता है वह जगत इस दृश्य जगतसे विलक्षण ही है—यह दिखलाई देनेवाला जगत जब पर्याय रूप है तब वह जगत मात्र द्रव्यरूप है। उस जगतमें सर्व चेतन अचेतन पदार्थ भिन्न२ अपने ही निज स्वभावमें कल्लोल करते हुए विना किसी विकारके व विना किसी मिश्रणके दिखलाई पड़ते हैं। उस जगतमें यदि कोई क्रोध भाव, मान भाव, लोभ भाव तथा माया भावको ढूंढ़े अथवा मुनि श्रावक धर्मको ढूढे व गुणस्थान व मार्गणा जीव समासको ढूढ़े तो कहीं भी पता नहीं चलता है। न वहां कोई संसारी दिखता, न सिद्ध दिखता, न वहां बन्ध दिखता, न मोक्ष दिखता, न वहां आस्रव दिखता, न संवर दिखता है। सिवाय शुद्ध जीव अजीवोंके और कोई तत्व दिखलाई नहीं पड़ता—ऐसे जगतको देखनेवाला ही परमागम सार है।

२०१-पवित्र भाव.

एक व्यक्ति परम गम्भीर भावसे जब अपने स्वरूपपर विचार करता है तो उसे मालूम होता है कि संसारमें यदि कहीं कोई पवित्र

भाव है तो मुझ हीमें है । जहां किसी अन्य द्रव्यका स्पर्श, संबंध व मिश्रण न हो और न किसी अन्य द्रव्यका असर उसपर पड़ता हो जिससे कोई विभावता उत्पन्न होजावे उसी द्रव्यमें साक्षात् पवित्र भाव है ऐसा कहनेमें आएगा। पवित्र भाव आत्माका निज स्वभाव है। इस भावका सौंदर्य, इस भावका महत्त्व, इस भावका अनौपम्य अवर्णनीय है। इस पवित्र भावमें कोई कलुषता क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायोंकी नही है। इस भावमें अनन्तगुणोंकि स्वभाव भी गर्भित हैं। इस भावको अमृतमई सुख समुद्र भी कहते हैं क्योंकि परम अतींद्रिय सुख इसीमें झलकता है जिस सुखमें कोई आकुलता नहीं है जिसको परमात्मा था मुक्तात्मा सदा भोगते हैं। व इसी सुखके भोगमें तृप्त रहते हुए अनेक साधु जन वनादिकी अनेक परीषहोंको सहन करते हैं। जो दूसरोंके लिये कष्ट हैं वे पवित्र भावधारियोंके लिये कष्ट नहीं है किन्तु निज विलासके बाह्य साधन है। यह पवित्र भाव मेरेमें है। मैं उससे तन्मय हूं। यही मेरी स्वाधीन निर्मल संपदा है। मैं इसीको लिए हुए सन्तोषी रहता हुआ अनुभवानदका स्वाद लेता हूं।

२०२—शान्तिका मूल्य।

कोई व्यक्ति यदि अपने आत्माके स्वरूपपर ध्यान देवे तो उसे विदित होगा कि उसका स्वरूप केवल अनुभव गम्य है, वचन-गोचर नहीं है। यद्यपि सर्वांग अनुभव गम्य है, तथापि सविकल्प अवस्थामें उसकी महिमाको यदि कोई कहे तो कह भी सक्ता है। इस अनुपम चैतन्य पदार्थमें शान्तिका साम्राज्य इतना प्रभावशाली है कि उसका मूल्य विलकुल नहीं किया जासक्ता—क्योंकि वास्तवमें

आत्मामें सत्तारूप तिष्ठे हुए गुणोंके भीतर मलीनताको दूरकर उन्हें अपने पूर्ण प्रकाशमें रखना इस शान्तिका ही काम है। शांति ही सच्चा अतीन्द्रिय सुखका अनुभव कराती है। शांति ही इस आत्माको सदा अपने निज स्वभावके आसनपर आरूढ़ रखती है। शांतिके साम्राज्यमें मोह शत्रु और उसके प्रबल सेनापति क्रोध, मान, माया, लोभ इस आत्मप्रभुके पास भूल करके भी नहीं आते। इन प्रबल शत्रुओंसे पराजित आत्माके पास शांति आती ही नहीं। यद्यपि यह बात व्यवहारमें कही जाती है तथापि निश्चयसे शांतिका और आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध है। शांति सदा ही आत्माके प्रदेशोंमें व्यापक है। यह शांति यथार्थ आत्माके बलको प्रगट होनेमें परम प्रबल कारण है। मुमुक्षु जीवको नित्य शांतिकी ही गोदमें खेलना चाहिये।

२०३--सार मार्ग।

यदि कोई निश्चिन्त होकर अपने चित्तमें विचार करेगा तो उसे मालूम होगा कि अपने आपके आत्मत्त्वमें आत्मता रूप रहनेका मार्ग अपने आपका ही श्रद्धान ज्ञान आचरण है। आपका यथार्थ त्रिकाल अबाधित स्वरूपके ही पथपर चलना आपके देशकी प्राप्तिका एक निर्विघ्न स्वाधीन सार मार्ग है। यथा मार्ग तथा प्राप्य देश, दोनोंमें समानता है। सार मार्ग ही निश्चय धर्मका मनन है। मैं एक अकेला सर्व परद्रव्य, गुणपर्याय व सर्व परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, व परभावोंसे भिन्न हूं, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे भिन्न होनेके कारणसे शुद्ध हूं। सर्व स्व और परका दृष्टा और ज्ञाता स्वभाव लक्षणका धारी हूं। तथा वर्ण गन्ध, रस, स्पर्श, गुणस्थान, मार्गणा स्थान, जीव समास स्थानादि पुद्गलकी समस्त रूपी पर्यायोंसे भिन्न अरूपी अथवा

अमूर्तीक हूं तथा अपने चैतन्य धातुके बने हुए असंख्यात प्रदेशोंमें तन्मई होकर अपने ही शरीर प्रमाण आकारका धारी हूं। ऐसा ही हूं, ऐसा श्रद्धान, ऐसा ही हूं ऐसा ज्ञान, ऐसा ही हूं ऐसे श्रद्धान ज्ञानके साथ मैं ऐसा हूं ऐसा नहीं हूं इस विकल्पसे रहित होजाना यही चारित्र है। यही सम्यक् रत्नत्रयका स्वरूप है। इस परम रत्नत्रय स्वरूप आत्माके स्वरूपका रागद्वेषादि कल्लोलोंसे अडोल रहना ही सार मार्ग है। इसी मार्गपर चलना ही परमानदकी प्राप्तिका साधन है। यही स्वानुभव है, यही ध्यान है, यही समाधि है, यही परमैकाग्रता है। यही ज्ञान मार्ग है। यही परमामृतके अद्भुत प्रवाहसे परिपूर्ण परम मिष्ठ वैराग्यरूपी समुद्रका वहन है। इसीमें निमग्न होना ही धर्म है।

२०४--भोगमें आनन्द।

एक ज्ञाता दृष्टा आत्मा जब सर्व इंद्रियोंके विषयोंको व मनके संकल्पोंको त्यागकर अपनी स्वात्मानुभूति रानीके भोगकी तरफ सन्मुख होता है और उस भोगमें एकाग्रतासे लवलीन होजाता है तो उस आत्माको उस सलग्न दशामें हर समय अपूर्व वचनातीत अतींद्रिय आनंदका लाभ होता है क्योंकि अनुभूति तियाका अंग संपूर्ण स्वाभाविक आनदसे परिपूर्ण है। इसलिये उसकी संगतिमें निरानंदका कुछ काम नहीं है। इस आनदके लाभको होते ही उस आत्माकी परसंगतिमें रहनेसे प्राप्त जो घोर थकन थी सो यकायक दूर होजाती है। तथा एक ऐसी पुष्टता प्राप्त होती है जो अनंत वीर्यका अंशरूप है और अखण्ड तथा अविनाशी है। निश्चय दृष्टिसे देखनेवाले जब कि इस आनदका निरंतर लाभ कर सकने तब व्य-

व्यवहार दृष्टिवालोंको तो उसका रंच मात्र भी अनुभव नहीं होसक्ता है। इसीसे जब इन दोनों दृष्टियोंमें हेय उपादेयका विचार करते हैं तो व्यवहार दृष्टि हेय तथा निश्चय दृष्टि उपादेय हैं। परन्तु जब निर्विकल्प स्वात्मानुभवपर दृष्टि डालते हैं तो वहां हेय उपादेय विचारकी गम्य ही नहीं है। वहां तो निज पदार्थ अपने यथार्थ स्वरूपमें भलेप्रकार झलकता रहता है। वही सच्चे आनंदका भोग हैं, वहीं परम तृप्ति है तथा वहीं परम निराकुलता है।

२०५–एक सरोवर।

परम प्रतापी योगी आत्मज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर जब अपने भीतर देखता है तब बड़ा ही सुन्दर व अद्भुत सरोवर नजर आता है–जिसकी शोभा त्रैलोक्यमें कोई भी पूर्णपने अपनी वचन वर्गणाओंसे नहीं कह सक्ता है। इस सरोवरमें परम शांत ज्ञानमई निर्मल जल भरा है जिसमे रागद्वेषादि कषाय भावोंकी रंच मात्र भी कलुषता नहीं है। न इसमें कोई कर्म वर्गणा रूपी विकलत्रय जीवोंकी उत्पत्ति होती है। न इसमें कोई नोकर्म रूपी मत्स्यादि हैं। इस सरोवरका जल न कभी कम होता है न कभी बढ़ता है। यद्यपि इसमें पर्यायोंकी उत्पाद व्यय रूप तरंगें सदा उठा करती हैं तथापि सरोवरके स्वभावकी ध्रौव्यता सदा बनी रहती है। इस सरोवरमें कोई प्रदेश या स्थान–आनन्द और शांतिसे खाली नहीं है। जो इस सरोवरके निकट जाता है उसे आनन्द होता है। जो इस सरोवरके सन्मुख हो अपना उपयोग लगाता है उसको परमानंदका लाभ होता है। जो इस सरोवरमें पैठ जाता है उसके आनंदकी बात क्या कहनी, वह तो केवली गम्य ही है।

इस आत्मसरोवरके निकट नित्य ही भव्य जीव रूपी पक्षी कल्लोल किया करते हैं—अनादि संसारके आतापसे सतप्त मनुष्य ज्यों ही इस सरोवरमें स्नान करता है व इसका मनोहर जल पीता है त्यों ही इसको अपूर्व शांतिका लाभ होता है। जिस किसीको अजर अमर होकर सदा ही सुखी रहना हो उसको चाहिये कि इस सरोवरमें ही नित्य बास करे और ऐसा बास करे कि जैसे मछली पानीमें वास करती है। जैसे मछली पानीसे बाहर आकर तड़फड़ाती है—पानी विना जी नहीं सक्ती इसी तरह वह मनन कभी भी इस आत्म सरोवरसे बाहर नहीं आवे—यदि कदाचित् आवे तो तड़फड़ावे—कभी चैन नही पावे, आत्म सरोवरके शांत ज्ञानानदमई जलसे ही तृप्ति पावे।

२०६--प्रेम समुद्र.

जैसे ही कोई व्यक्ति अपने शुद्ध भावसे अपने चैतन्य प्रभुको देखने लगता है वैसे ही उसको यकायक यह जगत् प्रेम समुद्र दिखलाई पड़ता हैं। उसके अनुभवमें जड़ अचेतनका भास जाता रहता है केवल चैतन्य ही चैतन्य अनुभवमें आता है। क्योंकि यह सर्व लोक जीव राशिसे पूर्ण है और हरएक जीवका स्वभाव एक दूसरेके बराबर है। इसलिये अनुभवमें सर्व चैतन्यमई शांतरससे परिपूर्ण एक अनुपम प्रेम समुद्र ही झलकता है। इस समुद्रमें किसी प्रकार भी विकारकी कोई कालिमा नहीं है। यह ज्ञानानंदमई प्रेम रससे भरा है। इस प्रेम समुद्रमें कल्लोल करना, इसका मनोहर जल पान करना, इसकी स्वाभाविक परिणतिरूपी तरंगोंकी बहार देखना, इसकी गम्भीरताकी थाह न पाना, इसकी ज्योतिमें अज्ञानांधकारका

प्रवेश न होना आदि बातें बड़ी ही सुखदायिनी हैं। प्रेम समुद्रकी महिमा वचनगोचर नहीं है। जिसे संसारके आतापसे दाह न पाकर शांत भावमें मग्न हो मन, वचन, कायकी क्रियाओंसे बाहर जाना हो उसके लिये उचित है कि वह इस प्रेम समुद्रमें ही अपना वास करे और सबको भुला कर मात्र इसीमें ही लवलीन होजाय तब क्या क्या होगा वह दूसरा कोई कह नहीं सक्ता।

२०७–परमसुखासन।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा जब जगतके पौद्गलिक आसनोंसे अपनेको हटाकर निज आत्माके शुद्ध प्रदेशरूपी परम सुखासनपर विराजमान होता है तब उसे सर्व विश्वका प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है, परमेश्वरका साक्षात् स्वरूप झलकने लग जाता है। उस परमसुखासनमें कोई बाधा नहीं है–उस आसनमें पूर्ण निर्मलता है, पूर्ण कोमलता है, पूर्ण सुन्दरता है, पूर्ण चमत्कारिता है, पूर्ण वीतरागता है। तीन लोककी सम्पत्ति इस आसनके सामने तुच्छ है। बड़े २ बादशाह व सम्राट इस आसनके लिये तरसते तथा इसे बारबार नमस्कार करते हैं। इस आसनपर जो प्रतिष्ठित होता है उसे कोई क्लेश आधि व्याधि नहीं सताती है। वह सदा ही स्वात्मानुभवके रसके पानमें परम तृप्त रहता है। वह जगतको देखता हुआ भी जगतसे अत्यन्त उदासीन है। जो इस आसनके स्वामी हैं वे ही धन्य हैं।

२०८–परमार्थ जगत्।

इस षट् द्रव्यमय जगतमें जब एक चेतन द्रव्यको उसके स्वभावके भीतर जाके देखा जाता है तो वहां एक परमार्थ जगत

दिखलाई पड़ता है। जिस जगत्‌में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व, अगुरु लघुत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुण और चेतना, सुख, शांति, सम्यक्त, वीर्य्य आदि विशेष गुण अपनी स्वाभाविक महिमामें विना एक दूसरेको हानि पहुंचाये पूर्ण साम्य तथा परस्पर निरपेक्षभावसे निवास कर रहे हैं। इस आनदमय जगत्‌में कोई मोह और उसका परिवार क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, भय आदि नहीं हैं। इस जगतका निवासी सदा सुखी, निराकुल, निर्भय, निरपराधी, और स्वभाव संतोषी रहता है। इस जगत्‌में अन्न, घी दूधका भोजन और जल नही मिलता है न वहा कोई भी अचेतन पदार्थ है। वहां तो आत्मानुभवसे उत्पन्न परमामृतका ऐसा निरतर प्रवाह वहता है कि वहांके निवासी इसीको ही खाते पीते हैं। न वहा कोई वस्त्र ओढ़नेको मिलता है। वहा अपना स्वरूपाचरण चारित्र ही वस्त्र है। उस जगत्‌में कोई शीत उष्ण डास मच्छरकी परीपह नहीं होती है। वहा निरतर ही कोई बाधा नहीं रहती है। इस परमार्थ जगतका वासी ही सदा सुखी रहता है।

२०९-समरस।

जो कोई व्यक्ति पच इन्द्रियोंके विपयोके कटुक रससे निराश होकर निजात्मीक रसके स्वादमे अनुरक्त होता है उसे एक ऐसे अद्भुत समरसका अनुभव होता है कि जिसका अनुभव उसीहीको है जो उस रसमें मग्न है। द्रव्यार्थिक नयसे पदार्थोका स्वभाव विचारते हुए पर्यायोके भीतर वर्तनेवाला राग और द्वेष नष्ट होजाता है। सर्व ही द्रव्य यथातथा उसी तरह झलकते है जैसे दर्पणमें पदार्थ यथातथा प्रतिबिम्बित होते है। ज्ञानमें वीतराग भावको ही

समरस कहते है। यह समरस आत्माकी सत्तामें पूर्ण भरा है इसीसे आत्माको सुख समुद्र कहते हें । समरसकी महिमा अपार है। इसका दर्शन मात्र जब आनंद प्रदान करता है तब इसका पान व इसमें स्नान कितना आनन्द प्रद है सो सर्व वचन अगोचर है । जो सम रसके स्वादमें लीन होजाता है उसको परमानदका अनुभव सदा रहता है ।

२१०—परम शुद्धता ।

ज्ञानशरीरी परमानदी परमप्रभु शुद्ध आत्मा जो अपनी ही देह रूपी देवलमें विराजमान है उसकी महिमा वचन अगोचर है। यदि कोई बड़ा ही तीक्षण सूक्ष्मदर्शक यत्र भी लगाकर देखें तो इस आत्माराममें कोई अणुमात्र भी मल नही दिखलाई पडता है। वास्तवमे प्रत्येक वस्तु अपने निज स्वभावमें ही रहती हुई सुन्दर भासती है । सुन्दरताका बाधक पर द्रव्यका सम्बन्ध है। शुद्ध दृष्टिसे देखा जाय तब हरएक वस्तु अपने स्वभावमें ही दीखती है । हमें और सब सकल्प विकल्प त्याग कर अपने आपके स्वरूपका ही विचार करना है । हमें तो यही जानना है कि हम कौन हैं । अपने अपने स्वरूपके ज्ञानसे ही आपका यथार्थ बोध होता है, अपने ही ध्यानसे अपने स्वरूपका विकाश होता है । पर यह सब कल्पना कि कौन ध्याता है, कौन ध्येय है, ध्यान क्या है मात्र कल्पना है । हमारे निज स्वरूपमें इन सब कल्पनाओंका अभाव है । मैं तो कल्पनातीत ज्ञानसमुद्र अनुभवगोचर एक शुद्ध पदार्थ हूं—मेरेमें परम शुद्धताका निवास है । इस परम शुद्धताका कोई परिमाण नहीं किया जा सका । इसी परम शुद्धतामें त्रिकाल

सहित तीन लोक झलक रहा है। मैं इसकी ही आत्माका ज्ञाता दृष्टा रहता हुआ परम सन्तोषी होरहा हू।

२११–अद्भुत मंत्र।

इस संसार रूपी समुद्रमे भ्रमण करते हुए जिस जीवको उसमेंसे निकलनेका कोई उपाय नही मिलता वह जीव वडा व्याकुलित हो अनेक कष्ट उठाया करता है। इतने हीमें एक महात्मा धर्म-नौका पर चढ आते हैं और उसके कानमें एक मत्र सुनाते है, उस मत्रको पढने २ वह स्वयं अपनी भुजाओंके वलसे समुद्रको तिरके वाहर निकल आता है और एक अनुपम उपवनमें पहुच जाता है जिसकी सुन्दरता अकथनीय है व जो उसके मनको एकदम मोहित कर लेता है और वह सदाके लिये उसी उपवनमें ही रमनेका निश्चय कर लेता है। वह मत्र एक अद्भुत शक्तिका धारी है। भेदज्ञान उसका नाम है। उसका स्वरूप यह है कि जैसे हंस दूधको पानीसे भिन्न जानता है वैसे पुद्गल और उसकी अनेक कर्म नोकर्म भाव कर्मरूपी अवस्थाओंसे अपने आत्माके स्वभावको भिन्न जानना–दोनोंका स्वभाव पहचान कर पुद्गलको हेय और आत्माको उपादेय मानना कि यह आत्मा ज्ञाता दृष्टा आनदमई वीतराग पदार्थ है व ऐसा ही अनुभवना। अन्य सर्व पदार्थोसे भिन्न निज स्वभावका आनद भोगना–यही भेद ज्ञान रूप मत्र है–इसी मंत्रके जपते हुए यह स्वय निजात्माके उपवनमें पहुच कर वहां परम विश्रातिको पाकर सदाके लिये परम सुखी होजाता है।

२१२–चैतन्य भाव।

मैंने इस जगतमे असंख्यात भावोंकी जाच की परन्तु मुझे

अपना निज चैतन्यभाव जैसा सुन्दर भासा ऐसा कोई भाव दूसरा नही भासा, तब मैं ढूंढ़ने लगा कि यह चैतन्य भाव किस भाववान पदार्थमें रहता है– देखनेसे यही झलका कि यह तो मेरे आत्माका ही सभाव है। उस स्वभावको जो सूक्ष्म तत्त्व दृष्टिसे देखा तो उसमें तो कोई रागद्वेषादि विकार नहीं झलक रहे हैं। न उसमें कोई अज्ञानता है, न कोई निर्बलता है, न कोई प्रकारकी हीनता है वह स्वभाव अपनी शुद्ध परिणतिको लिये हुए अपने परम पारणामिक भावमें स्थिर है। उस स्वभाववान् और स्वभावमें भेद कल्पना मात्र है। चैतन्य भावका शिरोमणी आत्माराम वचनोंसे अगोचर है। उसकी महिमा उसीमें है। वह न वद्ध है न मुक्त है, न ज्ञान है न अज्ञान है। वह जो कुछ है सो है वह बिलकुल अभेद निर्विकल्प है। मैं अब सर्व झगड़ोंको त्याग उसीकी ही शरणमें जा उसीका ही आनन्द लेता हुआ कृतार्थ होरहा हूं।

२१३- दश धर्म।

एक धर्म प्रेमी मनुष्य जब अपने भीतर विचार करके देखता है तो उसे भावकर्म और द्रव्य कर्म नोकर्मके भीतर एक ऐसा अनोखा ज्ञान मई पदार्थ दिखता है जिसके परम अद्भुत दस मुंह दिखलाई पडते हैं–दश मुख होने पर भी उसे लोग एक ही पदार्थ कहते हैं–इस दश मुख चेतन पदार्थके दस मुखोको जब एक एक करके विचार करते हैं तो मालूम होता है कि उत्तम क्षमा स्वरूप मुख परम शांतिका भंडार है–उसमें किंचित् भी क्रोधकी कालिमा नहीं है। उत्तम मार्दव परम कोमलताकी खान है, जहां मानका कोई चिन्ह नहीं है। उत्तम आर्जव परम सरलताका गृह है जहां

मायाकी कोई कुटिलता नहीं है। उत्तम शौच परम पवित्रताकी हद्द है जहां कोई लोभका चिन्ह नही है। उत्तम सत्य यथार्थ भावका विश्राम है जहां कोई असत्य या मिथ्या भाव नहीं है। उत्तम संयम त्रिरत्न मय एकाग्रताका मित्रत्व है जहां कोई इंद्रिय व प्राण असयमकी कालिमा नहीं है। उत्तम तप एक परम जागृत रूप स्वानुभव रूप अग्नि है जिसकी तपससे कर्मबंध कट कट कर गिर जाते है। उत्तम त्याग परम निस्पृह एक महान सर्वमें समता रूप उदार भाव है जिसके निमित्तसे बडे २ अज्ञानी ज्ञानी हो जाते है। उत्तम आकिंचन्य एक अद्भुत छटादार अभेद भाव है जिसके सामने सर्व द्वैत प्रदर्शक भाव भाग जाते है। उत्तम ब्रह्मचर्य एक परम रमणीक आत्म सुदरताका चित्र है जहां पर संयोग रूप मैथुनका सर्वथा अभाव है। ऐसे दश मुख धारी आत्माके ही ये दश धर्म अपनी मनोहर शोभाको विस्तारते हैं। जो भेद कल्पनासे निरपेक्ष हो देखता है उसे दश भेद रहित एक शुद्ध चैतन्य ज्ञानानंदमई ही अनुभवमें आता है। यही अनुभव मोक्ष सुखका भंडार परम तृप्तिकारी है।

२१४–स्वयं सिद्ध।

यदि कोई शुद्ध दृष्टिसे विचार करेगा तो उसे मालूम होगा कि वह स्वय स्वयसिद्ध परमात्मा है। तीन कालमें एक रूप अपने स्वरूपमें रहनेवाला है। न उसमें कोई कर्म है न कोई कर्म थे न आगामी उसमें कर्मबध होनेवाले हैं। यह सामान्य ज्ञान चेतनाका भंडार अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावको लिये हुए स्वयं सिद्ध एक ऐसा पदार्थ है जिसका आदि है न अंत है, न उसे कोई बना

सक्ता है और न कोई उसे बिगाड़ सक्ता है। वह चैतन्य धातुसे निर्मित है। अपने ही देह रूपी देवलमें शाश्वता प्रभु सर्वांग व्याप कर विराजमान है। इसकी उपमा जगत्के लोग सूर्य, रत्न, सुवर्ण आदिसे देते हैं परन्तु वह सब मिथ्या है। उस समान वह ही है। दूसरे किसीमें शक्ति नहीं जो उससे मिल सके व उससे भेट कर सके। वह कमल पर जलकी बूंदकी तरह मेरे शरीरमें होते हुए भी उस देहसे भिन्न है। इस तरह एक स्वय सिद्ध परमात्माके गुणोंका अनुभव जो करता है वह धन्य है।

२१५—रत्नत्रयी भाव।

मैं इस समय सर्व अन्य भावोंसे हटकर एक रत्नत्रयी भावमें ही तन्मय होता हूं जो कि मेरे आत्माका स्वभाव है। उसीमें ही सार सुख है। उसीमें ही वीतरागता है। उसीमें ही स्वात्म जनित समता है। उसीमें ही परम निस्पृहता है। रत्नत्रयमई आत्माके भावमें किसी भी पर पदार्थका प्रवेश नहीं होता है। उसीमें एक ऐसा दुर्ग है जहां कोई आ नहीं सक्ता। इस अद्भुत आत्मीक गृहमें रहते हुए न किसीसे द्वेष है न राग है। इसीसे इसमें क्षमा करने व क्षमा मांगनेकी कोई आवश्यक्ता नहीं है। मैं सर्व संकल्प विकल्पोंको त्याग कर एक इसी ही आत्मधर्ममें विश्राम करता हुआ परमानंदका लाभ ले रहा हूं।

२१६—प्रेम पात्रता।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे दूर रह जब अपनी आत्मभूमिकाको देखता है तो उसमें एक ऐसी प्रेमपात्रता पाता है जिसमें परम शुद्धता है। जिस [illegible]

राग द्वेषकी कल्पना नहीं दीखती है। न जिसमें किसी पर शत्रुताका कोई अंश है। इस प्रेमभावमें सर्व जगतकी आत्माएं समान भाव रूपसे परम शुद्ध दिखलाई पड़ती हैं। इतना ही नहीं सर्व ही छः द्रव्य अलग २ परम शुद्ध और परम मित्रताको लिये परस्पर झलक रहे हैं। इस प्रेम पात्रतामें बंध मोक्षकी कोई कल्पना ही नहीं मालूम होती है। सर्व तरहसे सुखका दर्शन इसी पात्रतामें होरहा है। जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव हैं वे इस प्रेम पात्रतामें ही कल्लोल करते हैं। और इसीमें एक प्रकारके अनुपम आनन्दका भोग प्राप्त करते हैं।

११७--शुद्धोद्देश्य।

एक ज्ञानी आत्मा अपने भीतर ज्यों ही ध्यान देता है उसको यह विदित होता है कि उसका उद्देश्य एक मात्र शुद्ध है। उसमें कोई प्रकारकी अशुद्धता नहीं है। पूर्ण निर्मल स्वभावको रखनेवाला होकर वह किसी भी कर्म प्रपंचके जालमें उलझा हुआ नहीं है। उसमें जो मलीन परिणामी हैं वह भले ही उसमें कोई प्रकारका मैल देखें परन्तु शुद्ध स्वभावधारीको तो उसमें कोई भी झंझट दिखता नहीं। उसे तो एक स्फटिक मूर्तिसम ही निर्मल आकार दिखता है। जिसकी निर्मलताको इतना महत्त्व प्राप्त है कि उसमें यह सर्व लोकालोक विना किसी भी क्रमके प्रतिबिंबित होता है। जैसे दर्पणके सामने दर्पणमें क्रोध करनेवाला भी दीखे तौभी दर्पण अपने स्वभावको तजकर विकारी नहीं होता ऐसे ही आत्माके ज्ञानमें भले ही अनेक विकारी पदार्थ दीखें तौभी आत्मा अपने शांतस्वभावको छोड़कर विकारी नहीं होता। सम्यग्दृष्टी स्वात्मानुभवी इसप्रकारके

भावार्थ–जो कोई भी नयोके पक्षपातको छोडकर नित्य अपने आत्मस्वरूपमें गुप्त होकर रहते है। वे ही सर्व विकल्प जालोंसे छुटे हुए शांतचित होकर साक्षात् आनन्दामृतका पान करते हैं।

२२८--परमातम तत्व।

इस संसार असारमें यदि कोई सार तत्व है तो वह निज परमातम तत्व है। इस परम तत्वमें कुछ ग्रहण व त्याग नही है। यह तत्व पूर्ण जल कुम्भके समान अपने अनत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणोसे परिपूर्ण है। इसमें कोई प्रकारका मल नही है। यह सर्व तरहसे निराकुल है। जो कुछ भी आत्मतत्वका स्वभाव है सो सब इस तत्वमें पूर्णतया झलक रहा है। जिन्होने अपनेको सर्व विभाव भावोंसे शून्य माना है व शुद्ध पदार्थ जाना है उन्होंने ही राग-द्वेषकी कालिमाको मिटाया है कि जिससे यह संसारी जीव संसार-सागरमें वहुत कुछ भटका है। इस परमातम तत्वमें न पर कर्तृत्व है न पर भोक्तृत्व है। इसमें शुद्ध गुणोंका स्वभाव रूप परिणमना ही कर्तृत्व है व शुद्ध आत्मानंदका अनुभवना ही भोक्तृत्व है। यह तत्व सर्व आडम्बरोंसे शून्य परम शुचिताका भडार है। इसकी शोभा बचन अगोचर है। जो निज उपयोगके उपादान कारणको देखते है उन्हें यह तत्व सहजमें दिख जाता है। यही तत्व रत्न-त्रय स्वरूप है। यही सुख शातिका समुद्र है। इसीका मनन निश्चय धर्मका मनन है।

२२९--साम्यभाव।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा जब कभी निज अनुभूतिके विशाल समुद्रमें गोता लगाता है तब वहां एक अपूर्व साम्यभावका

दर्शन पाता है कि जिस भावमें कोई प्रकारकी रचमात्र भी कलुषता नही नजर आती है। न वहां राग है, न द्वेष है, न कोई विषय-वासना है, न वहा कोई कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण आदि कारकोंके विकल्प हैं। न वहां गुण–गुणी स्वभाव स्वभाववानके भेद हैं। न वहां कोई सभवते विकल्प हो सक्ते हैं। वहांपर जो कोई भी वस्तु है वह अपने निज स्वभावसे शुद्ध रूपमें विराजमान है। उस साम्यभावमें तीन लोक अपनी शुद्ध परिणतियोंको लिये हुए कल्लोल कर रहे हैं। समस्त ज्ञेय पदार्थ अपने भिन्न२ स्वरूपको ज्ञानमें झलका रहे है तौ भी ज्ञानमें कोई विकार नहीं पैदा होने है। यह उसी शुद्ध ज्ञानकी महिमा है जिसमें साम्यभावका परम मनोहर साम्राज्य है।

२२२–परमभावना।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी परब्रह्म स्वरूप परमात्मा सर्व व्यथाओंसे दूरवर्ती निजानद मई समता समुद्रमें कल्लोल कर रहा है। जहां कोई प्रकारकी आकुलताके प्रपंच नहीं हैं। न वहां कोई भेद प्रभेद हैं न वहां गुणोंकी संख्या है। न वहां अभेद नयका विकल्प है। वहां परम सार स्वरूप एक अनुभवगम्य परम तत्व है। उसी परम तत्वकी भावना ही एक परम भावना है। जिस भावनामें कषायोंकी कलुषता नहीं है। जिस भावनामें इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहना नहीं है। जिस भावनामें राग द्वेषकी विषमता नहीं है। इस परम भावनाके धारी प्राणी सहज हीमें निज शक्तिको व्यक्त करते है और वहुत सुगमतासे भवके क्लेशोंको दूर भगाने जाते हैं। मै सिद्ध सम शुद्ध हूं यही भाव पुनर्पुन. ध्यानमें आना परम भाव-

नाका प्रकार है। जैसे दूधके मक्खनके मथनसे घी निकल आता है वैसे आपसे ही आपके स्वरूपके मथनसे स्वय परमतत्व निकल पड़ता है। इस परमभावनाको करते करते प्राणी एक ऐसे भाव-रूपी धाममें पहुंच जाते हैं जहां न मनन है न विचार है न भावना है। वह एक स्वतत्वकी आनन्ददायिनी नदीके भीतर गोता लगा-कर उसीमें बैठ रहता है। इस अनुभव मई गोतेसे ही आपका आपमें निवास है व इसीसे ही परमानन्द विलास है।

२२३--मोह शत्रु।

है कहां मोह शत्रु, वह महा दुष्ट है—उसीके ही प्रपचमें फंस-कर मैंने अनेक विपत्तियें उठाई हैं। तथा अनेक आपत्तियें झेलीं हैं, चारों गतियोमें भ्रमण करके अपनी लाज खोई है। अब देखूं तो उसे चीर फाड़ करके फेंक दूं। इस तरह विकल्प करके ज्योंही वह छ' द्रव्योंके भीतर मोह भावको ढूढने जाता है तो किसी भी द्रव्यके स्वभावमें इसे नहीं देख पाता है। पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, कालको तो अजीव रूप ही देखता है। उनमें कोई चेतन्य भी परि-णति नही झलकती है। इसी तरह जब जीवको भी उनसे भिन्न अपने स्वभावमें देखा जाता है तो वहां सिवाय चैतन्यके शुद्ध स्वा-भाविक गुणोंके कोई विकारी भाव नजर नहीं आते हैं। वहा न मोह है, न राग है, न द्वेष है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न हास्य है, न शोक है, न विस्मय है, वहां तो परमानंद और परम वीतरागता है। वहा एकेंद्री द्वेंद्री आदिके विकल्प व मिथ्यात्व सासादन आदि गुणस्थानोके कोई भेद कुछ भी नजर नहीं आते। तथा जब कभी निज आत्माको सर्व द्रव्योसे भिन्न देखा जाता है

एक अपूर्व सुख-शांतिका लाभ होता है जो शांति पुद्गलादिमें नहीं पाई जाती है। मोह शत्रुका तो पता ही नहीं चलता। बस अब मैं सर्व संकल्प विकल्पोंको त्याग कर एक आत्मारामका ही दर्शन करूंगा। उसीमें ही विश्रांति लूंगा व उसीका ही ध्यान करूंगा तथा उसीकी ही उपासनासे सदा मैं सुखी हूंगा। मुझे अब मोहादिसे कोई प्रयोजन नहीं।

२२४—सार मार्ग।

परम अतीन्द्रिय सुखका धारी ज्ञानमई आत्मा जब अपने अभेद्य अकाट्य ज्ञानमई दुर्गमें निवास करता है तब इसके स्वरूपको मलीन करनेके लिये कषायोंके मलका बहना वद होजाता है। विषयोंकी कालिमा दूर हो जाती है। कर्मबंधन सब ढीले पड़के मानो भिन्न समान हो जाते हैं। कोई शत्रु इसे विजय नहीं कर सक्ता। वास्तवमें आत्मानुभव रूपी दुर्गकी ऐसी ही महिमा है। इस दुर्गमें निवासीके मस्तकपर रत्नत्रय मई मुकुट अत्यन्त शोभाको विस्तारता है, जो त्रिगुप्तिको प्राप्त हो समताभावका आलम्बनले इस अपने ही स्वरूपकी समाधिमें जमता है वही सार मोक्षमार्गको पाता हुआ स्वरूपालम्बी हो जाता है। मैं हूं व नहीं, मैं ध्याता हूं व ध्येय, मैं ज्ञाता हूं व ज्ञेय, इत्यादि विकल्पोंसे रहित जो होता है वही आपमें आपको आपसे आपके लिये ठहरा लेता है। यद्यपि कथनमें कारकके विकल्प हैं पर स्वरूपाशक्तके स्वसंवेदनमई अनुभवमें कोई कारकके विकल्प नहीं है। जब निश्चय स्वरूपमें जमता है मन, वचन, काय तीनो भयसे अलग होकर शून्य समान होजाते है। वहां न कुछ ग्रहण करता है और न कुछ त्यागता है। जहां

ऐसे सार मार्गपर गमन है वहां सुखशांतिका पद पद पर लाभ है। वहीं समता-सागरका बहाव है। जिसमें निमज्जन परमाह्लाद रूप है। जहां मार्ग और पहुंचनेके स्थानका विकल्प नहीं वही सार मार्ग है। वही आनंदसोपान है। वही मुक्तिका साक्षात् साधन है।

२२५--आत्म-आराम.

एक व्यक्ति जगतके सर्व बनोंमें निराकुलताको न पाता हुआ यकायक अपने ही आत्माके परम सुख-शांतिमय आराममे पहुंचता है और वहां जाकर एक ऐसे आनंदको पाता है जिसका मनसे विचार व वचनोंसे कथन अत्यन्त दुर्लभ है। इस अद्भुत वनमें जबतक कोई व्यक्ति ठहरा रहता है तबतक न उसे भूख है, न प्यास है, न प्रमाद है, न कोई रागद्वेष मोह क्रोधादि भाव है, न कोई विघ्न है, न बाधा है। इस वनमें शांतिमई छाया है और निजानंद मई अमृतरसकी परिपूर्णतासे भरा हुआ ज्ञानमई महान् स्वच्छ सरोवर है। जहां लोकालोक अपनी अनंतगुण पर्यायके समूह सहित झलक रहे हैं। इस आत्माराममें विहार करनेवालेको ऐसी एकाग्रता और तृप्तता प्राप्त होती है कि उसको वहांसे रञ्चमात्र भी फिक्र पैदा नहीं होती है। इस वनमें सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य्य, सुख, चेतना आदि कितने ही अकथनयोग्य गुणरूपी वृक्ष हैं जिन-मेंसे हरएककी छायामें ठहरता व हरएककी सुगंध लेता व हरएकके शांतिमय फलके भोगसे निजानंद भोगता है। कालकी गतिके वीतते जानेपर भी आत्मारामका रमण कभी अंत नहीं होता है। जो ऐसे अनुपम बागकी क्रीड़ा करते हैं ऐसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि धन्यवादके पात्र हैं।

२२६–महान् योग।

यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार कर देखा जाय तो इस जगतमें जिस महान योगके साधनसे परमात्माको वश किया जाता है वह योग अपने ही आत्मामें है और जिसे वश किया जाता है वह व्यक्तित्व भी अपने ही आत्मामें है। निश्चयसे आप ही साधन है आप ही साध्य है। आपहीके अनुभवसे आपकी शुद्धि है। आपहीके ध्यानसे आपका विकाश है। आपकी उन्नतिसे आपहीकी समृद्धि है। उपयोगको जो रागद्वेषसे मूर्छित हो अपनी मातृभूमिको छोडकर पर भूमिमें विहार कर रहा है खींचकर अपनी भूमिमें ही विहार कराना और अन्यत्र जाने न देना ही महान योग है। यही महान यज्ञ है जिसमें ध्यानकी अग्नि जल रही है, कर्म ईंधन दग्ध हो रहे हैं, कर्म वर्गणारूपी धूम्र निकल रहे है, स्वात्मरसवेदनका घृत पड रहा है, जिसकी सुगध स्व और परको आल्हादित कर रही है। इस यज्ञके फलसे किसी पर वस्तुका लाभ नहीं होता; किन्तु जो कुछ पर है उसका वियोग होता है और यह आत्माराम स्वयं परम वीतरागतामें आरूढ होकर परमेश्वरत्वको प्राप्त होजाता है।

२२७–समता माहात्म्य।

एक ज्ञानी आत्मा अनेक प्रकार शत्रुओंसे ताड़ित तथा मित्रोंसे लालित किया जाता है-परन्तु उसके ऊपर इनके द्वेष तथा रागका कोई असर नहीं होता, जैसे जड़ पदार्थपर क्रोध और रागका कोई असर नहीं होता। वास्तवमें जो जड़ तुल्य निष्कम्प निज स्वरूपानन्दमें होजाते हैं उनके भीतर समताका अद्भुत प्रभाव प्रगट हो जाता है। उस समताकी निर्मल भूमिकामें जैसे जलके ऊपर चिक्कन

पदार्थका कोई असर नहीं होता-वह दूर२ ही रहता है उसी तरह रागादि विकार भावोंका कोई असर नहीं होता। इस समताकी भूमिकामें अभेद रत्नत्रयका दीपक आत्मज्ञानकी ज्योतिको दीप्तिमान करता है और इस ज्योतिके कारण समताके स्वामी आत्मप्रभुको सर्व ही त्रिलोकवर्ती पदार्थ मालिका अपने यथार्थ स्वरूपको झलकाती है-वहां भ्रामकभावकी कोई भी कालिमाका दर्शन नहीं होता है। इस समताके माहात्म्यसे इस ज्ञानी आत्माका विभव अपनी पूर्ण सम्पत्तिसे पूर्ण है। उसे अपनी सम्पत्तिका पूर्ण भोग प्राप्त होता है। इस सम्पत्तिके मध्यमें किसी भी पर द्रव्यकी सम्पत्तिका प्रवेश नहीं है। यथार्थ अतींद्रिय आनदका विलास स्वात्ममई समताके माहात्म्यसे ही निरंतर वर्तन करता है, ऐसी समता देवीकी सदा जय हो, यह निरंतर हमसे प्रतिष्ठित रहे।

२२८-जगत-दृश्य।

इस जगत दृश्यको देखनेके लिये जिस आखकी आवश्यक्ता होती है वह ज्ञानचक्षु जिसके निर्मलताके साथ उघड़ जाते हैं उस ज्ञानचक्षुमें यह जगतदृश्य अपनी स्वभाव शक्तिको लिये हुए यथार्थ झलकता है। वहां पदार्थोंकी अनेक स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायें मालूम होती हैं तथापि वे कोई तरहका विकारभाव नहीं पैदा कर सक्ती हैं; क्योंकि निर्मल ज्ञानदर्शकमें जो निश्चयरूप द्रव्य रचना मालूम होती है। वह सब एक उदासीन भावको लिये हुए निःक्रियरूप ही झलकती है। ज्ञानचक्षु सर्वको देखकर हर्ष विषाद नहीं करता है। इस ज्ञानदर्शकको जगतके देखनेसे संतोष नहीं किन्तु संतोष अपनी सम्पत्तिके विलाससे है। आत्मारूपी भंडारमें

शांति और आनन्दके अमूल्य धनमें गाढ़ रुचि और संतोष इस ज्ञानभावको होता है-इसीसे यह परम तृप्त है। जब आप ही दर्शक व आप ही दृश्य बन जाता है-तब अपनी सन्मुखता अपने स्वरूपमें हो जानेसे परम आल्हादभाव पैदा होता है। इसीका अनुभव निश्चयधर्मका मनन है।

२२९-परमतत्व।

जगतमें करणत्रयकी शक्तिसे पूर्ण पदको प्राप्त ज्ञानी महात्मागण जिस तत्त्वके अनुभवसे निजानंदका विलास करते हैं उस परम तत्त्वकी महिमा अगाध है। जो तत्त्वके खोजी है वे व्यवहारके भेदपूर्ण मार्गोंसे हटकर निश्चयके अभेद स्वतत्र मार्गपर आरूढ़ होजाते है। उस निश्चय पथपर चलनेवालोंको सिवाय आत्माके स्वाभाविक शुद्ध गुणोंकी पंक्तिके और कुछ दीखनेमें नही आता है। इसी पक्तिको दूरसे देखते देखते जब वे बिलकुल निकट पहुचते है तब उस पक्तिसे और दर्शककी दृष्टिसे बिलकुल एकता होजाती है उसी जगह परमतत्त्वका दर्शन होता है। यह परमतत्त्व स्वरूप समाधिका बीज है। इस परमतत्त्वमें साक्षात् आनंदश्रोत वहता है जिसके निर्मल जलके स्वादमें मुनिगण सदा तृप्त रहते हुए जगतके रसोकी अभिलाषा नहीं करते हैं। इस परमतत्त्वकी जय हो जो अपनी परम ज्योतिके सामने जगतके ज्योतिवान पदार्थोंकी ज्योतिको मन्द कर देता है। इस परमतत्त्वके विराजते हुए क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय अपना दर्शन नहीं देते हैं। शातिका पूर्ण साम्राज्य रहता है। यदि कोई स्वतंत्रताको चाहे उसे इस परमतत्त्वके रसमें भीगना, इसीके अमृतमई जलमें स्नान करना व इसीकी सुगन्धको लेना, व

इसीकी गुणपूर्ण तरंगोंमें तैरना, व इसीके भीतर डुबकी लगा बैठ जाना चाहिये। यह परमतत्त्व सर्व प्रकार सुखदाई है। इसकी संगतिसे भव-संतापकी ज्वाला शांत होजाती है। भेद विज्ञानके प्रतापसे इस परमतत्त्वका लाभ होता है। धन्य हैं वे भव्य जीव जो इस अनुपम तत्त्वको ध्यानमें रखते हुए शिवस्वरूप रहनेमें पुरुषार्थी बन निश्चयधर्मका मनन करते और निजी संपत्तिका भोग करते हैं।

२३०—ज्ञान महत्त्व।

परमयोगी जिस तत्त्वको मनमें ध्याते हैं वह तत्त्व सम्पूर्ण अज्ञान तत्त्वोंसे विलक्षण है। उस तत्त्वमें ज्ञान-महत्त्वकी ही विशेषता है। यह इतना बृहत् है कि इसमें सर्व लोकालोक जिसकी सत्ता है वह अपनी सर्व पर्याय सहित एक समयमें झलकता है। तथापि यदि अनंते लोक हों तोभी ज्ञानमें शक्ति है कि उनको प्रगटा देवे।

इस ज्ञानके महत्त्वको जिस तत्त्वने धार करके भी अपनेमें रागादि विकार भावोंको स्थान नहीं दिया है वह तत्त्व ही परमसार है। वही समयसार है। वही आत्माका निज धन है। जो इस धनको ही अपना धन समझते हैं और सर्व भौतिक धनोंसे उपेक्षित हैं वे ही ज्ञानी निज ज्ञानकी भूमिकामें कल्लोल करते हुए सदा ही आनन्दमई भावमें प्रफुल्लित रहते हैं। उन्हें जगतमें न कोई शत्रु है न कोई मित्र है। परम समतामई रसका ही वहां विलास है। यदि कोई सूक्ष्मदर्शी उस तत्त्वके भीतर किसी पुद्गलकी शक्तिको देखना चाहे तोभी उसे उस पुद्गलका रंच मात्र भी दर्शन नहीं होगा। चिच्चमत्कारमई ज्योतिसे स्फुरायमान यह निज तत्त्व सूर्यादि तेजस्वी पदार्थोंकी ज्योतिको मंद करनेवाला और शांतिमई सर्व पदार्थोंसे

अनौपम्य शांत रसको विस्तारने वाला है। धन्य हैं वे जो इस ज्ञान महत्त्वसे परिपूर्ण तत्त्वको अनुभव करते हुए स्वरूपमें सदा जागृत रहते हैं।

२३१—जगत दृश्य।

हम ज्यों२ वस्तुके स्वरूपका विचार करते हैं त्यों २ परिणामोंमें शांतिमई झलक बढ़ती चली जाती है। द्रव्य दृष्टि वस्तुके सामान्य विशेषात्मक स्वरूप पर विना परनिमित्तज विकल्पोंपर ध्यान दिये जब थिर होजाती है तब समताका समुद्र अपने सामने बहने लगता है। उसमें स्नान करने, उसका निर्मल जल पीने व उसके रसास्वादमें तृप्ति पानेसे भव भ्रमणकी आकुलता शांत हो जाती है और एक ऐसी अवस्थामें परिणाम पहुंच जाता है कि जहां सिवाय आप आपके और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता। आपमें भी विशेषानुभव छूटकर सामान्य अनुभव रह जाता है। जिसके प्रतापसे परमानंद झलक उठता है। जगतके क्षणिक सुखोंकी वासना मिट जाती है। इस स्वरूप अनलमें कषाय ग्राम उजड़ हो जाता है। आश्रव बंध मालूम नहीं कहा चले जाते हैं। संवर और निर्जराका राज्य हो जाता है। और तब यह ज्ञाता दृष्टा आत्मा जगतदर्शी होता है और यह जगत दृश्य हो जाता है। यह जगत रागद्वेषका विषय नहीं रहता। इसी दृष्टा ज्ञातापनेमें सुख शांतिका विलास रहता है।

२३२—परमानन्द।

जगतके संतापसे दूरवर्ती ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा जब अपनी आत्मभूमिमें देखता है तो वहां एक ऐसे गुणका नृत्य दीख-

नेमें आता है जिसकी चांदनीमें सर्व गुण शोभायमान प्रतीत होते हैं उसका नाम है परमानन्द । इस परमानंदका विकाश आत्मद्रव्यमें इसी तरह है जिसतरह एक रत्नमें उसकी निर्मल ज्योति हो । इस आनंदके सामने सर्व जगतके सुख नीरस दीखते हैं । इस आनंदका वेग धाराबाही वहा करता है जब आत्मा अपनेको आपसा ही जानकर अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपमें तन्मय हो परिणमन किया करता है । आत्मद्रव्यमें एक अनुपम गुण सर्वको जानकारके भी वीतराग रूप रहनेका है जिससे यह आत्मा किसी परद्रव्यको व उसके किसी गुण या पर्यायको ग्रहण नहीं करता और न अपने द्रव्य या गुणके किसी अंशको त्यागता है । ग्रहण व त्यागके विकल्पसे शून्य यह ज्ञानी आत्मा अपनी सत्तामें अभेद रूपसे आपको ही पाता हुआ व आपको ही ध्याता हुआ परमसुखी और परम तृप्त रहता है ।

२३३--परिणमन अनिवार्य.

जगतके पदार्थोंमें समय समय परिणमन करना स्वभाव है—कोई भी पदार्थ कूटस्थ नित्य नहीं रह सक्ता । यदि पदार्थ बिल्कुल नित्य हो तो उसमेंसे कोई भी कार्य संपादन नहीं होसक्ता । जैसे यदि सोना व लोहा एकसी दशामें रहें तो उनसे आभूषण व वर्तन तवा आदि वन नहीं सके । यदि जीव एकसी दशामें रहे तो जीवोंमें कभी शोक कभी हर्ष नहीं हो, न शरीर त्याग हो और न शरीर ग्रहण हो । इसलिये प्रगट दृष्टांतोंसे परिणमनशील स्वभाव द्रव्य है यह सिद्ध है । द्रव्य चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध हो यह परिणमन स्वभाव उसमेंसे मिट नहीं सक्ता है । जो सर्वज्ञ आत्मा हैं उनके

ज्ञानमें तीन कालवर्ती सर्व द्रव्योके परिणमन जैसे कुछ हुए हैं होते हैं व होगे वे सब वैसेके वैसे ही प्रति समय प्रगट होरहे है। ऐसी दशामें एक ज्ञानी आत्मा यही जानता है कि पदार्थोंके परिणमन मेरी भावनाके अनुसार हों व न हों परन्तु जो कुछ परिणमन हुए हैं वे सब सर्वज्ञके ज्ञानगोचर थे वे अन्यथा नहीं होसक्ते थे-इस तरह सत्यज्ञानके रगमें रगा हुआ ज्ञानी आत्मा रागद्वेष त्यागकर वीतराग भावमें स्थिर रहता हुआ अपनी वस्तुके स्वभावको जानता हुआ अपनी निज ज्ञान चेतनामें तन्मय रहता है और इस तरह अभेद भावमें अकम्प रह निश्चय रत्नत्रयमई भावका स्वाद लेता हुआ परम सुखी वना रहता है।

२३४-अकथनीय तत्व।

जगतमें ज्ञानकी अपूर्व महिमा है-उस ज्ञानकी स्थापना पुद्गलमें करके दूसरेको वताना सो वचन विलास है। इस वचन विलाससे सर्वांग कथन हो नहीं सक्ता। संकेत रूप कुछ होता है-कहनेवाला जो जानता है सो दर्शा सक्ता नहीं-सुननेवाला शब्दोके संकेतसे जव अपने ज्ञानके भंडारकी तरफ जाता है तब ही समझ पाता है। निज तत्व जो आत्माका अनंत गुणमयी अखड स्वरूप है वह यथार्थमें अनुभवगोचर है-उसके लिये समझने समझानेकी चेष्टा करना उन्मत्त चेष्टा मात्र है। श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतकमें कहते है-

> यत्परै. प्रतिपाद्योऽह यत्परान्प्रतिपादये ।
> उन्मत्तचेष्टित तन्मे यदह निर्विकल्पक. ॥

स्वतत्व स्वतत्वमें है। जो परतत्वसे पराङ्मुख हो स्वतत्वमें

स्वयं सन्मुख होता है सो स्वतत्वका अनुभव पाता है–उस स्वानु-भवमें परद्रव्यके गुणपर्यायोंका व अपने ही गुणपर्यायोंका भेदरूप दर्शन नहीं होता–ऐसा हूं ऐसा नहीं यह कल्पना नहीं रहती–स्वरूपाशक्ततामें क्या झलकता है सो वही जाने जिसके स्वरूप झलके। एक आम्रफलके स्वादके अनुभवका यथार्थ कथन जब अश-क्य है तब स्वात्माके आनंद वेदनका कथन कैसे हो सक्ता है–जो वेदक है वही ज्ञाता है उसके कहने सुननेका धर्म ही नहीं है।

२३५–शांत भावना।

२३६--गुण ग्राम।

सर्व संकल्प विकल्पोंसे दूर ज्ञाता दृष्टा आनंदमई चेतन पदार्थकी सत्तामें अनंत गुणग्राम वास करते हैं। एक २ गुणग्राममें अनंत अविभाग प्रतिच्छेद रूप अंशोंकी वस्ती है, जिनका पता पाना सिवाय केवलज्ञानके और किसीको संभव नहीं है। मैं स्वयं अनंत वीर्यधारी एक स्वतंत्र चेतन पदार्थ हूं। मैं यद्यपि चिरकालसे अपनेमें ही निवास करता हूं परन्तु मैंने अपनी सम्पत्तिकी सम्हाल नहीं की। आज मैं निजभण्डारकी गणनामें लगा हू। गणना करता हुआ पार नहीं पाता हू। किन्तु इतना अवश्य निश्चय करता हूं कि जो कुछ मुझे चाहिये सो सब मेरे ही पास है। मै जिस सुखके लिये बहुत ही कष्ट सहकर पर पदार्थोंका संग्रह करता था तौभी चिरतृषित रहता था। आज उस सुखको अपनेमें ही अटूट देखकर मैंने और सब अभिलाषाओंका परित्याग कर दिया है। और स्थिरताके साथ अपनेमें ही रहना उचित समझा है। मुझे अपने गुण पुष्पोंकी अभेदताकी अनुपम सुगंध आरही है। इस आनंददायिनी सुगंधमें मैं भ्रमरके समान आसक्त होरहा हू। मुझे न करना है, न हरना है, न तजना है, न ग्रहण करना है। मैं अपनी सत्तामें सदाके लिये लुप्त हो जाता हू। अब कभी परके सन्मुख नहीं होऊंगा।

२३७--अटूट धन।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा जब अपने भीतर देखता है तो अतीन्द्रिय आनन्दका अटूट धन पाता हैं। निरंतर इस धनका भोग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकत्व परिणति द्वारा करते हुए

भी यह धन कुछ भी कम नहीं होता। इस अटूट धनकी महिमा वचनोंसे अगोचर है। इस धनकी उपमा किसी भी जगतकी संपत्तिसे नहीं दी जा सक्ती है। इस धनके धनीको सम्यग्दृष्टी कहते हैं। सांसारिक सुखसे इस सुखका मुकाबला करना वास्तवमें ठीक नहीं है। कहां वालूरेत असार कहां तेलसे भरे तिल। इस धनके भोगके लिये जो जगतकी राज्य सम्पदाको लात मार देते हैं वे ही सच्चे वीर हैं। सिद्धात्मा अनंतकालके लिये इसी धनके उपभोगमें लवलीन रहते हैं और ऐसे तन्मय होजाते हैं कि जगतके प्राणी सिद्धोंकी कितनी भी स्तुति करें व कितनी भी स्मृति करें तौ भी सिद्ध महाराज किसीकी सुनते नहीं न किसी तरफ अपना लख करते हैं। उनकी अपेक्षा कोई निन्दो व स्तुवो, उन्हें जगतसे कोई मोह नहीं है। वे तो अतीन्द्रिय धनके स्वादमें भ्रमर जैसा कमलमें लिप्त हो ऐसे लवलीन हैं। कहनेको तो मान कषाय छोड़ा है परन्तु वास्तवमें देखो तो भगवान सिद्धके समान मान और किसीको नहीं है। कहनेको तो लोभ छोड़ा है पर वास्तवमें सिद्ध भगवानको जैसा इस अमिट धनसे लोभ है वैसा लोभ किसीको भी नही। कहनेको तो मायाचार छोड़ा है पर वास्तवमें सिद्धोंके समान मायाचार किसीको नही जो उन्होंने अपने इस अटूट धनको अपने पास छिपा लिया है और अपनेको प्रगट करते हैं कि हमारे पास तिल तुसमात्र भी परिग्रह व पर वस्तुका सम्बन्ध नहीं है। कहनेको तो क्रोध छोड़ा है पर वास्तवमें क्रोध इतना है कि जगतभरसे रूठकर लोकके अग्रभागमें बैठ गए हैं—लोग हजारों प्रार्थनाएं करते हैं पर कुछ भी दया नहीं दिखलाते तथा जो कोई जरा भी

अप्रेम व अनादर भाव करता है वह तुर्त ही पापी वन जाता है। इस तरह चारो ही कषायोसे पूर्ण सिद्ध भगवान जिस अटूट धनमें आसक्त है मै भी उसीमें आसक्त होता हुआ अपने ही भडारमें निज सम्पत्तिके प्रभावको देख देख आनंदमई होरहा हू।

२३८--ज्ञानमई बाण।

परमाराध्य ज्ञाता दृष्टा आनंदमई आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंको दूर करके जब अपनी ही सत्ताके क्षेत्रमें खडा हो अपने ही शुद्ध भावसे ज्ञानमई बाणको उठाकर मोहनीय कर्मकी सेनाकी तरफ मारता है तो मोहकी सेना छिन्नभिन्न हो जाती है और सदाके लिये चेतनाका सामना करना वद कर देती है। ज्ञानमई वाण और वैराग्यके धनुषको लिये हुए यह क्षत्री वीर अपने आत्मवीर्यको प्रगट करता हुआ अपनी ही आत्म राज्यधानीका उत्तम राजा होरहा है। इसके राज्यमें कोई इसका शत्रु नहीं है। हर स्थानमें आनन्द ही आनन्द छाया हुआ है। इस राज्यकी सब गुण रूपी प्रजा अपने पूर्ण महत्त्वको लिये हुए पूर्ण वलके साथ विना बाधा पाए हुए व विना अन्यको वाधा दिये हुए स्वतंत्रतासे कल्लोल कर रही है। रागद्वेष वैर विरोधका चिन्ह मात्र भी नहीं है। समता व शातिका अनुपम राज्य है। इस राज्यधानीमे हिसादि पाच पापोका राज्य नही है। यहा महाव्रत और चारित्रकी अनुपम छटा है, इस छटाका जो आनन्द लेते हैं वे सर्व सकल्प विकल्पोंसे छूट जाते है।

२३९--पद्म वन।

ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको दूर कर जब अज्ञान मिथ्यात्त्व असंयत रूपी अन्धकारसे दूर हो सम्यक्त

ज्ञान चारित्रकी एकता रूपी सूर्य किरणका निमित्त पाता है तब वह कमलके समान प्रफुल्लित होजाता है। उस कमलमें केवलज्ञान-रूपी लक्ष्मी अपना मनोहर दर्शन देती है। जब कोई वीतरागी आत्मा शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे जगतकी आत्माओंके दर्शन करने लगता है तब उसको सर्व ही अनन्त आत्माओंका एक समूह पद्म-वनके समान मालूम होता है। इस वनकी शोभा अकथनीय आनंद रूप है। इस वनमें समता, शांति और आनन्दका राज्य है। वहां कोई कालिमा नहीं नजर आती है—परम शुद्धताका स्थान है। जो कोई निज सार सुखके इच्छुक है वे इस पद्मवनकी भूमिकाको कभी नहीं त्यागते हैं। वास्तवमें जो कोई जन भ्रमरके समान इस पद्म-वनमें आसक्त होजाते है वे आत्मानुभवके परमानन्दका लाभ करते हुए परम सुखी रहते हैं।

२४०--शांतभाव।

इस जगतमे यदि कोई शातभावको ढूंढ़ना चाहे तो उसको अपने आपमें जाना चाहिये। अपनी ही भूमिमें अपने आत्मप्रभुको देखना चाहिये। यह आत्मप्रभु परम शांत गुणवाला है। उसमें रागादि विकारका कहीं रञ्च भी दर्शन नहीं होता है। शांतिके साथ आनन्द भी उसका स्वभाव है। इस शांतभावमें गर्भित आनन्दके भोगसे प्राणीको परम तृप्ति प्राप्त होती है। मान सरोवरके निर्मल जलसे हंसको केवल शारीरिक शांति मिलती है जबकि इस आत्मी-कसमुद्रकी शांतिसे आत्माके प्रदेशोंको शांति मिलती है। जिसने अपने आत्माको ज्ञान दर्शन सुख वीर्य, चारित्र आदि गुणोंका समुद्र समझा है व जिसने अपना भाव इसी समुद्रमें कल्लोल करनेका जागृत

कर लिया है वह आत्मा सदा ही इस शांत सागरमें डूब रहता है। इष्ट वस्तुका जहां लाभ हो उसको छोडकर अन्यत्र जाना बुद्धिमानका काम नही है। बस यह भव्य जीव सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित होकर निज आत्माके अनुपम सुखदाई समुद्रहीमें रहता हुआ सदा सुखी बना रहता है।

२४१-परम संतोष।

एक ज्ञानी आत्मा जब अपनी चिरविस्मृत विभूतिका दर्शन पाकर उस विभूतिके भोगनेमें तन्मय होजाता है तब अपने अंतः-करणमें परम संतोष पाता है। उस संतोषमें कोई कषायका उद्वेग नहीं होता है। वह स्वाभाविक आत्माकी परिणति है। इस परिणतिके स्वामीको हम चाहे जिस नामसे कहें वास्तवमें न उसका नाम है न उसका कोई ठाम है। वह सदा ही अपने प्रदेशोंमें रहनेवाला अपने ही आधारसे आपमें कल्लोल करनेवाला है। उसकी सर्व शक्ति उसीमें रहती हैं। कोई उसे छोड़ कर चली नहीं जाती है। शक्ति शक्तिवान्का अभेद सम्बंध है। बचनोंसे न कहने योग्य होकर भी वह बचनोंसे मात्र संकेतरूप बताई जाती है। इस आत्मामें एक अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्दका विलास है। इस आनंदकी प्रादुर्भूति षट्द्रव्योंके यथार्थ ज्ञानसे एक श्रुतज्ञानीको होजाती है। केवलज्ञानीको पूर्ण ज्ञानसे पूर्ण अतिन्द्रिय सुखकी अनुभूति होती है। धन्य हैं जो इस सुखको पाकर परम संतोषका लाभ करते हैं।

२४२-यथार्थ प्रभावना।

परम प्रभु ज्ञाता दृष्टा आत्मा जब कभी अपने ही असंख्यात प्रदेशोंके मार्गमें निज आत्मारामको रत्नत्रयमई परम शोभायमान

धर्मरूपी रथमें विराजमान करके विहार कराता है तब सर्व आत्माके भीतर परम प्रभावना होजाती है। आत्माके सर्व शुद्ध गुण आनंदामृतसे द्रावित होकर परम प्रफुल्लित होजाते हैं। सर्व तरफ ज्ञानका प्रकाश छा जाता है। इस यथार्थ प्रभावनामें कोई बाधक नहीं होता क्योंकि यह प्रभावना स्वाभाविक निज आत्मीक धर्म है। इस धर्म और धर्मीमें तादात्म्य सम्बन्ध है जो कभी छूट नहीं सक्ता। धर्म है या धर्मी, गुण है या गुणी, भेद है या अभेद, चेतन है या अचेतन, बन्ध है या अबन्ध, एक है या अनेक, है वा नहीं इत्यादिक सर्व विकल्पोंका त्याग जहां रहता है वहींपर परम प्रभावना होती है। वहीं स्वानुभव झलकता है। वही स्वसंवेदन ज्ञानकी तरंगें उठती हैं। वहीं निज सम्पत्तिको भोगता हुआ आत्मा परम तृप्त और सुखी रहता है।

२४३-परम दुर्ग।

चेतन प्रभु सर्व मन, बचन, कायके हलनचलनरूप विकल्पोंको त्यागकर शुद्ध ज्ञाताद्दष्टा आनन्दमई परमात्म स्वरूप निज अनंत गुणोसे निर्मित आत्माके परम निष्कम्प व दृढ़ दुर्गमें निवास करता हुआ सर्व तरहसे निर्भय है। इसलोक, परलोक, वेदना, अनरक्षा, अगुप्त, मरण व अकस्मिक भय नहीं है। उसके आत्मप्रदेश अच्छिद्य, अभिद्य, अखंड तथा निश्चल है। कोई शक्ति जगमें ऐसी नहीं है जो उसे डांवांडोल करसके। वह सर्व तरहसे स्वाधीन अपने स्वभावकी मर्यादामें तिष्ठता है। वह स्वच्छ और समुद्रके जलके समान पवित्र है। परम दुर्गवत् आत्मामे किसी भी चेतन अचेतन पर द्रव्यकी सत्ता नहीं है इसीसे वह स्वच्छ भावसे अस्तिरूप और

पर स्वभावोंसे नास्तिरूप है। जो कोई इस परम दुर्गका निश्चय करके उसीका आश्रय लेता है वह सब तरहसे निर्भय और स्वाधीन रहता हुआ व सब तरहकी चिन्ताओंसे छूटा हुआ व निज अनुभूति तियाके भोगसे उत्पन्न परमामृतका स्वाद लेता हुआ परम तृप्त रहता है।

२४४–सारमार्ग।

परम अतीन्द्रिय सुखमई पर्वत पर आरूढ़ होनेके लिये सार मार्ग अपने स्वरूपका अनुभव है। निज आत्माको जब रागद्वेष मोहके रंगसे बचाकर समताके उज्वल रंगमें रंग दिया जाता है तब यह आत्मा स्वय सार मार्ग होकर अतीन्द्रिय सुखके पर्वत पर चला जाता है। इस सार मार्गमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्रका मिश्रित मसाला विछा हुआ है कि जिसके जोरसे कर्मबंधकी कालिमा वहां कुछ भी नहीं जम सक्ती है। इस सार मार्गमें जानेवालेको भूख, प्यास, गर्मी, शरदी, रागद्वेप आदिकी निर्वलता नही सताती है। यहा पद पद पर स्वात्माका सुखदाई रस पीनेमें आता है और यह आत्मा अनत सुखके शिखरपर पहुच जाता है।

२४५–निज सत्ता।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व जगतकी पर सत्ताओंका नास्तित्व अपनी सत्तामें जानकर सबसे उदासीन होकर अपनी ही सत्तामें निवास करता है। निज सत्तामें उसके भोगने योग्य सर्व सामग्री प्राप्त होती है। वहा न परकीय भोजन न परकीय वस्त्रोंकी आवश्यक्ता है। वास्तवमें किसी द्रव्यको किसी अन्य द्रव्यका भोग हो ही नहीं सक्ता है। आत्मारामके पास स्वात्मानन्दरूपी अमृत एक

परम भोजन है जो थोड़ा भी ग्रहण करनेसे जैसे तृप्ति देता है वैसे अधिक भी तृप्तिकारी होता है। निज सत्तामें सर्व लोकालोक दिखते हैं परन्तु किसीकी सत्ता किसी अन्य द्रव्यकी सत्तामें समा नहीं सक्ती। इसीसे निज सत्ता निराली है। अपने भीतर सिवाय निज धनके औरका धन किंचित् भी नहीं आ सक्ता है न किसीमें शक्ति है जो सत्ताके भीतर समाए हुए शुद्ध आत्मीक गुणरूपी धनको चुरा सके व नष्ट कर सके। मैं इस निज सत्तामें सर्व तरहसे कल्लोल कर रहा हूं और परमानंदका अनुभव कर रहा हू।

२४६--सार सुख.

तीनलोक क्षेत्रमें यदि लोकाकाशमें देखा तो वहां सार सुख नहीं, यदि अलोकाकाशमें देखा तो वहां नहीं। यदि धर्मास्तिकायमें ढूंढा तौभी किसी प्रदेशमे नहीं, यदि अधर्मास्तिकायमें देखा तो वहां भी कहीं नहीं। यदि असंख्यात कालाणुओंमें देखा तो वहां भी नहीं। यदि अणु और स्कंध रूप पुद्गलोंमें देखा तो वहां भी कहीं पता नहीं चलता परन्तु जब पाचों अजीवोंको छोडकर जीव द्रव्यमें देखा तो हरएक जीवके हरएक प्रदेशमें सार सुख भरा हुआ है। एक जीवमें असंख्यात प्रदेश होते हैं। एक एक प्रदेशमें इतना गहरा सार सुख रूपी अमृत है कि अनंतकाल तक भी पीया जाय तो वह कभी समाप्त नहीं होसक्ता है। सर्व अनंतानंत जीवोंसे यह जगत परिपूर्ण है। सब हीमें अगाध सुखामृतका सागर है। आंख मींचकर जब अनुभव करते हैं तब यह जगत सार सुखका एक बृहत् सागर दीखता है। फिर क्या है उस समुद्रमें कल्लोल करना व उसके जलको पीना कैसा सुखकर है। उसका कथन हो नहीं सक्ता जो ऐसे समुद्रमें रमते हैं वे ही निश्चय धर्मके मनन करनेवाले हैं।

२४७--भाववान्।

जगतमें यदि कोई भाववान ज्ञान-परिणामी द्रव्य है तो मै हूं। मेरे सिवाय सर्व ही द्रव्य ज्ञेय हैं ज्ञानी नहीं। मैं ज्ञेय भी हूं ज्ञानी भी हूं। मेरी महिमा अद्भुत है। मेरे अदर तीनलोक अलोक झलकते हैं तथापि मेरेमें दर्पणवत् कोई विकार नही पैदा करसक्ते। मै सबको देखता हुआ भी अपने आपको ही देखता। हूं सबको जानता हुआ भी अपने आपको ही जानता हूं। मैं किसी परद्रव्य, परगुण, पर पर्यायका कर्ता नहीं होता हूं। तौ भी मैं अपनी शुद्ध परिणतिका नित्य ही कर्ता हूं। मै किसी परद्रव्य, परगुण, परपर्यायका भोक्ता नहीं होता हूं। तौ भी मैं अपनी शुद्धानुभूतिका निरंतर भोगनेवाला हूं। मैं किसी भी परद्रव्य, परगुण, परपर्यायमें नहीं जाता हूं तौ भी मैं अपनी ही गुणावलीके बागमें नित्य कल्लोल करता हूं। मैं किसीको अपना द्रव्य, गुण, पर्याय नहीं देता हूं तौ भी मैं आपको अपने ज्ञानामृतके स्वादको प्रदान करता हूं। इस तरह भाववान मै अपने ज्ञानानंद भावमें तृप्ति पाता हुआ परमसुखी रहता हूं।

२४८--परमागम।

इस जगतमें यदि विचारकर देखा जावे तो जिस कागज स्याहीको व उसपर अंकित चिन्हको लोग परमागम कहते हैं वह वास्तवमें परमागम नहीं है। परमागम सार जो भाव श्रुतज्ञान है वह आत्मज्ञानसे बाहर नहीं है। इसलिये आत्मज्ञान ही परमागम है। वही सच्चा आत्मज्ञानी है जिसने सर्व ग्रन्थावलीका आलम्बन त्याग दिया है और निजमें निजके स्वभावको धारण किया है।

निज स्वभावका अनुभव ही परमागम है। स्वानुभव विना अनेक परमागमका पढ़ना कार्यकारी नहीं है। जिसने शब्दको पुद्गलमई जानकर त्याग दिया है और चित् परिणतिको ही चैतन्यमें प्राप्त किया है वही विद्वान् और शास्त्री है। मैं परमागमका स्वामी परमागम मेरा सिद्धांत यह विकल्प भी त्यागने योग्य है। संकल्प-विकल्परहित सार वस्तुका मनन महामोह आतंकको दूर करनेवाला है, रागद्वेषकी कालिमाको मिटानेवाला है। सर्व वचनविलासको त्यागकर मैं अवक्तव्य स्वानुभवगम्य निज पदार्थका ही दर्शन करता हूं। यही दर्शन सारसुखका उपाय है।

२४९--परमात्मतत्त्व।

इस छः द्रव्योंके समुदाय रूप लोकमें यदि विचार कर देखा जावे तो सार तत्त्व एक निज आतम तत्त्व है। भेद विज्ञानकी दृष्टि जब अपने ही भीतर क्षेपन की जाती है तो पुद्गलके कार्योंसे भिन्न एक आतम तत्त्व झलक जाता है। इस आतम तत्त्वमें हर प्रदेशमें ज्ञान दर्शन सुख वीर्यका दर्शन होता है। जहां देखो वहा शांति और आनन्द ही दिखलाई पड़ते हैं। जहां देखो वहां दर्पणवत् निर्मलता स्फुरायमान है जिसकी स्वच्छतामें सर्व जगतके पदार्थ अपने गुण पर्याय सहित प्रतिबिंबित होते हैं तथापि आतम दर्पणमें कोई विकार नहीं पैदा कर सक्के। यदि ध्यानसे देखते हैं तो इस आतमतत्त्वमें कहींपर भी क्रोध मान माया लोभ आदि दोषोंकी छायामात्र भी नजर नहीं आती—सर्वत्र स्फटिकवद् मूर्ति अपने स्वरूपमें प्रकाशमान उप-स्थित है। इस आत्म तत्त्वको उपादेय मानकर जो इस तत्त्वका ही मनन करते हैं वे साक्षात् आनन्दका लाभकर परमात्मा होजाते हैं।

२५०--परमाल्हाद.

इस जगतमें परम आल्हाद रूप यदि विचार किया जाय तो एक आत्माराम है जिसमें न कोई आकुलता है न कोई आकुलताके कारण हैं। रागद्वेषादिकी कालिमा वहां अपना कोई स्थान नहीं रखती है न वहां अनंत कर्मवर्गणाओंके न आहारकादि नोकर्म वर्गणाओंके स्थान हैं। वह आत्माराम आकाशकी तरह परसे अलिप्त है, शुद्ध है, निर्विकार है, तथापि जड़त्त्वसे रहित चैतन्यमय है जिसमें आनद, चारित्र, वीर्य, सम्यक्त आदि अनेक विलक्षण ऐसे गुण हैं जो आकाशमें नहीं पाए जाते हैं। ऐसा होनेपर भी उसका चैतन्यगुण दर्शन ज्ञानस्वरूपको नहीं त्यागता है। इसीलिये पदार्थोंके सामान्य तथा विशेष गुणोंको झलकानेके स्वभावसे कभी नहीं छूटता। उसका स्वपर प्रकाशक स्वभाव प्रदीपकी तरह उसीमें जाज्वल्यमान रहता है। एक ज्ञानी आत्मा जब सपूर्ण पर आलम्बनोंको त्याग कर स्वावलम्बनोंको धारण करता है और सर्वसे किनारा कसकर निज स्वरूपसत्तामें ही ठहर जाता है तब उपयोग जिस स्वरूपका स्वाद पाता है वह आत्माका परमाल्हाद गुण है। इस परमानंदकी तुलना किसी भी उपमेय पदार्थसे होना अशक्य है। यह परमानंद भेदज्ञानीके अनुभवमें आकर जो चमत्कार प्रदर्शित करता है उसका साक्षात् ज्ञाता वही है जो इन चमत्कारोंको भोगता है और कर्ता है।

२५१--परम रस.

ज्ञानी महात्माओंके लिये एक विचारणीय विषय यह है कि वे किसी ऐसे परम रसकी खोज करें जिस रसके स्वादमें परम तृप्ति और परम शांति है। पौद्गलिक षट्रसोंके भीतर यह गुण नहीं है।

ये रस अतृप्तिके वर्द्धक और अशांतिके कारक है। आत्मीक द्रव्यमें यदि खोज की जाय तो वहां अतीन्द्रिय आनन्दका रस वास्तवमें ऐसा रस है कि जो सब तरह सुखप्रद और तृप्तिकारी है। इस रसका समुद्र तो यह स्वयं आत्मा है। अपनी ही वस्तुको अपनेमें पाना वास्तवमें कठिन न होना चाहिये, परन्तु अनादिकालसे उसका पता न मिलनेसे उसका पाना दुर्लभ हो रहा है। सहज उपाय यही है कि हम संकल्प छोड़ें और शुद्ध निश्चय नयका शरण लेकर अपने ही आत्माके गुणोंका चिन्तवन करें। इसीके वलसे सहज ही आत्मवस्तुका लाभ होता है और लाभ होते ही वह परम रस स्वादमें आजाता है। ज्ञानियोंको चाहिये कि अपने उपयोगको स्व-स्वरूपकी तरफ सदा ही सन्मुख करते रहें और इसी लिये निज स्वभावके आराममें नित्य क्रीड़ा करें।

२५२–भावना.

भावना करना एक विकल्पजाल है। यद्यपि भावना आत्माके सुन्दर अजर अमर निर्मल अनंतगुणपूर्ण वागमें पहुंचा देती है और तब इस आत्माको पर पदार्थोंमें जानेसे अटका देती है इसी-लिये कर्मबन्धकी कालिमासे रक्षित करती है तथापि भावना अपने राज्यमें तो आत्माको बांधती ही है। इसीलिये मैं ऐसी भावनाको त्यागकर षोड़शकारण भावनाके फल रूप निज आत्माकी शुद्ध परिणतिमें ही विश्राम करता हूं। वहीं सुख-शांतिका समुद्र है। वहीं भव–रोग हरण औषधि मिलती है। वही निर्मलताका वास है। वहीं हमारे जाति भाई सिद्ध भगवान् भी वास करते हैं। वहीं एक ऐसी प्रकारकी सुगंधि है कि जिस सुगंधमें तन्मय हो

यह आत्मा विलकुल उन्मत्त होजाता है और एकदम निज आत्मा-नुभूति तियामें लिप्त होजाता है—ऐसा रागी होजाता है कि उस रागकी उपमा कहीं भी इस लोकमें नहीं मिल सक्ती है। और वह राग युक्त आत्मा कभी भी इस अनुभूति रसको नहीं छोड़ता। आश्चर्य तो यही है कि भ्रमर कमलमें आसक्त हो जब अपने प्राण गमा देता है तब यह आत्मा निजानुभूति तियामें लीन रहते हुए सदा ही अमर और प्रफुल्लित बना रहता है।

२५३--साम्यभाव.

परम अतीन्द्रिय ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा जब सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर निज स्वरूपके आनन्दमें तन्मय होजाता है तब वहां राग द्वेषकी कालिमाका दर्शन नहीं होता है। यह आत्मा स्वभावसे ही परम साम्यभावमें लय होजाता है। वास्तवमें साम्यभाव इस आत्माकी निज सम्पत्ति है। आत्माराम अपनी स्वास्थ्य अव-अवस्थामें साम्यभावका पूर्ण धनी रहता है। उसके लिये सर्व ही द्रव्य अपने २ स्वभावमें कल्लोल करते हैं। वहां कोई विभावता नहीं रहती है। शत्रु व मित्रकी कोई कल्पना वहां नहीं होती है। इस साम्यभावमें साक्षात् परमात्मारूप होकर यह आत्मा निजस्वभावके विलाससे उत्पन्न परमानदमई अमृत रसका स्वाद लेता है। एक भववनमें भटकते हुए, भवातापसे संतापित आत्माको शांति देनेवाला यदि कोई मनोहर उपवन है तो यह साम्यभाव है। जो इस उपवनमें प्रवेश कर जाते हैं वे सर्व आकुलताओंसे छूटकर परम संतोषी व सुखी रहते हैं। सम्यग्दृष्टीके क्रीड़ाका स्थान यही साम्यभाव है। आत्माकी संपूर्ण सुन्दरताका दर्शन इसी स्थलमें प्राप्त होता है। जो

इस साम्यभावमें जम जाता है सो ज्ञाता ज्ञेय, दृष्टा दृश्यका विकल्प मेटकर एक एकाकी स्वरूपाशक्त हो जाता है। और स्वानुभवके द्वारा परम स्वभावका भोग करता है।

२५४--दशलाक्षणी धर्म.

परमानंदविलासी चित् परिणति विकाशी आत्मउपवन क्रीडाकारी आत्माराम जब अपने सार स्वरूपका अनुभव करता है तो उसको अपने ही भीतर दशलक्षण रूप धर्म-वृक्ष देखनेमें आता है। क्रोध, मान, माया, लोभके विरोधी उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच आत्माके निज गुण हैं ही। सत्य गुण आत्माके सदा साथ रहता है। वस्तुस्वरूपमें कोई असत्यता आ नहीं सक्ती, संयम भी आत्माका गुण है। आत्मा सदा संयमरूप है। इसीसे किसी भी पर वस्तुके गुण पर्याय आत्मामें स्थान नही पासक्के। जो इच्छा विना स्वतृप्त रहता है वही परम तप धर्मका धनी है। उसके कोई इच्छाकी कालिमा नहीं होती है। जो वस्तु आत्मा अपने अनंत गुणोंको व धर्मोंको निरवकाश पिये हुए हैं उसमें किसी भी परगुणके प्रवेशकी जगह नहीं है, वह उत्तम त्यागरूप है ही। जिसने परम संतोषके बलसे अपनी सम्पत्तिमें ही आपा माना है उसके परसम्पत्तिमें आपापना ही नहीं है। इससे परम आकिंचन्य रूप है। जो अपने ब्रह्मानन्दका रसपान किया करता है कभी भी ब्रह्मको त्याग अब्रह्ममें नहीं जाता, वह परम ब्रह्मचर्यका स्वामी है। भेद नयसे १० भेदरूपसे अनुभवमें आता हुआ भी वह अपने स्वरूपमें पूर्ण अखंड है। जो सर्वसे हटकर आपमें ही निवास करता है वह अखंडानन्दका पान करता है।

२५५--उत्तम क्षमा.

न कोई मेरा शत्रु है न मित्र, मैं स्वयं वीतरागी ज्ञानी ज्ञाता दृष्टा हूं। मेरेमें उत्तम क्षमा सदा ही निवास करती है। न मैं कभी कोई अपराध करता हूं न दूसरा कोई मेरे साथ कोई अपराध करता है। इसलिये जैसी मेरेमें उत्तम क्षमा है वैसी ही सबमें उत्तम क्षमा है। इस उत्तम क्षमाकी सत्तामें द्वेषकी जरा भी मात्रा नहीं दिखलाई पड़ती है। इसका रंग सदा ही सुहावना और शुक्ल है-सब जीव मेरे समान हैं न कोई कम है न कोई अधिक। सब ही असंख्यात प्रदेशी, मब ही ज्ञान सुखादि अनंत गुणोंके धनी, सब ही परमानन्दमई अविनाशी हैं। समतासमुद्रमें मैं और सब आतमाएं डूब रही हैं। सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयका आभूषण सब हीमें शोभायमान हैं। सब ही त्रिलोकस्वामी है। सब ही स्वाधीन है। परस्पर क्षमा मांगनेकी व क्षमा करनेकी कोई जरूरत नहीं है। हे उत्तमक्षमे, तू चिरकाल हमारे हृदयमें निवास कर। तेरी मनोहर मूर्ति परमाल्हादकारी और सदा हितकारी है। धन्य हैं वे महात्मा जो तेरा दर्शन नित्य करते हैं। तू मुक्ति तियाकी परम सखी है।

२५६--सत्यकी चमकती हुई तलवार.

इस संसारमें निश्चय धर्म ही सत्य धर्म है-आत्माका स्वभाव है। सत्य धर्मकी तलवार चमकती हुई बहुत ही तीक्ष्ण है-जो असत्यको क्षणमात्रमें काटकर फेंक देती है। इस सत्य धर्मके मलीन करनेको भय, लोभ आदि अनेक विघ्न आते हैं। उन विघ्नोंके आने

पर निश्चय सत्य धर्म कुछ भी नहीं घबड़ाता-जैसे ऊपर पड़ा हुआ धूला क्षणभरमें झाड़ दिया जाता है उसी तरह अनेक मलोंका बादल भी सत्य धर्मपर मलीनता नहीं कर सक्ता है। सत्य धर्म सुमेरु पर्वत सम दृढ़ रहता है। सर्व जगत विरुद्ध होनेपर भी सत्य धर्मका बाल बांका नहीं होता है। जो सत्यका सूर्य चमकाता है वही परम सत्य निज आत्माका अनुभव कर पाता है। जो जिस द्रव्यका गुण है वह उस द्रव्यमें सदासे वास करता है उन सब गुणोंकी आवली आत्मारामका सत्य धर्म है। ज्ञानी जीव परके द्रव्य गुण पर्यायको किसी भी तरह परमें आक्षेपण नहीं करता है। इसीसे सत्य सत्यको ही पाता हुआ नित्य सत्य धर्मके स्वादको लेता हुआ परम आनंदित रहता है।

२५७-गुण ग्रहण।

इस जगतमें जितने आत्मा है वे सब अपने २ स्वभावमें स्थित हैं। कोई भी अपने अनंत गुणोंको नहीं त्यागता-सर्व ही अपनी निराली ज्ञानमई सज धजमें विराजमान हैं। अपने गुणोंको पहचानना ही अपने गुणोंका ग्रहण है। क्योंकि द्रव्यमें अन्य द्रव्य नहीं आता। किसी भी द्रव्यके गुण अन्य द्रव्यके गुणोंमें प्रवेश नहीं करते। ऐसा वस्तुस्वभाव स्वय सिद्ध है, ऐसा जान मैं सर्व आलम्बनोंको त्यागकर एक निज स्वभावमें ही रमण करता हूं जहां पर अभेद ज्ञाता मात्र वस्तु अपने अनुभवमें आती है। निज स्वरूप सत्तामें विश्राम लेने ही सर्व आकुलताओंका समूह शून्य जाता है। अतीन्द्रिय आनन्दकी छटा चमक उठती है। सहज स्वभाव विकल्प मिट जाता है। इस स्वरूप रमणमें कुछ भी झगड़ा किसीके साथ

पहुंच नहीं सक्ता। यहां तो पूर्ण सुख शांतिका राज्य है जिस राज्यका रत्नत्रय रूपी चिन्ह इस राज्यके हर स्थान पर शोभनीक है। जो इस चिन्हसे इस राज्यमें जाते हैं वे पूर्णतया सानन्द-भावसे अपना काल बिताते हुए अनुभवानन्दका विलास करते हैं।

२५८-अहिंसा भाव.

मैं आज सर्व हिंसामई भावोंको त्यागकर परम रत्नत्रयमई निज शुद्धोपयोग स्वरूप परमवीतरागतासे तन्मई निश्चय अहिंसा-भावमें रमण करता हू। इस भावमें कषायकी कालिमा नहीं है। न इसमें अपना घात है न परका घात है। कोई शत्रु है व कोई मित्र है यह कल्पना इस भावमें नहीं है। इस भावसे देखते हुए सर्व ही आत्माएं अपने२ निज द्रव्य स्वभावमें ही दीख रही हैं। असली साम्यभाव या वीतराग चारित्रका ही यहा साम्राज्य है। इस अहिं-सामई साम्राज्यमें आत्माके भीतर निवास करनेवाले अनंत गुण अपने२ भिन्न२ लक्षणको रखते हुए एक दूसरेसे विलक्षणता धरते हुए भी एक दूसरेके विकाशमें बाधक नहीं हैं किन्तु सहज स्वभा-वसे सहायक है। इस परम स्वाधीन राज्यमें न एक गुणरूपी प्रजा दूसरे गुणरूपी प्रजाको कष्ट देती है न उनका स्वामी आत्मा किसी गुणरूपी प्रजाको दुःख देता है न गुणरूपी प्रजा आत्मा सम्राट्को कष्टप्रद है, किन्तु सर्व ही गुण और उनका आधार आत्मा अपने२ स्वभावमें परम शुद्ध निर्विकार दशामें रहनेसे परम संतोषी, आनं-दित तथा शोभनीक हो रहे हैं। यही सच्चा अहिंसामई राज्य है। यही उपादेय है। तथा यही अनुभवगम्य है।

२५९-मंत्रकी शक्ति.

मणि मंत्र औषधिमें बड़ी शक्ति होती है। परन्तु भौतिकोंमें यह शक्ति नहीं जो इस आत्माको उस आराममें कल्लोल करा सके, जहां सदा पवित्रता, सुन्दरता, शान्तता तथा आनन्दका ही विलास रहता है। परन्तु जगतमें एक मंत्र ऐसा है जो इस अनूठे कामको कर सकता है। वह मंत्र निज आत्माके ही तीन गुणोंसे बना है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतासे यह स्वसंवेदन ज्ञानरूप मंत्र बन जाता है। इस मंत्रकी इतनी उत्कट शक्ति है कि मंत्रका स्पर्श होते ही आत्माको अतीन्द्रिय सुख होता है तथा संसारी आत्माके सर्व कर्मके बन्ध ढीले पड़ जाते हैं। इस मंत्रका जपना ही निश्चय धर्मका मनन है। भेद ज्ञानरूपी छेनीसे सर्व पुद्गलको भिन्नकर एक निज शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है, यही सम्यक्त यही ज्ञान और ऐसा ही चारित्र अर्थात् निज आत्मामें उपयोगकी थिरता मंत्रका प्रयोग है। तत्त्वज्ञानी जीव णमोकार मंत्र सरीखे महामंत्रको भी त्यागकर एक इस स्वसंवेदन मंत्रका ही जाप देते हैं और इसीके प्रतापसे यहां भी स्वाधीन और सुखी होते हैं। तथा भविष्यमें भी स्वाधीन और मुक्त होजाते हैं।

२६०-परमरस.

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा आज सर्व संकल्प विकल्पोंसे हटाकर अपने अविनाशी आनन्द मंदिरमें कल्लोल कर रहा है। इस मंदिरमें बैठा हुआ आत्मा निज स्वरूपकी अनुभूतिसे उत्पन्न परमरसका स्वाद ले रहा है! इस स्वादके सामने पौद्गलिक स्वाद

अति तुच्छ व हेय है। जिन्होंने इस परमरसको पाया है उन्होंने शिवतियाको अपनाया है—उन्हींने ही ज्ञान साम्राज्यका पता पाया है, उन्हींनें ही भवातापके दाहको शमन किया है। वे ही इस जगतमें रहते हुए भी जगतसे बाहर हैं। इस परम रसके स्वादीके लिये जगतमें कोई भी वस्तु प्रच्छन्न नहीं है—वह उन पदार्थोंके स्वभावको अच्छी तरह जानता है जिनसे यह जगत बना है। जानता हुआ भी उनके रसका रसिक नहीं होता है—रस तो अपने आत्मस्वभावका ही लेता है। यद्यपि ऐसा ही रस संपूर्ण आत्माओंमें है तथापि एक आत्मा अन्य आत्माके रसका वेदन नही कर सक्ता क्योंकि हरएक आत्माकी सत्ता भिन्न २ है। इसीलिये मैं संपूर्ण विकल्प जालको त्यागकर निज आत्मा हीके रसका वेदन करता हुआ परम सुखी होरहा हूं।

२६१—श्री निर्वाणभाव.

परमानन्दमई ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व विभाव भावोंसे रहित होकर जब "अपने" गृहमें निहारता है तो निर्वाणभावका दर्शन पाता है। इस भावमें शुद्धोपयोग मात्र है। यहा कोई भी विभावता नहीं है। निर्मल स्फटिक समान निर्वाण भावकी मूर्ति दर्शनके योग्य है। इस मूर्तिमें अनन्तकालके अनन्त पदार्थ सब ज्योंके त्यों झलक रहे है। चेतन, अचेतन सर्व पदार्थ उस निर्वाण भावमें अपनी आभा मात्र चले तो जाते हैं परंतु वे किसी प्रकारके रागद्वेषमें निमित्त कारण होनेके लिये असमर्थ हैं। इस निर्वाण-भावमें अनन्त वीर्य अपनी त्रैलोक्य विजयी प्रभुताको लिये शोभा-यमान है। तथा अनन्त सुख भी बड़ी ही संतोषप्रद दशाको

झलकाता हुआ चहुंओर निराकुलताका जल वर्षाता हुआ प्रकाशमान है। इस निर्वाणभावमें संसार दशाका अभाव है परन्तु आत्माके निजानन्दमई निज स्वरूप दशाका सद्भाव है। कल्पना की जाय तो स्याद्वाद नयसे निर्वाणभावका स्वरूप मात्र कुछ झलकता है। यदि कल्पनाको त्याग किया जावे तो वह निर्वाणभाव केवल मात्र अनुभवमें ही आता है। और जो आनन्द प्रदान करता है उसका वर्णन किसी तरह नहीं हो सक्ता।

२६२–धर्मतत्व।

एक व्यक्ति जो अनेक प्रकार जगतके प्रपंच जालोंमें पड़ा हुआ दुःखकी अग्निमें जल रहा था, जब अपनी शक्तिकी सम्हाल करता है तो अपनेको सर्व प्रपंचजालोंसे छूटा हुआ तथा अनन्त गुणोंकी बनी हुई निर्मल स्फटिकमणि समान निर्मल भूमिकामें बैठा हुआ पाता है। और जब अपने स्वरूपको देखता है तो आनन्द और शांतिका अगाध समुद्र अपने भीतर निर्मल अमृतमई जलसे षट्गुणी हानि वृद्धिरूप कल्लोलोंको करता हुआ झलक रहा है ऐसा पाता है। तब सोचता है, कि मैं जिस आनन्दकी खोजमें चिरत्रासित था उसी आनन्दको अपने भीतर देख रहा हूं। मैं बड़ा अज्ञानी था जो अपने घरको नहीं देखता हुआ बहिर्मुख हो रहा था। आज मुझे बडा भारी संतोष है जो मैंने चिरकालकी खोजका फल पा लिया। अब मैं सर्व अन्योंकी शरणको त्यागकर एक निज आपकी ही शरण ग्रहण करूंगा। और उसीकी श्रद्धा, ज्ञान तथा अनुभूतिमें रमण करूंगा। मैंने अब अपने रत्नत्रयको अपने ही आत्मामें पालिया है। वास्तवमें यही धर्मतत्व है। इस तत्वके ज्ञाता

ही यहा भी अतींद्रिय आनन्दका लाभ करते हैं और परलोकमें भी अनन्त सुखके भाजन हो जाते हैं।

२६३--सुखांबुनिधि.

परमात्म रस गर्भित परम सुखसम्पन्न ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा एक ऐसे सुख-समुद्रमें निमग्न है कि जिसका पता लगाना एक मिथ्यात्वीके लिये अति दुर्घट है। उस आनंदसागरमें कोई भी कषाय ग्राह व विषय चाहरूपी मत्स्य नहीं रहते हैं, न इसमें संकल्प विकल्प रूपी विकलत्रयोंका निवास है। यह क्षीर समुद्रकी तरह अतिशय निर्मल है। इस समुद्रके जलसे महान् आत्माएं जो तीर्थंकर सदृश हैं उनहींका अभिषेक होता है--इस साम्य जलसे महान आत्माका स्नान अधिक साम्यताका द्योतक है। बड़ी२ दूर दूरसे मुक्तिनगरके यात्री आते हैं और इस सागरमें स्नान करके भवाताप बुझाते हैं तथा इसका शात जल पानकर परम तृप्ति लाभ करते हैं उनको फिर अन्य किसी खाद्यके खानेकी जरूरत नहीं रहती है। इस आनदसागरका निवास कहीं अन्यत्र नहीं है--यह इस आत्माके प्रदेशोंमें ही लहराता है। भव्यजीव इसकी शोभा देख देख आनदसे पूर्ण होजाते हैं। धन्य हैं वे आत्माएं जो आप ही सागर हैं, आप ही उसके जल हैं तथा आप ही उसमें नहाने-वाले हैं--इस विचित्र रहस्यको समझकर जो मौनी रहते है वे ही निश्चयधर्मका मननकर परम शांतिका लाभ करते हैं।

२६४--परम साम्यभाव.

परमानन्द मई ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे बनी हुई चारित्र भूमिकामें कल्लोल करता हुआ

एक परम सामायिक रूम साम्यभावमें प्राप्त हो जाता है। जहां तिष्ठनेसे इस आत्माके अनुभवमें सर्व ही आत्माएं एक समान मालूम होती हैं तथा अन्य द्रव्योंमें चेतनता न होनेसे वे कुछ भी विकारित नहीं होते है न विकार करनेमें कारण होते हैं। इसलिये वे कोई भी साम्यभावमें बाधक नहीं हैं इस द्रव्य दृष्टिसे पैदा होनेवाली समतामें जो कल्लोल करते हैं उनके राग द्वेषका रंग नहीं दिखता है। वहां आत्माका परम आनंद हरएक समयमें अनुभवगोचर होता है। साम्यभावके धारी सिद्धोंमें और हमारे स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है—जो वे हैं सो हम हैं, जो हम हैं सो वे हैं। इस परम जातीयताके समुद्रमें जो मग्न रहते है उनके सुखका पार नहीं है। वे इंद्रियजनित सुखसे विलक्षण परम अतीन्द्रिय सुखमें रमते हुए जन्म मरणके विकल्पोंसे भी शून्य हो जाते है। वहांकी समता परम अभेद रत्नत्रयमई मोक्ष मार्ग अथवा मोक्षकी झलक देती है। उस झलकसे पवित्रित आत्माओंकी व्यवहारका वर्णन किसी भी तरह होना संभव नही है। वह स्वरूप तो मात्र अनुभवगोचर है।

२६५--सहज सुख।

हम जब कभी अपने ही आत्माके मध्यमे सूक्ष्म दृष्टिसे देखने हैं तो वहां सहज सुख शांतिका पूर्ण साम्राज्य पाते है। वहां कोई विकार व कोई दु:खके सामान कुछ भी नहीं दिखाई पड़ते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभके कोई चिन्ह नजर नही आते हैं। निर्मल जलके समान आत्मा दिखता है। और जब कभी अपनेसे बाहर चारो तरफ दृष्टि डालते हैं तो वहां भी वैसा ही निर्मल आत्मा

अपनी अपूर्व शोभा-सहित विराजमान है ऐसा पाते हैं—हरएक आत्मामें कोई मलीनता नहीं मालूम पड़ती है। सर्व प्रकारसे शुद्धता, और आनन्द मग्नता ही दिख रही है। इस दृश्यको देखते देखते जब हमारी इकटकी लगजाती है तब सिवाय शुद्ध आत्मस्वभावके कोई वस्तु नजर नहीं आती। ऐसा मालूम होता है मानों लोकमें सिवाय परब्रह्मके और कुछ भी नहीं है। सहज सुख शांतिमय स्वानुभूतिके निर्मल जलमें मग्न होता हुआ एक भव्य आत्मा अपने सांसारिक आतापोंको हरता हुआ परमानदका विलास कररहा है।

२६६- परम ज्ञान.

एक अद्भुत सुखसागरमें मग्न प्राणी अपने भीतर झलकते हुए परमज्ञानमें लोकालोकको उनकी अनंत भूत भविष्यत् पर्यायों सहित निहारकर जिसको देखता है उसे परम समताभावमें निमग्न पाता है। कोई भी पदार्थ हलन चलन नहीं करता, कोई भी क्रिया करता नहीं—न कहीं रागद्वेष दिखता है—न कहीं मोहकी मरोड़ दिखती है। सर्व ठिकाने एक प्रकारकी वीतरागता छा रही है। ऐसी वीतरागतामें सिवाय शांतिके अशांतिका कहीं नाम नहीं है। इस परमज्ञानमें कोई कालिमा नहीं है इसीसे सर्व पदार्थ ज्ञानमें मालूम होते हैं पर उनमें रागद्वेप नहीं होता है। इस वीतराग विज्ञानताका साम्राज्य हर आत्मामें स्वाभाविक है। हरएक शुद्ध बुद्ध आनंदमई प्रगट होता है। इस दृष्टिमें न कहीं संसार है न मोक्ष है। न मार्ग है न मार्गके पहुंचनेका चिह्न है। न व्यवहार है न निश्चय है। न वहां नाम है न निक्षेप है। न अस्ति है न नास्ति है। न नित्य है न अनित्य है। न एक है न दो है।

क्या है क्या नहीं। जो है सो है। जो नहीं है सो नहीं है। जो कुछ है वह वचन अगोचर है—मात्र अनुभवगम्य है। वहीं परमज्ञानकी कला है।

२६७--हार्दिक स्वतंत्रता.

एक ज्ञाता दृष्टा आत्मा अपनी संपूर्ण शक्तियोंको लिये हुए किसी शरीरमें बैठा हुआ उसके असरसे उन्मत्तसा हो रहा है। उसके ऊपर पराधीनताकी वेडियां पड़ गई हैं। तथापि जब वह निश्चय धर्मको संभालता है तो पराधीनताकी वेडी निकल जाती है और हार्दिक स्वतंत्रता आकर दृढ़ता प्रदान करती है। वह स्वतन्त्रता अपने स्वरूपमे वास्तविक श्रद्धानपर निर्भर है। मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अव्याबाध हूं, अकल, निर्भय, अकाम्य हूं, यही भाव एक महान भावके रसमें आत्माको डुबो देता है। और वह उस क्षीर-समुद्रसम भवसागरमें डुबकी लगाता हुआ सर्व चिंताके जालोंसे व नयोंके भंगोसे पार उतर जाता है। रागद्वेष मोहकी कालिमा वहा बिलकुल दृष्टिगोचर नहीं होती है। वहां शुद्ध स्फटिकसम निर्मल प्रकाश प्रगट रहता है जिसमें सुखशांति हरएक स्थलमें भरी हुई है। जहां आत्मा सर्वशक्तिसे निरावाध अपने आप प्रफुल्लित होसके उसे ही स्वतंत्रता कहते है। जहां स्वाभाविक सरल स्वतंत्रता है वही स्वराज्य है। वहीं आत्मा निर्बन्ध, पवित्र और परमात्मारूप है।

२६८—परम शांति.

इस जगतमें सर्व विकल्प जालोंसे रहित परमानंदमई ज्ञाता दृष्टा आत्मा जब कभी अपने स्वरूपपर दृष्टि डालता है तो उसको विदित होता है कि वहां एक अद्भुत सरोवर है जिसमें स्वानुभव-

रूप शांत जल है और गुण परिणमन रूप अद्‌भुत तरंगें हैं। इस सरोवरका जल खरचनेसे कभी खतम होता नही किंतु जितना है उतना ही बना रहता है। इस सरोवरमें जो स्नान करता है तथा इसका ही जलपान करता है और अन्य जलोंसे परहेज करता है वही सदाके लिये अजर अमर हो जाता है। परम शांति और सुखसे गर्भित ज्ञानके भीतर मग्न रहना ही एक आत्माका स्वभाव है। स्वभावमें रमना यही निश्चयधर्मका मनन है। वहां कोई विकल्पजाल व रागद्वेष मोहके सामान दृष्टिगोचर नही होते। न वहां कोई नय प्रमाण या निक्षेपका विकल्प है। न वहां कोई गुण गुणीके भेदका व्यवहार है। सामान्य एकाकार अप्रमत्त प्रमत्तके विकल्पसे दूर ज्ञाता दृष्टा आत्मा कल्लोल करता है व अपने अविनाशी पदमें तृप्ति पाता है। वचनविलाससे उसकी शोभा नहीं की जासक्ती है। वडे २ शास्त्र व शास्त्रके पारगामी भी जिसका भेद नही पासकते हैं। जो अनुभवे सो जाने। जो ससारातीत विकल्पसे दूर रहे वह पहचाने। मैं ऐसे परमशांतिके समुद्रमें दिनरात मग्न रहता हुआ अपूर्व शांतिका उपभोग कर रहा हूं।

२६९--प्रेम--पात्रता।

इस जगतमें जगतमात्रसे शुद्ध प्रेमपात्रता उस आत्मामें है जो निर्मल निर्विकार शुद्धबुद्ध ज्ञाताटष्टा मई अपने स्वरूपमें तन्मय है। जहां रागद्वेषका लेश मात्र भी नही है वहीं शुद्ध प्रेमपात्रता है। सर्व ही द्रव्य परस्पर एक दूसरेको अपने स्वभावमें विकार किसी तरहका न करते हुए सहायक होरहे हैं। यही प्रेमपात्रता है। तथा किसीका किसीसे कोई विरोध नहीं है। सर्व ही आत्माएं

अपने स्वभावसे विराजित हैं उनको पुद्गल विकारी नहीं करता न पुद्गलको आत्मा विकारी करता है। आकाश व काल प्रगटाने अवकाश व परिवर्तनमें सहायक हैं। धर्म अधर्म गति स्थिति जो स्वभावतः किन्हीं पुद्गलोंमें होती हैं उनको सहायक हैं। इस तरह छहों द्रव्य परस्पर मैत्रीभावको भजते रहते तिष्ठ रहे हैं। इन परको छोड़ आपमें रमकर स्वानुभव करना ही निश्चय धर्मका मनन है

२७०--परमोपेक्षा संयम।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे दूरवर्ती रहकर जब आप अपनेमें थिरता पाता है तब परमोपेक्षा संयममें तल्लीन होजाता है जिस संयममें ठहरते हुए आप एकाकी सर्व भावोंसे दूरवर्ती रहकर एक शुद्ध भावमें कल्लोल करने लगता है। इस कल्लोलमें वीतरागताका ऐसा मनोहर रंग प्रकाशमान रहता है कि मुमुक्षु जीव इस भावका अनुभवकर परमानन्दमें तृप्त होजाते हैं। जिस परमानन्दमें रमते हुए एक प्रकारका ऐसा नशा चढ़ जाता है कि जिसके रंगमें सिवाय आपके दूसरा कोई दिखता नहीं है। अकल, निरंजन, निर्विकार, सत्यमूर्त्ति, परमप्रभु परमेश्वर, ज्ञानानंदीका सर्वस्व परमोपेक्षा संयम है। न जहां दया है न हिंसा है, न सत्य है न असत्य है, न अचौर्य है न चोरी है, न ब्रह्मचर्य है, न अब्रह्म है, न त्याग है न ग्रहण है, न कोई महाव्रत व अणुव्रत है न अविरति है। जो कुछ है वह अवक्तव्य है, केवल अनुभवगम्य है। जो जाने सो जाने, जो न जाने सो न जाने। मैं इस गुप्त विद्याकी शरणमें प्राप्त होता हुआ परम अनुरागसे इस निष्कलंक भावका सन्मान करता हुआ अपनी ही शांत और आनन्दमई भूमिकामें विश्राम करता हूं और निजानन्दका भोग करता हूं।

२७१--गुणीका आनंद.

ज्ञानानंदमई आत्माराम अपने अनंत गुणोंको लिये हुए एक ऐसी सत्तामें विराजमान है कि जिसका मिटना दुर्निवार है। उस सत्तामें सदा शांति और आनंद वास करते है। वहां आकुलताओंकी तरंगें कभी भी परिणामोंकी सत्ताको क्षोभित नहीं करती हैं। उस सत्तामें किसी चोरका प्रवेश नहीं होता जो आत्मारामके गुणरूपी धनको हरण करसके। यह सत्ता चिच्चमत्कारसे सदा प्रकाशमान रहती है। इसमें रागद्वेष मोह कहीं दिखलाई नही पड़ते हैं। समताकी बाहर आरही है। कालद्रव्यकी स्वाभाविक परिणति सत्ताके धनके व्यवहारमें सहायक होती है तथापि यह धन घटता बढ़ता नहीं। इस सत्ताकी भूमिमें जो निवास करते हैं उनहीको महात्मा या परमात्मा कहते है। गुणीकी सत्ता सदा आनन्दधाम है। जो तिष्ठते है वे सुखी रहते हैं।

२७२--गुणग्राम.

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे शून्य होकर जब अपने आपकी मूर्तिको देखता है तब वहां गुणोके ग्रामोंको बसा हुआ पाता है। उन ग्रामोमें अनंत अविभाग प्रतिच्छेदरूप बस्ती है। जो वस्ती हलन चलन रूप परिवर्तन करती हुई भी कभी नष्ट नहीं होती है। इन ग्रामोमें परस्पर एकता है। हर ग्राममें परम शांतिका राज्य है। सब ही ग्राम अपने स्वालम्बनपर स्थिर हैं। एक दूसरेको सहकारी होते हुए भी अपनी स्थितिके लिये आप समर्थ हैं। इन ग्रामोंमें ऐसा कभी नहीं होता है कि एक ग्राममेंसे कुछ वस्तु निकालकर दूसरे ग्राममें भेजी जावे। कोई

किसीकी सम्पत्तिको नहीं चाहता। सब ही ग्रामवासी सुख शांतिके विलासी हैं। इस गुणग्राम आत्माकी महिमा अपूर्व है—स्वानुभवगम्य है जहां क्रोधादि कषायोंकी कालिमा कभी पग नहीं रख सक्ती है न वहां विषयोंकी तृष्णा अपनी मोहनी मूर्ति दिखा सक्ती है। ऐसे वीतरागमय आत्माका दर्शन आत्माको ही होता हुआ जो आनन्द वरसता है वह अकथनीय है।

२७३--परमानंद.

इस जगतमें यदि कोई हितकारी वस्तु है तो वह एक परमानन्द है जिसके होते हुए सर्व आपत्तियें शमन होजाती हैं। संसारचक्रकी व्यथा बिलकुल दूर होजाती है। कर्म नोकर्मकी आकुलताएं मिट जाती हैं। आत्मा एक ऐसे बागमें पहुंच जाता है जहां अनंत गुण रूप वृक्षोंकी शांत छाया है। तथा आत्मानुभव रूप मनोहर सरोवर है। अनेक नयोंकी वडी ही सुन्दर पक्की चट्टानदार बहुत ही दृढ़ वज्रमई गलिये हैं। ऐसे अनुपम बागमें रमण करनेवाला व्यक्ति सविकल्प अवस्थामें तो अनेक नयोमें कल्लोल करता है और विकल्परहित अवस्थामे शांततायुक्त गुण वृक्षकी छायामें व आत्मानुभव रूप सरोवरमें स्नान करता है। उस समय अपूर्व परमानन्दका लाभ होता है। इस आनन्दका भोक्ता सम्यग्दृष्टी जीव होता है जिसका उपयोग सिद्ध परमात्माके उपयोगके समान विलास करनेवाला है।

२७४--प्रतापका सूर्य.

इस अथिर संसारको थिर अथिर रूप दिखाकर वीतरागताकी महिमा विस्तारनेवाला ज्ञान सूर्य्य जब जिस प्राणीमें प्रकाशमान हो

जाता है उस समय उस ज्ञानसूर्यका प्रताप बड़ी ही तेजीसे प्रमादकी शीतलताको हर लेता है और अप्रमत्त भावकी जागृति ऐसी फैलाता है कि जिससे यह प्राणी सदा निज स्वरूपमें जागता हुआ तीन लोकके पदार्थोंको उनके स्वभावमें देखता हुआ उनसे रागद्वेष नहीं करता है और अपनी शातिके प्रतापसे अतींद्रिय आनन्दका भोग करता है जिस आनदके सामने ससारका कोई भी सुख दु खरूप ही भासता है। आत्मीक प्रतापका सूर्य सर्व सशयके अंधकारको मेट देता है और अपनी लोकालोक व्यापी ज्ञान किरणोंसे सर्वत्र व्यापकर सर्वका ज्ञाता दृष्टा होता हुआ सांसारिक वासनाओंके पार पहुंच जाता है। वहा, स्फटिकमणिके समान स्वच्छता रहती है। जिस निर्मल मणिकी आभामें कोई भी विभाव नहीं प्रगट होते हैं—उसे सिद्ध भगवान कहो, ईश्वर कहो, परमात्मा कहो, परमब्रह्म कहो, परमप्रभु कहो, वीतरागी कहो, ज्ञानानंदी कहो, जगदीश कहो, परमप्रतापी कहो, विमल कहो, अमल कहो, अकलंक कहो, निरंजन कहो, परम वीर्यवान् कहो, परमेश्वर कहो, निर्दोष कहो, परमवीर कहो, महावीर कहो इत्यादि अनंत नामोंसे कहो तौभी उसका अनुभव उसीको होता है जो सर्व पर पदार्थोंसे उन्मुख हो निज पदार्थके सन्मुख होकर निजानंदी होजाता है।

२७५—धर्म भाव.

परमज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व विकल्प जालोंसे रहित हो जब अपने भीतर देखता है तो वहां एक धर्म भावको जागता हुआ पाता है। उस भावमें कोई क्रोध मान माया लोभका चिह्न नहीं है। वहा पूर्ण समता व पूर्ण वैराग्य है। वहां एक ज्ञानज्योति

अखण्ड रूपसे जल रही है जिस ज्योतिमें लोकालोकके सर्व पदार्थ ज्योंके त्यों प्रकाशमान होरहे हैं। वहां किसी पदार्थके जाननेकी आकुलता नहीं है। अतींद्रिय आनन्दका अमिट विलास जहां शोभायमान है, उस धर्मभावमें ही स्वात्मानुभूति है जिसकी महिमा अपरम्पार है। बड़े बडे योगी जिसे लाभकर परमसन्तोषी रहते हुए सुख मानते हैं, अपने तत्वके ज्ञानसे परम सन्तोषी रहते हैं। उस धर्मभावमें ही अप्रमादी रहना मोक्षमार्ग तथा मोक्ष है। उस भावमें कोई अन्यभावका अस्तित्व नही है। धन्य हैं वे साधु महात्मा जो इस धर्मभावको आपमें पाते हुए परम सुखी रहते हैं।

२७६--परम शुद्ध भाव.

परम ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व सशय विपर्यय अनध्यवसायोंसे रहित होकर अपनी निज प्रदेशावलीमें जब मगन हो जाता है तब कहीं भी नही जाता हुआ अपनी सुख सम्पत्तिका भोग करता है। वहां परम शुद्ध भावका राज्य होता है जहां रागद्वेष मोहका कहीं पता नहीं चलता है। न वहां कर्म ही दिखते हैं न नोकर्म ही मालूम पड़ते हैं। जो सुख सिद्धोंको है वही सुख परम शुद्ध भावधारी आत्माको है। संसार पर्यायरूप ज्ञानमें आकर जो संकल्प विकल्प पैदा करता था सो अब नही करता है। द्रव्य दृष्टिसे जगत छः द्रव्य रूप है। उनके स्वभाव सब पृथक् पृथक् हैं। यही भेदज्ञान परम शुद्ध भावमें साम्यकी सुगंधि स्थापित करता है, जिससे यह आत्मा परम मगनताको पाता हुआ परम सुखी रहता है। और स्वानुभवके दुर्गमें शांतिसे विश्राम करता है।

२७७--सत्यकी कठोरता.

यदि अच्छी तरह विचारकर देखा जावे तो यह विदित होगा कि इस सतरूप जगतमें सत्य अत्यन्त कठोर है। किसी भी प्रमाण नयमें व शस्त्र, सेना, शरीर व बचनबलमें शक्ति नहीं है जो सत्यका खंडन कर सके। खंडन करना तो दूर रहे उस सत्यमें कोई विकृति या दोष भी कोई उत्पन्न नहीं कर सक्ता है। सत्य है हरएक पदार्थकी सत्ता। उन पदार्थोंके मध्यमें अपनेको हित करनेके अभिप्रायसे एक निज शुद्धात्मा सत्य है। इसमें अनन्तवीर्य है तथा जितने गुण व जितने उनके अविभाग परिच्छेद हैं उनमेंसे कोई भी उसमेंसे कभी किसीके द्वारा पृथक् नहीं किया जासक्ता है। इस शुद्धात्मामें जिस आत्माका वास होजाता है वह भी परम कठोर होजाता है। उसको कषाय शत्रु वश नहीं कर सकते। कोई प्रलोभन व कोई युक्ति उसको अपने निज आसनसे च्युत नहीं कर सकती। वास्तवमें इस आत्माका अपने ही पास एक ऐसा निश्चय धर्मरूपी दुर्ग है जो अच्छेद्य, अभेद्य, अविनाशी, निरास्रव और परम सुख शांतिका भंडार है। इस दुर्गका निवासी ही सत्यात्मा, परम दृढ़ परम कठोर तथा परमामृतका स्वाधीनतासे पान करनेवाला है।

२७८--परमानंद.

इस जगतमें यदि कोई निरीक्षक शुद्ध मनसे निज भूमिमें देखता है तो वहां परमानंदका समुद्र दिखलाई पड़ता है। इस सार ज्ञानानन्दमई सागरमें स्नान करना अपूर्व शांतिको प्रदान करना है जिस शांतिको संसारमें स्थित चंदन, मुक्ताफल, चंद्रकिरण आदि

पदार्थ नहीं दे सक्ते हैं। बड़े बड़े भव आतापसे पीड़ित प्राणी भी जब एक दफे भी इस समुद्रका स्नान करलेते हैं उनकी अनादि भवातापकी उष्णता शांत होजाती है। वे मंगलमय अपने स्वरूपका दर्शन जब जब करते हैं तब तब उनके सर्व संकट टल जाते हैं— सम्यग्दृष्टि वही है जो इस परमानंदको पहचानता है। जिसने इस अपूर्व भावको जाना है वही अरहंत और सिद्धोंको जानता है। वही आचार्योंके स्वरूपको पहचानता है। वही साधुओका सच्चा उपासक होता है। यह अपने भेदज्ञानके बलसे अपना और पांचों परमेष्ठियोंका भेदभाव मिटा देता है और सब आत्माओको समान रूपसे ज्ञान, शाति और आनन्दका सागर जानता हुआ दुःख और आकुलताके कारण जो रागद्वेष मोह हैं उनसे छूटकर वीतराग विज्ञानमई आत्माके उपवनमें आनन्द सहित कल्लोल किया करता है।

२७९--परमैक्य।

विचारमें भिन्नता है। ध्यानमें एकाग्रता है। मैं शुद्ध ज्ञाता दृष्टा अमूर्तीक आनन्दमई हूं। मेरा सम्बन्ध न क्रोधादि मोह विकारोंसे है न आकाशादि ज्ञेय पदार्थोंसे है। मैं आप आपीमें सदा प्रसन्न हूं। मैं स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्तिरूप तथा परद्रव्यादिकी अपेक्षा नास्तिरूप हूं। मैं गुणापेक्षा नित्य तथा पर्यायापेक्षा अनित्य हूं। मैं अभेद अपेक्षा एक तथा नाना गुणोंकी अपेक्षा अनेक रूप हूं। इत्यादि विचार तरंगादिकोंमें स्वसमाधिका लाभ नहीं होता है। जहां ध्याता ध्यान ध्येयमें ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयमें एकता है वहीं ध्यान व समाधि है। पूजक पूज्य, ध्याता ध्येयमें परमैक्य होना योग है—यही निजानन्दानुभव है। यही अभेद रत्नत्रय है।

यहीं आत्मा साधनरूप है । यहीं साक्षात् मोक्षमार्ग है । यही वह दशा है जहां सिवाय आपके सर्व जगत शून्य दिखता है । यही वह भूमि है जहां ज्ञानचेतना क्रीडा करती है । और कर्म व कर्मफल-चेतना अपनी कलुष मूर्तिको लिये हुए विदा होजाती है । इसीको सिद्धावस्थाका नमूना कहते हैं । यही साक्षात् परमात्माका रूप है । यहीं एक ऐसा आनन्दसागर बहता है कि जिसमें तत्वज्ञानी नित्य स्नान करते हैं व नित्य उसके शात जलका पान करते हैं तौभी वह सागर नही घटता है । इसीलिये परमैक्यकी शरण लेना परमावश्यक है और इसी आवश्यक्ताकी भावनाको निश्चयधर्मका मनन कहते है ।

२८०—सारसुख ।

ज्ञानी आत्मा अपनी चैतन्य परिणतिके भीतर जब दृष्टि क्षेपण करता है तो वहा एक सारसुखके समुद्रको वहता हुआ पाता है जिसमें सिवाय मिष्टताके कोई खारपन नहीं है । न जहां कोई कषायकी कलुषता है न विषयोंकी सरागता है । इंद्रियाधीन सुखकी क्षणभंगुरता वहां नहीं है । उस सारसुखको जानना तथा उसको अनुभव करना यही ज्ञानी आत्माका कार्य है । संसार असार है । परन्तु आत्मज्ञानीके लिये यही ससार सारभूत पदार्थोंका दृश्य है । उसे हर क्षेत्र व कालमें निज स्वभावका दर्शन होता है । तथा पर-मात्मा और अपने आत्मामें कोई भेद नहीं मालूम देता है । जहां अभेद दृष्टि जग जाती है सर्व संकल्प विकल्प छूट जाते है । वहां यह आत्मा अपनी शुद्ध आत्मपरिणतिका ही कर्ता तथा शुद्ध परिणतिका ही भोक्ता है । सारसुखका भी उसे ही अच्छी तरह पता लगता है । वही सम्यग्दृष्टी विरागी तथा सुवर्णमई जीवनका धारी है ।

२८१–निजानन्द.

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व सुखोंसे विमुख हो अपने ही आत्मजनित अव्याबाध सारसुखमें तन्मई होता हुआ जो आनंद भोगकर रहा है उसका वर्णन कोई कर नहीं सकता। वास्तवमें शब्दोंमें यह शक्ति नहीं है जो उस सुखको बता सकें, मनके विकल्पोंमें भी उसके जाननेकी ताकत नहीं है। जो कोई ज्ञाता दृष्टा है वही अपनी ज्ञान परिणतिमें उस सुखको अनुभव द्वारा जान सकता है। जब कोई उस आनन्दका स्वाद लेता है तब वह बिलकुल अनबोल तथा सर्व मनके विकल्पोंसे शून्य रहता है। उस सार सुखकी महिमा वचन अगोचर है। संसारके विकल्प जालोंके भीतर पड़ा हुआ प्राणी एक ऐसे मोहमें पड़ जाता है कि जिससे छूटना असह्यसा होजाता है परन्तु जिन्होने भेद विज्ञानके द्वारा निज परिणतिको जान लिया है वे नियमरूपसे आपको आपरूप जानकर निश्चय करते हुए परमसुखी और संतोषी रहते हैं, सार सुखका आप ही सागर है। आपमें स्नान करना सार सुख पानेका उपाय है।

२८२–सहज समाधि.

हम जब सर्व आकुलताओंको दूर कर निज घरमें निज वस्तुका अवलोकन करते हैं और अपनी दृष्टि सम्पूर्ण पर पदार्थोंसे हटा लेते हैं तब हम एक ऐसी सहज समाधिमें पहुंच जाते हैं जहां साम्य भावके सिवाय अन्य भावका दर्शन नही होता है। इस सहज समाधिमें नय निक्षेप तथा प्रमाणके विकल्प नही होते। यहां न मनसे चिन्तवन है, न वचनोंसे जल्पन है और न कायका हलन चलन है। यहां निज स्वरूपकी निजमें ही मग्नता है। कौन किसमें

मग्न हुआ यह भी मात्र कल्पना ही है। एकाकार आत्मवस्तु निज सत्ताको लिये हुए इस सहज समाधिमें शोभायमान है। यहां ही स्वानुभव रूप सुधा समुद्रका वास है जिसके अमृतका पान परम तृप्तिका कारण है। इसीको अतीन्द्रिय आनन्दका भोग कहते है। यही भोग सर्व भोगसे विलक्षण एक परम आदर्श रूप है। जो इस सहज समाधिको लाभ कर लेते है वे ही इस जगतमें स्वाधीन होकर सदा सुखी रहते है।

२८३--परमागमसार।

परमानंदमई ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व परमागमका सार जो निज तत्व है उसके विलासमें आल्हादित होता हुआ निजानुभूतितियासे कल्लोल करते हुए परम तृप्तिको पारहा है। जिसने द्वादशांग वाणी रूपी मक्खनमेंसे निजात्मा रूपी घृतको निकाल कर पान किया वह परम पुष्टिको पाता हुआ एक वीरात्माके पदमें आरूढ़ रहता है। उसको विषय कषायके बादल अच्छादित नही करते। वह मोहांधकारसे कभी ग्रसिभूत नही होता। स्वाधीनताका सर्व सुख उसीके पास रहता है। वह जगतमे रहता हुआ भी जगतसे पृथक् रहता है। पानीमें चिकनई जैसे ऊपर तैरती है वैसे यह आत्म प्रभु विश्वके ऊपर २ तैरता है। उसके अमिट स्वभावके मैटनेको किसी भी द्रव्यमें शक्ति नहीं होती है। वह निजात्म गृहमें निवास करता हुआ परमागमका आनन्द लेता रहता है। उस आत्मानन्दीको परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर, विष्णु, शिव, शंकर, महेश, ब्रह्मा कहते है। वह वास्तवमें नामसे रहित एक अपूर्व चैतन्य वस्तु है उसे जो जाने वही आगमका ज्ञाता है।

२८४--वैराग्य.

परमानन्दमई ज्ञाता दृष्टा आत्मा संसारको पर्याय दृष्टिसे देखना छोड़ जब द्रव्य दृष्टिसे देखता है तब उसके दर्शनमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश सब अलग२ अपने शुद्ध स्वभावमें दिखते हैं, सबमें शांति और समताकी बहार आती है। जिनसे बचनेके लिये अनेकों ग्रन्थ बडे परिश्रमसे लिखे जाते व अनेकों उपदेश यत्र तत्र दिये जाते उन राग द्वेष मोहोंका अर्थात् मिथ्यात्व व क्रोध, मान, माया, लोभका कहीं अस्तित्व ही नहीं दिखता है। उनका नामोनिशान भी नहीं माल्रम होता है। वास्तवमें स्वभावकी राज्यधानीमें वैराग्यका ही राज्य चल सक्ता है वहां रागादि पिशाचों व दुष्टोंके ठहरनेको स्थान नही मिल सक्ता है। ऐसे लोकको न कोई हेय (त्यागने योग्य) मानता न उपादेय (ग्रहण योग्य) मानता है। आत्माराममेंसे न किसी वस्तुका त्याग हो सक्ता है न कोई पर वस्तु उसमें ग्रहण हो सक्ती है। वैराग्यके प्रभावसे यह वीर आत्मा आप अपनेमें ही कल्लोल करता हुआ स्वानुभवका अनुपम आनंद भोग करता है।

२८५--सम्यक्त्व सार.

परम सुखका धनी आत्मा सर्व संसारके विकारोसे बाहर जाकर जब अपने ही अटूट अविनाशी भण्डारका दर्शन करता है तब वहा एक चमकते हुए रत्नपर नजर डालता है जिसकी ज्योतिसे सर्व भण्डार दीप्तमान हो रहा है। वास्तवमें इस रत्नका अपार माहात्म्य है। इसको सम्यक्त्व सार कहते हैं। इस रत्नके न रहनेसे आत्माका सब भण्डार अन्धकार युक्त, फीका व निष्प्रयोजन हो

जाता है। यह बड़ा ही अमूल्य रत्न है। इस रत्नकी चमकसे इस मिश्रित जगतकी भिन्न२ पदार्थावली भिन्न२ झलक जाती है। क्षीर नीरकी तरह मिले हुए जीव पुद्गल भी अलग२ दिखते हैं। जीव तो शुद्ध परमात्मारूप और पुद्गल अपने स्पर्शादि गुण रूप। इस रत्नकी ज्योतिमें देखते हुए न कोई बड़ा दिखता न छोटा, सब जीव समान गुणोंके धारी नजर आते हैं। कौन शत्रु है कौन मित्र है इसकी कल्पना बिलकुल भी नहीं होती है। किससे राग करना किससे द्वेष करना यह भी समझमें नहीं आता। वास्तवमें वीतराग विज्ञानताका साम्राज्य इसी रत्नके प्रभावसे दृढ़ होजाता है। इस रत्नकी चमकसे जब कभी यह आत्मा अपनी खूबीमें रजायमान होने लगता है तब इसको अनुपम अतींद्रिय आनन्दका लाभ होकर परम सन्तोष प्राप्त होता है।

२८६—परम तप.

इस संसारमें भ्रमण करते हुए किसी जीवको परम भाग्यसे परम तप रूपी रसायणका लाभ होजाता है। जिस रसायणको पीकर वह भवभ्रमणके रोगको घात कर देता है और आत्मानदमें मग्नता प्राप्त कर लेता है। वह परम तपरूपी रसायण किसी भी बाहिरी आलम्बनसे प्राप्त नहीं होती है। उसकी उत्पत्तिकी भूमि निज आत्माकी शुद्ध स्फटिकमय प्रदेश भूमि है। जब उस भूमिमें मिथ्यात्व व तत् सम्बन्धी कषायोंकी वासनाओंके कंकड नहीं होते हैं, तब ही वह रसायण सम्यक्तरूपी वृक्षमें पैदा होती है। उसको आत्मानुभव भी कहते है। सम्यक्त वृक्ष अपनी सत्तासे मित्थ्यात्वकी कालिमाको हटाकर अहंकार ममकारके आश्रय चोरोंको नहीं आने

देता है। और वैराग्य तथा सम्यग्ज्ञान रूपी सिपाहियोंको सदा अपनी रक्षामें पाता है। जिनके प्रतापसे सम्यक्त वृक्ष अच्छी तरह फूलता है तब उसमेंसे जो रस चूता है वही आत्मानुभव रूपी परम तप रूपी रसायण है। इस रसायणको पीते हुए योगीगण यहां भी परम सुखी रहते और भविष्यमें भी परमानंदका भोग करते हैं। इसी रसायणका लाभ जिन २ को होता है वे ही परम तपके धनी हैं। शरीर सम्बन्धी कायक्लेशादि तप नहीं हैं। वे बाहिरी तप कहलाते हैं। वे हो व न हो, जिसने आत्मानुभवकी रसायण पा ली वही परम तपका तपनेवाला है। इसी रसायणके द्वारा संसारी आत्मारूपी अशुद्ध सोना शुद्ध मुक्त कुंदनवत् होजाता है। वास्तवमें मै हूं सो हूं, जो नहीं हूं सो नहीं हूं इस विकल्पसे दूर जब अनमोल अचिन्त्य निज स्वरूपमें रमणता होती है तब ही आत्मानुभव रूपी रसायणका पान लेते हुए परम पुष्टि मिलती है।

२८७--ज्ञानकंठिका।

परमपूज्य ज्ञाता दृष्टा आनंदमई आत्मा एक अनुपम ज्ञान-कंठिकाको पहने हुए अपनी निश्चल ज्ञान चेतनामें विराजमान होता हुआ जिस अनुपम निजानुभवसे उत्पन्न रसका पान कररहा है वह रस सिवाय आत्माके अन्य किसी जगह नहीं पाया जाता है-उस रसका स्वाद सम्पूर्ण रसोंसे निराला और अद्भुत है। ज्ञानकंठिकामें ऐसी निर्मल आभा है कि जिस चमकमें सम्पूर्ण स्वपर ज्ञेय यथार्थ प्रतिभासित होने हुए भी किसी तरहके राग, द्वेष, मोहको नहीं पैदा करते हैं। चाहे पदार्थ द्रव्यरूपसे दीखें, चाहे पर्यायरूपसे

दीखें, चाहे शुद्ध दीखें, चाहे अशुद्ध दीखें तथापि उनका दिखाव ज्ञानकंठिकामें कोई विकार पैदा नहीं करता है। इस ज्ञानकंठिकाको पहरे हुए यह आत्मा अपने अभेद रत्नत्रयमई एक स्वभावमें ही तन्मय रहता है। निज अनुभूतिके सिवाय किसी भी परकी अनुभूतिमें उपयुक्त नहीं होता। साक्षात् स्वभावमें व्यापक रहकर इतना अटूट व पूर्ण भर जाता है कि वह अन्य किसी परभावको अपनेमें आने नहीं देता है। इस ज्ञानकंठिकाकी महिमासे यह निजासनमें शोभता हुआ सिद्ध आत्माकी महिमाको विस्तार कररहा है।

२८८--ज्ञानानन्द।

परमसार वस्तु जगतमें एक आत्मा ही है जो सर्व परभावोंसे रहित तथा निज शुद्ध स्वाभाविक गुणोंसे सम्पन्न है! इस शुद्ध आत्मामें ज्ञानानन्दरूपी अमृत ऐसा भरा हुआ है कि जिस अमृतके पानसे सर्व संताप मिट जाते हैं—शांति और साम्यभाव जागृत होजाते है। तथा कर्मको कालिमा हट जाती है। और एक अद्भुत दशा होजाती है जिस दशाकी प्राप्तिके लिये इन्द्रादिक देव निरंतर लालायित रहते हैं। उस दशाको ही मुक्तदशा या स्वातंत्र्य कहते है। वास्तवमें जहां पराधीनता है वहीं दुःख है, वहीं अशुद्धता है, वहीं अशुचित्व है तथा जहां स्वाधीनता है वहीं ज्ञानानन्दका साम्राज्य है। मैं रागद्वेषादि रहित परम वीतराग सिद्धसम शुद्ध हूं यही भावना आत्माको स्वातंत्र्य उत्पन्न करानेवाली है। यदि देखा जावे तो भावना या विचार ये सब विकल्प हैं—बंधके कारण हैं, मेरा स्वभाव तो विकल्प रहित, विचारकी कल्लोलोंसे शून्य, क्षोभ रहित

समुद्रवत् निश्चल है। अतएव जो आप आपीमें ठहरता है, अथवा जो ठहरता हूं, ठहराता हूं, ध्यान करता हूं इत्यादि भावोंसे शून्य होकर जैसा है तैसा ही होकर रह जाता है, न परका ग्रहण करता है, न निजका त्याग करता है। वही आत्मा सदा ही ज्ञानानंदका स्वाद लेता हुआ परम तृप्त रहता है।

२८९ -भावशुद्धि।

इस संसारमें यदि कोई मसाला है कि जिसके द्वारा आत्माकी अशुद्धि दूर होवे तो वह एक भावशुद्धि है। भावशुद्धिके द्वारा आत्मा अवश्य शुद्ध होजाता है। भावशुद्धिके प्रतापसे साधकको सुखशांतिका स्वाद आता है। भावशुद्धिके बलसे ही अनेक महात्माओंने अपनी शुद्धि प्राप्त की है। इस मसालेकी रचना त्रिफलाके समान सम्यक्त, ज्ञान तथा चारित्र इन तीनोंकी एकतासे होती है। परन्तु ये तीनों वस्तुएं किसी अन्यके द्रव्यक्षेत्रादिमें नहीं मिलती हैं। जो मसाला बनाना चाहता है उसीको अपने ही आत्मामें इन तीनों पदार्थोंकी प्राप्ति होती है। और जब कभी मसाला बनानेवाला शुद्ध निश्चयके बलसे सर्व परद्रव्योसे अपने उपयोगको मोड़कर निज आत्माके केवल शुद्ध स्वभावमें उसे सन्मुख कर देता है और एकत्र होजाता है तब ही तीनों वस्तुओंकी प्राप्ति होजाती है और उनके मेलसे भावशुद्धिका मसाला तय्यार होजाता है। इस मसालेके द्वारा जब अपना ही आत्मा पुनः पुनः घर्षण किया जाता है तब आत्माका मैल कटता है। आत्मामें चमक बढ़ती है। सुखशांतिका स्वाद आता है। यही मसाला सर्व अशुद्धिको मेट देता है। इसीको आत्मानुभूति या निज दुर्गवास कहते हैं।

२९०--परमज्ञानी।

परमज्ञानी वही है जो अपनी ज्ञान परिणतिको सर्व अन्य द्रव्योंसे समेटके उसकी मातृभूमिमें ही उसे स्थिर रखता है। ज्ञान परिणति जब अपनी चेतनामें वर्तन करती है तब ज्ञान चेतनाका अपूर्व विलास होता है। वहां रागादि विकारोंको स्थान नहीं मिलता है। वीतरागता, साम्य और आनन्दका वहां राज्य होजाता है। परमज्ञानी इस राज्यमे परम सतुष्ट होजाता है–वहा कोई आकुलता या चिंता नहीं सताती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रकी एकताका वहां संघट्ट होजाता है। चाहे उसे केवलज्ञानी न कहा जावे तौ भी वह लोकालोकके मर्मको जानता है। उसे जगतकी कोई अवस्था आश्चर्यकारक नहीं भासती है। पापके उदय दुःखके सामानको व पुण्यके उदय सुखके सामानको लाकर एकत्र कर देते हैं। परमज्ञानीके लिये यह एक दृश्य होता है। वह उनमें रागी द्वेषी नहीं होता है। भेद विज्ञानके विवेकने उसे विवेकी, दीर्घदर्शी और प्रतापशाली बना दिया है। ऐसा परमज्ञानी निज अनुभूतितियाके भोगमें संलग्न रहकर सर्व पर भोगोंसे उन्मुख होरहा है और निज स्वाभाविक सम्पत्तिका भोग करता हुआ अपनेको सिद्धवत् सुखी मान रहा है। इस निश्चय स्वरूपके मननमें व्यवहारका पता नहीं चलता है और यह ज्ञानी ज्ञानानदमें ही रमण करता है।

२९१–सुखधाम।

परमज्ञानी आतमा परमानदमें मग्न होकर जब निज अनुभूतिकी तरफ लक्ष्य देता है तब वहां एक ऐसा सुखधाम प्राप्त होता है कि जहां न कोई विचार है, न तर्क है, न वचन विलास है, न

कुछ करना है। वहां यह आत्मप्रभु इसी तरह उन्मत्त होरहा है जिस तरह एक मानव मद्य पीकर उन्मत्त होजावे। इस उन्मत्त भावको निश्चय रत्नत्रय व मोक्षमार्ग कहते हैं; इसी उन्मत्त भावके प्रतापसे उन्मत्त भावके विरोधी सर्व शत्रु शनैः शनैः भाग जाते हैं और यह आत्मा सदा ही उन्मत्त रहनेकी अवस्थामें पहुंच जाता है। इसकी उन्मत्ततामें संसारकी रागद्वेष परिणतिकी बिलकुल भी जागृति नहीं है—यह सर्वसे उदासीन है—एक निज अनुभूतितियाकी आशक्तिमें लीन है। अनुभवानन्द रसरूपी मदिराका नित्य पान करता हुआ यह उन्मत्त व्यक्ति परमरसमें उन्मत्त होकर परमसुख धाममें निवास करता हुआ जैसी परिणतिमें परिणमन कर रहा है वैसी परिणति ही सदा मनन योग्य व उपादेय है।

२९२--स्वपद।

सर्व परपदोंसे विलक्षण निजपद है। इस पदमें ही सर्व पूज्यनीय पद गर्भित है। अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी पद भी इसी ही पदमें विराजमान हैं। यहां वीतरागता, सम्यक्त, उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव तथा उत्तम शौच धर्मोंका पूर्ण साम्राज्य है। व इसी पदमें निर्मल ज्ञानदर्पण भी विराजित है जिसमें सर्वस्वपर ज्ञेय अपने अनन्त गुण पर्यायोंके साथ विना क्रमके झलकते हैं। इस पदमें कोई भी पदार्थ कोई प्रकारका विकार नहीं पैदा कर सक्ते हैं। रागद्वेष मोहकी कलुषता यहां नहीं है। इस पदमें जो तिष्ठते हैं उनको सदा सुख शांतिका अनुभव होता है। यह पद ही मोक्ष है, यही मोक्षका मार्ग है। यहां बंध व आश्रव नहीं होते हैं। इस पदमें न निश्चय नय है, न व्य-

वहारनय है। न प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमाण है न नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव निक्षेपोंका विकल्प है, यही निर्विकल्प तत्व है, यही स्वात्मानुभव, स्वसंवेदनज्ञान, स्वरूपाचरण चारित्र तथा निजानंद समुद्र है। मैं इसी पदरूप हूं, अन्यरूप नहीं, यही निश्चयधर्मका मनन है।

२९३--पुरुषत्व।

एक कायर व्यक्तिने जब अपना स्वरूप संभाला तब सच्चा पुरुषत्व प्राप्त कर लिया। यह पुरुषत्व वह है जिसमें अपना आत्मबलरूपी पुरुषार्थ जागृत होजाता है और यह पुरुषार्थ यकायक आत्माको अपने रत्नत्रयमई निज घरमें बिठा देता है। जहां अनंत आत्मीक गुण पूर्णताके साथ कल्लोल कर रहे हैं न वहां कोई मोहकी कालिमा है न कोई द्रव्य कर्म बन्धकी पाशियां है। परम स्वच्छता और परमानंदका ही जहां निवास है। संसारके इष्ट वियोग अनिष्ट संयोगादि विकल्प जहां नहीं पाए जाते हैं, ऐसे मनोहर घरमें तिष्ठनेवालेको घरसे बाहर कर मोह जालमें फंसानेके लिये अनेक रागादि शत्रु आकर घरके बाहर चेष्टा करते हैं। परन्तु सयम रूपी दृढ़ दुर्गके भीतर उनका प्रवेश होना शक्य नहीं है। परम पुरुषार्थ शुद्ध स्वरूपका विकाश है। जो इस पुरुषार्थमें तन्मय होते हैं वे एक ऐसे अमृतका पान करते है जो सदा इस आत्माको परमतृप्त तथा परमसुखी रखता है ऐसे महा पुरुषको जगतका नाटक विकारी नहीं बनाता है। अनेक पर्यायें द्रव्योंकी पलटती है सो पलटती रहो, स्वभावका न अभाव होता न ह्रास होता। वह ज्योंका त्यों अपनी जीवनशक्तिको लिये हुए सदा शोभता है। स्वभावमें मग्नता ही पुरुषत्व है।

२९४--निजत्व।

सर्व तत्त्वोंमें सार तत्त्व निजत्त्व है। जिसमें कोई प्रकारकी आकुलता नहीं है। न वहां कोई परद्रव्यका सम्बन्ध है। वहां परम अद्भुत अनंत शुद्ध गुणोका अटूट और अमिट निवास है। एक२ गुणमें अनन्त शक्ति है। जो निजत्वको जानता है उसकी सर्व चिंताएं मिट जाती हैं। वह इस जगतमें सारताके सिंहासनपर बैठकर निजानन्दका स्वाद लेता रहता है। उसके सामने सर्व जीव समान ज्ञानानन्दी सिद्ध समान दिखलाई पड़ते हैं। अनंत भ्राताओंके साथमें यह आत्मा परम समताकी शोभाको प्राप्त होता है। बड़े२ गणधर, मुनि, साधु, इन्द्र अहमिन्द्र जिस शोभाके सामने अपना मस्तक नमाते हैं और गुणोंका मननकर आत्मरसकी शांततामें मग्न होते हैं। इस निजत्वमें ही मोक्ष है—इसीमें ही मोक्षमार्ग है। यही अभेद रत्नत्रय स्वरूप है। इसीमें निर्विकल्प समाधि जागृत होती है। यही परमानंद धाम है। यही स्वानुभव समुद्र है। जो इस समुद्रमें स्नान करते हैं व इसीके निर्मल जलको पीते हैं वे ही परमतृप्तिको पाते हैं।

२९५—आत्मानंद।

परमानन्दी ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा जब कभी निज शक्तिका विचार करता है तो वहां अनंत अनुपम आत्मानंदका अपूर्व दर्शन होता है। इस आत्मानंदका स्वाद आते ही वह मिथ्या रुचि जो इंद्रिय सुखको उपादेय समझ रही थी यकायक चली जाती है और मोक्ष पथिकको कुमार्गसे हटाकर सुमार्गके सन्मुख कर देती है। इस सुमार्गपर चलते हुए इस व्यक्तिको आत्मानन्द कभी नहीं छोड़ता। वास्तवमें आत्मानंदका भोग ही एक कदम है जो

मुक्तिकी तरफ बढ़ता चला जाता है। जगतमें उस व्यक्तिको सदा आनंद है जो साम्यभावमें कल्लोल करते हुए द्रव्य दृष्टिसे देखकर संतुष्ट होजाते हैं और जो पर्याय दृष्टिको गौण कर देते हैं। धानमें चावलसे जैसे छिलका अलग है वैसे मेरा आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्मसे भिन्न है। मैं आप ही परमशुद्ध, परमज्ञानी, परमसुखी, परमबली व परमशांत हूं। मैं है या नहीं की कल्पनासे रहित हूं। सदा आत्मानंद रससे पूर्ण चैतन्यके निर्मल जलसे व्याप्त हूं।

२९६--शक्तिकी व्यक्ति।

अटूट अनंत शक्तिका धारी आत्मा सर्व दुःख क्लेशोंसे रहित हो अपनी शक्तिकी व्यक्तिमें उद्योगशील होरहा है। उपयोगकी परिणतिको निज शुद्ध स्वरूपमें तन्मय करता हुआ आत्मिक आनंदमई अमृतका पानकर रहा है ज्यों २ अध्यात्ममें थिरता बढ़ती है त्यों २ निज धनकी प्रगटता होती है। जो अपनी ज्ञानादि संपत्तिको पहचान चुके हैं उनको यह निश्चय होजाता है कि उनकी ज्ञानादि सम्पत्तिको न कोई हरसक्ता है न ले सक्ता है न वह मिट सक्ती है। वह ज्ञानादि सम्पत्ति सदा ही आत्मामें रहती है। जो इस सम्पत्तिके स्वामी हैं उनको पौद्गलिक पर सम्पत्तिकी कोई आवश्यक्ता नहीं होती। इसीसे वे संसार शरीर भोगोसे उदासीन होकर वे सर्व चिंताओंको छोड़कर एक अपने धनके भोगमें ही लवलीन होजाते है। इस भोगमें न कोई पराधीनता है, न कोई व्यय है न कोई अंतराय है। इस शक्तिकी व्यक्तिमई अनुभवानन्दमें ही मोक्ष मार्ग है व यही मोक्षका विलास है। जो इस सारको जानते हैं वे सर्व सकल्पविकल्पोसे रहित हो स्वरूप गुप्त होजाते हैं।

२९७--शमामृत.

ज्ञाता दृष्टा आत्मा अपनी अनादिकी तृषाको बुझानेके लिये अपने भीतर छिपे हुए एक रत्नोंसे भरपूर समुद्रको देख पाता है। उसके भीतर स्वानुभव रूपी बड़ाही शांत जल है उसीको शमामृत, कहते है—इस अमृतके पान करनेसे अपूर्व तृप्ति हो जाती है। यह ज्ञाता पुरुष और सर्व प्रयत्न त्याग करके इसी रसके पानमें लवलीन होजाता है। यह वह अपूर्व पौष्टिक रस है कि जो आत्माको अनंतवीर्य प्राप्त करा देता है तथा उसके संसारके भ्रमणको एकदम मेट देता है। इस रसका पीनेवाला मोक्ष-मंदिरमें ही तिष्ठकर सब तरहसे कृतकृत्य और निश्चिन्त होजाता है। तथा सर्वको देखता हुआ भी दृष्टा ज्ञाता मात्र रहता है—उनकी विचित्र पर्यायोंकि दर्शनसे उसकी परिणतिमें विकार या कलुषता नहीं पैदा होती है। जो ऐसे ज्ञानी हैं वे समताकी सीधी और निर्मल सड़कपर बेखटके चले जाते हैं, उनको देखकर मोह रागद्वेष कामादि शत्रुओंका कलेजा कांप जाता है और उनमें साहस नही होता कि वे सामना कर सकें। वास्तवमें जो शमामृतके पीनेवाले है वे ही परम सुखी हैं।

२९८--परम शांति.

गुणोंका समुदाय चैतन्य मूर्ति आत्मा अपनी परम शांतिमें इस तरह कल्लोल कररहा है जैसे पूर्णमासीका चद्रमा अपनी शांतिमें विराजमान हो। जैसे चंद्रमाको देखनेसे अमृत वर्षाके समान सुख भासता है ऐसे ही निज आत्माके दर्शन करनेसे आनन्दामृतकी वर्षा होती है। इस परम शांतिमें चारित्र मोहनीय, अंतराय तथा अज्ञान कर्मकी कोई कालिमा नहीं है। यहां स्फटिक मणिके समान

परम शुचिता है। इस परम शांतिके विलासमें हर जगह शांतिका ही समा दीखता है न कोई क्रूर न कोई वक्र सब जगह शांतिका ही साम्राज्य मालूम होता है। इंद्रिय विषयोंके चाहरूपी कीड़े और रागद्वेषके सर्प कहीं भी नही दिखलाई पड़ते हैं। यहां आनन्दका समुद्र ही भरा है। ज्ञानी जीव इसी समुद्रमें मग्न हो होकर अनादि निरानंद मग्नताकी त्रासको मिटा रहे है। और एक ऐसे पदमें जारहे हैं जिस पदके लिये इन्द्रादि देव भी तरसते हैं। सम्यग्दृष्टी जीवोंको जिससे अतिशय प्रेम है वह शांति हरएक जीवके गुणमें हरतरह वास कर रही है। जो इस परम शातिको माने वही निजध्यानी और साधु है।

२९९-सार भाव.

इस संसारमें सारभाव यदि है तो अपने ही पास है। उस सारभावको जानकर निज सुधाका पान करना ही वीरता है। परम क्षत्री वीर इसी वीरतासे प्रसिद्ध हुए हैं। इस सारभावका तत्त्व निज आत्मद्रव्यके शुद्ध गुणोंका एक अखड समुदाय है। इस द्रव्यमें स्वस्वरूपका अस्तित्व है तथा पर रूपका नास्तित्व है। एक समयमे अस्ति नास्तिके विकल्पसे रहित यथावत् पदार्थका जहां झलकाव है वहीं सारतत्त्वका प्रकाश है। इस प्रकाशमें रागद्वेषकी कालिमाके दर्शन बिलकुल नहीं होते हैं। जहां उपयोग सर्वमें साम्यताको धारकर वर्तन करता है और एक निज रसके पानमें तल्लीन होजाता है वही सारतत्त्व है। सिद्धका सिद्धत्व, अरहंतका अरहंतपन, साधुका साधुपन इसी सारभावमें है। बड़े बड़े तपस्वी इसी सारभावमें रमण करनेको ही तप समझते हैं। वास्तवमें जहां

सारभाव है वहीं तप है, संयम है, सम्यक्त है, ज्ञान है और चारित्र है। सारभाव मोक्षमार्ग है, सारभाव मोक्ष है, सारभाव असार संसारको सार बना देता है, शरीरीको अशरीरपनका भान कराता है। और परम मंगलीक ज्ञानानंदमई वीतरागताके दृढ़ आसनपर बिठा देता है।

३००--कारण समयसार.

मैं आप सबसे निराला—सबमें आला, गुणानंदमई शिवाला, अनुभवामृतका प्याला पिया करता हूं। मेरी नातेदारी किसी रागद्वेष मोहसे नहीं है। वे संसारी हैं मैं अविकारी हूं, वे व्यवहारी हैं मै निश्चय धर्मधारी हूं। वे दुःखकारी हैं मैं सुखकारी हूं। वे पापाचारी हैं मै शुद्धाचारी हूं। वे क्षोभकारी हैं मैं शांतिधारी हूं। वे विसमता प्रचारी हैं मैं समता विस्तारी हूं। वे चतुर्गति भ्रमणकारी हैं मै शिव विहारी हूं। वे कर्मबन्धकारी हैं मैं निर्बंध दशाधारी हूं। वे कर्मव्यूहके पुष्टकारी हैं मैं कर्मव्यूहका नष्टकारी हूं। वे जड़ताके धारी हैं मै चैतन्यता रमणकारी हूं। मुझसे सिवाय मेरे शुद्ध द्रव्य क्षेत्र भावरूप स्वचतुष्टयके और किसीसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मैं इसीसे सर्वसे नाता तोड़, मुंह मोड सर्व परके विकल्पोंको त्यागकर अपने स्वचतुष्टयमें एकाग्र होता हूं। यही कारण समयसार है इसीसे कार्य समयसार होता है, यही मोक्षमार्ग है, यही अमेद रत्नत्रय है, यही मोक्षद्वार है, यही ज्ञानीके गलेका हार है।

३०१--धर्मभाव.

परमयोगी और ज्ञानी आत्मा अपने भीतर जब ध्यानसे देखता है तो वहां एक ऐसा भाव दिखलाई पडता है कि जिस भावमें सर्व

जगतके पदार्थ अपने अपने गुण पर्यायोंको लिये हुए एक साथ आते जाते व कल्लोल करते है, तथापि उस भावमें कोई रागद्वेष मोहका विकार नहीं झलकता है। उस भावमें अपूर्व समता और शांतिका राज्य रहता है। इस राज्यमें आदि और अतपना नहीं है। यह अनादि अनंत अकृत्रिम राज्य सदा ही ध्रौव्य वना रहता है। इसमें नाना प्रकारके स्वाभाविक परिणमन होते हैं तथापि इस धर्मभावका नाश नहीं होता है। इस धर्मभावमें एक रूपता होनेपर भी दश रूपता वडी ही मनोहरतासे झलक रही है। क्रोधकी कालिमाके वहा दर्शन नहीं होते किंतु उत्तम क्षमा वडी ही सुन्दरतासे विराजमान है। जिसके होते हुए ही वज्र पड़े तो भी इस धर्मभावमें विकार नहीं होता है। मान कषाय भी कहीं ढूंढ़े नहीं मिलता है। किंतु अपूर्व मार्दवता ऐसी है कि जिसमें रत्नत्रय वड़े हर्षसे आकर विराजमान होते है। मायाके स्थानमें आर्जवने ऐसी सरलता कर रक्खी है कि तीन लोककी वक्रता उसमें अपना असर नहीं कर सक्ती है। लोभकी कालिमाका वहा पता नहीं है। किंतु शुचिताने ऐसी सफाई कर रक्खी है कि वहा कोई कालिमा नजर नहीं आती है। असत्यताका कोई चिन्ह नहीं दिखता है किन्तु सत्य धर्मकी ऐसी पुष्टता है कि कोई भी शक्ति जगतमें ऐसी नहीं है जो इस धर्मभावको अपने स्वभावसे गिरा सके।

असंयमकी शिथिलताको इस धर्मभावमें कोई नहीं पासक्ता, विरुद्ध इसके इस धर्मभावमें संयमकी भीत चारों तरफ ऐसी दृढ़ वनी हुई है कि आस्रव या वंध भाव इस भीतको लांघ नहीं सक्ते हैं। यहांपर ऐसी शुद्ध-उपयोगकी तपरूप अग्नि जल रही है कि

जिसके तापसे संतापित हो कर्मरूपी मृग दूर ही दूर रहते हैं निकट आनेकी हिम्मत नही कर सक्ते हैं। इस धर्मभावमें अधर्म-भावके त्यागका स्वाभाविक धर्म रमण कररहा है जिससे इसमें कर्मों विभावता नहीं आसक्ती है। आकिञ्चनने इसी धर्मभावकी शरण ग्रहण की है क्योकि यहां अंतरंग चौवीस प्रकारकी परिग्रहका सर्वथा अभाव है। सर्व कुशीलोंसे छूटा हुआ यह धर्मभाव स्वाभाविक चारित्ररूप ब्रह्मचर्य्यमें तन्मय होकर परमानंदका भोग कर रहा है। दशलाक्षणीरूप धर्मभावकी सदा जय हो। यही भाव इस आत्माका सौन्दर्य्य है। यही भाव इस आत्माका भूषण है। यही भाव इसके सुखका समुद्र है। जो इस धर्मभावपर दृष्टि रखता है वही निश्चय धर्मका ध्याता सच्चा महात्मा है।

३०२--अभेद रत्नत्रय.

ज्ञाता दृष्टा आत्मा अनादि कर्मबंधके कारण अपने स्वभावको न पाता हुआ विभाव अवस्थामें रम रहा है। उस आत्माके लिये स्वरूपकी व्यक्तिका कारण एक निजत्वका लाभ है। इसी लिये निश्चयधर्मका मनन आवश्यक है। मैं आप ही सम्यग्दर्शन हूं, आप ही सम्यग्ज्ञान हूं व आप ही सम्यक्चारित्ररूप हूँ। इन तीन रूप होकर भी निश्चयसे एक अभेद रत्नत्रय स्वरूप हूं, मेरेमें कोई भेदके विकल्प नहीं हैं। न मैं क्रोधी हूं, न मानी हूं, न लोभी हूं, न मायावी हूं। राग द्वेष मोहकी कालिमाका कोई धब्बा मेरेमें नहीं है। मैं न नारकी हूं, न देव हूं, न पशु हूं, न मनुष्य हूं। मै सिद्ध, शुद्ध, अविनाशी, परमानन्दमई हूं। मैंने अपने स्वरूपको इसी तरह भिन्न जाना है जिस तरह एक तरकारीमें मिश्रित लव-

णको भिन्न पहचाना जावे। अपनी स्वानुभवमई परिणतिको ही अपना स्वभाव जानकर मैं अब तन, मन, वचनके सर्व विकल्पोंको त्यागता हूं और निश्चित हो अपने शुद्ध आत्मस्वरूपके श्रद्धान और ज्ञानमें तन्मय होकर निश्चय चारित्रवान होता हुआ अभेद रत्नत्रयके स्वादमें मग्न होरहा हूं। इस स्वरूपानन्दमई सागरमें गोता लगाते ही क्या हूं क्या नहीं यह सब विचार बन्द होजाते हैं और एक ऐसा समता और शांतिका भाव छाजाता है कि जिस भावमें रमण करना ही जीवन्मुक्त अवस्थाका एक निराकुल जीवत्व है।

३०३-क्षमाभाव।

इस जगतमें यह आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित होकर जब अपनी स्थितिपर ध्यान देता है तो वहां क्षमाभावका राज्य पाता है। क्रोधादि विकारोंका कहीं पता नहीं मिलता। इस क्षमा-भावमें रत्नत्रयकी अपूर्व शोभा चमक रही है। आत्मा अपने अद्-भुत गुणोंकी मूर्ति लिये हुए एक अमिट और अपूर्व शोभाके साथ झलक रहा है। उसके प्रकाशकी दीप्तिमें सर्व लोकालोक एक साथ अपनी विचित्र रचनाके साथ प्रतिबिम्बित होरहे हैं। इस शांतिमय राज्यमें सर्व ही आत्माओंके साथ साम्यता है। जो मैं हूं सो सब हैं। जो सब है सो मैं हूं। ऐसी एकताके दृश्यमें व्यवहारके भेदोंका लोप होजाता है। एक शांतिमय अमृतका समुद्र ही रह जाता है, ज्ञानी जीव इसी समुद्रमें ही स्नान करते, इसीका जलपान करते और परम वीर होते हुए परम पुष्ट बने रहते हैं। इस रसपानमें आत्मानुभवकी महिमा प्रगट होती है। यही अतीन्द्रिय आनन्द है। यही अभेद रत्नत्रयकी दृढ़ शिला है। जिस शिलापर विराजमान

होकर एक अनुभवी आत्मा निजमें निजताको निजरूपसे देखता हुआ परम सुखी और स्वाधीन रहता हुआ सदा कल्लोल करता है।

३०४--सत्यता.

यदि कोई इस संसारमे सत्यताको देखना चाहे तो उसको सत्यताका दर्शन एक निज आत्मामें ही होगा। आत्मामें असत्यता व मिथ्यात्वका नामोनिशान नहीं है। न वहां मिथ्याज्ञान न मिथ्या चारित्र है। सत्य स्वरूप यथार्थ रत्नत्रयका धारी आत्मा अपनी अखंड अमिट सत्यमूर्तिको लिये हुए अपनी सत्यताको दर्शा रहा है। इस अपनी सत्यताका विलास करनेवाला प्राणी एक ऐसे रमणीक आनन्दसागरमें पहुंच जाता है कि जहां इंद्रियोके क्षणिक सुखकी बास भी नहीं है। न जहां क्रोधादि जलचर प्राणियोंकी उछल कूद है न वहां संकल्पविकल्परूप पवनोके झकोरे हैं। ऐसे अनुपम ज्ञान समुद्रमें सुखशांतिका भोगनेवाला अपनी सत्यताका गाढ़ प्रेमी हो जाता है। निज सत्यता रमणीमें रमण करता हुआ द्वैतभावसे अद्वैतभावमें पहुंचकर अभेद रत्नत्रयके महासुहावने अनुभवानन्दमई अमृतका पान किया करता है।

३०५--वात्सल्यभाव.

एक चिरसंतप्त संसारी प्राणीने अपनी राजधानी व उसके निवासियोंसे द्वेषभाव करके तथा अपने रागादि शत्रुओंसे मित्रता करके जो भारी हानि उठाई थी उसको स्मरण करके अब अपने आपको सम्हाला है और शत्रुओको शत्रु जानकर उनसे उदासीन होकर स्वराज्य व स्वराज्यनिवासी अनन्त शुद्धगुण स्वभावोंसे परमवात्सल्यभाव कर लिया है। अब इस भेद विज्ञानीका प्रेम प्रवाह

निज देशकी तरफ ही है-इस स्वदेश प्रेमने इसको बड़ा ही संयमी, ज्ञानी, सम्यग्दृष्टी तथा वीर बना दिया है। यह श्री वीरकी तरह निज रत्नत्रय निधिका प्रेम रखता हुआ निरंतर स्वात्मानन्दका लाभ करता है और वीतरागी होकर सर्वको देखता जानता हुआ भी समदर्शी रहता है। इस वात्सल्यभावमें रागका चिह्न मात्र भी नहीं है। इसीसे इसको शुद्ध प्रेम कहते हैं। इस शुद्ध प्रेमसे सर्व आत्माओंके साथ शुद्ध प्रेम होरहा है। इसका फल यह होता है कि ऐसे प्रेमी जीवन्मुक्त परमात्मा तुल्य होकर संसारमें रहता हुआ भी अलिप्त रहता है।

२०६--अमरत्व।

परम पुरुष परमात्मा निज अमरत्त्वमें कल्लोल कर रहा है। सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रके विकल्पोंसे दूर है। उत्तम क्षमादि दशलाक्षणी धर्मकी कल्पनासे भी रहित है। इसके स्वरूपमें मनके विकल्पोंका संचार नहीं होसक्ता। यह आप आपी अपनी भूमिमें विराजित रहता हुआ जिस प्रकारका आनद लाम कर रहा है इसका वर्णन नहीं होसक्ता। इस आत्माने सर्वसे परान्मुखता कर ली है, केवल अपनी ही ओर सन्मुख होरहा है। आप ही ज्ञेय है, आप ही ज्ञाता है। आप ही ध्येय है, आप ही ध्याता है। आप ही भोग्य है, आप ही भोक्ता है। संसारमें कोई शक्ति नहीं है जो इसको संहार कर सके। यह स्वाधीनतासे सदा काल अपनी सत्तामें विराजमान रहता है। इसके गुणोंकी गिनती भले ही कोई विकल्पवान करे परंतु उसको अपने गुणोंके गिननेका कोई प्रयोजन नहीं है। जो आमका स्वाद लेता है वह उसके वर्णआदि पर ध्यान नहीं रखता है।

निज अमरत्त्वमें ही सुख समुद्र है, यही सार है, शेष असार है।

३०७--निर्वाणसुख.

ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई आत्मा सर्व विभाव भावोंसे हटा हुआ अपनी स्वरूप समाधिकी तरफ जब दृष्टि लगाकर देखता है तो वहां परमनिर्वाण सुखका लाभ कर लेता है। आत्माके स्वाभाविक सुख गुणकी महिमा अपार है। यह परम पवित्र तृप्तिकारी, अविकारी, गुणकारी एक अद्भुत वस्तु है। इस सुखके पानमें परम वीतरागता झलकती है जिसके प्रतापसे कर्मवर्गणाओंकी पंक्तियें उस आत्माकी सत्तामें प्रवेश नहीं कर सक्ती हैं किंतु जो कुछ कर्मबंधन आत्माकी सत्तामें होते हैं वे भी उस सुखके प्रतापसे सूखकर गिर जाते हैं। निर्वाणसुख आत्माकी सम्पत्ति है। हरएक आत्मा इस संपत्तिका धनी है। जो अपने आत्मभंडारकी तरफ दृष्टि डालेंगे वे ही इस सुखको भोगेंगे। धन्य हैं वे परमात्मा समुदाय जो निरंतर इस निर्वाणसुखका भोग करते हुए परम ज्ञाता दृष्टा वीतरागी बने रहते हैं। जगतमें यदि सार कोई वस्तु है तो वह निर्वाणसुख ही है। इसीके भोगके लिये ज्ञानी मनुष्य जगतकी संपत्तिसे मुह मोड़ वनके पर्वतकी गुफामें तिष्ठ त्रिगुप्तिकी चादर ओढ़ निज आत्मसमाधिकी सुखमय शय्यापर शयन करते हुए निर्वाणसुखका लाभ करते हैं। श्रीमहावीर भगवानने इस सुखको पाया है, पाते हैं व पाते रहेंगे। जो उनके पथपर चलते है वे भी इस सुखके भागी होते हैं।

३०८--निर्विकल्प समाधि.

ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व प्रपंच जालोंसे रहित हो निज आत्माके अनुभवमें दत्तचित्त होता हुआ एक ऐसी स्वरूपकी एकाग्र-

ताको प्राप्त होजाता है जिसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इसमें ध्याताके भावको डगमगानेवाले रागद्वेष मोहके विकल्प नहीं होते। वीतरागताका अनुपम समागम सर्व चिंताओंसे रक्षित रखता है। आत्मज्ञान होते हुए भी आत्मा ऐसा है ऐसा नही है इत्यादि विचारोंकी जहां पहुंच नहीं है। संतजन पवनके संचारके रोकने न रोकनेके झगड़ेको छोड़कर यकायक श्रुतज्ञानद्वारा प्राप्त आत्मबोधरूपी भावमें ऐसे डूब जाते हैं कि उनके चित्तकी फिरन बन्द हो जाती है। वास्तवमें इस स्वानुभवरूप निजानन्दके भोगमें तन्मय होते हुए एक सुख शांतिका ही स्वाद आता है तो भी ज्ञाता प्राणी उस भोगके समय यह विकल्प नहीं करता है कि मैं कोई स्वाद पा रहा हूं। ऐसी समाधिके होनेके लिये वीतरागताका चिन्तवन उपकारी है। जब उपयोग पर पदार्थसे हटता है तब ही स्वस्वरूपमें जम जाता है। यहीं जबतक जमाव है तबतक निर्विकल्प समाधि है। यह परम कल्याणरूपिणी तथा सुखदाई है।

३०९-परमतत्त्व।

ज्ञातादृष्टा आत्मा जब निज स्वभावमें तन्मय होता है तो वहां उस परमतत्त्वका दर्शन पाता है जो अपना ही स्वभाव है। इस परमतत्त्वमें सर्व लोकालोक झलकते है-तथापि वे जगतके पदार्थ किसी तरहका विकार नहीं करते हैं। उस परमतत्त्वकी ज्ञानदृष्टि दीपकके समान सर्व पदार्थोंको झलकाती हुई परम उज्वल और निःशंक रहती है। रागद्वेष मोह वहांपर अपना स्थान नहीं जमा सके, न वहा किसी पुद्गलके परमाणुकी कभी पहुंच होती है। इसकी एकता, निश्चितता, एकाग्रता अपूर्व है। वहा कोई भी भयं-

कर क्षोभकारक तत्त्व नहीं है—परम साम्यताका ही वहां दर्शन है। गुणस्थान, मार्गणास्थान, समासस्थान, कषायस्थान उस सत्तामें नहीं हैं। वहां ज्ञानदर्शन चारित्र वीर्य सुखादि गुणोंका साम्राज्य है। वह परमतत्त्व किसी परभावका न कर्ता है न भोक्ता है। वह अपनी ही शुद्ध परिणतिका ही कर्ता तथा भोक्ता है उस परमतत्त्वमें अतींद्रिय सुखका भोग है—जिस भोगके आगे इंद्रियोंके सुख सर्व विरस तथा फीके हैं। धन्य हैं वे प्राणी जो इस परमतत्त्वका स्वाद पाते हुए सदा ही निर्भय, निर्मोही और ज्ञानानन्दी बने रहते हैं।

३१०--अबंधभाव।

एकाकी निश्चल निजरूपमें रमनेवाला आत्मा परम शुद्ध अबंधभावमें कल्लोल करता हुआ जिस आनन्दका भोग कर रहा है वह आनंद अबंधभावमें ही प्राप्त होता है। इस भावमें किसी प्रकारका मल नहीं है। यह भाव परम शांतिका समुद्र है। यह भाव साध्य साधक भेदसे दो रूप होकर भी एक रूप है। इसी भावमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रका साम्राज्य है। यह भाव परम निर्मल स्फटिक मणिके सदृश स्वच्छ है। इसमें लेश्याओंके रंग नहीं हैं, गुणस्थानों व मार्गणाओंके विकल्प हैं। इस भावमें अनंतगुणोंकी एकता है। इस अमिट मेलके कारण यह अबंधभाव बहुत बड़ा शक्तिशाली है—इसके भीतर कोई भावकर्म तथा द्रव्यकर्म प्रवेश नहीं कर सके। यह सबमें निराला है तथापि परमानंददाई ज्ञान सिराया है। इसकी शांत छायामें भवाताप मिट जाते हैं—रागद्वेष मोहके क्षोभ नहीं दिखते। समताभाव बड़े ही ऐश्वर्यसे

विराजता है, यही भाव मुक्तिनाथोंका आधार है। यही भाव संतोंको शरण है। यही भाव सम्यग्दृष्टियोंको उपादेय है। अबन्धभावमें और भाववानमें कोई अंतर नहीं है। गुणगुणी कहनेमें भेद है वस्तुतः अभेद है। धन्य हैं वे महात्मा जो इस भावमें नित्य मगन रहते हुए स्वात्मानुभवका उपभोग करते हुए सदा संतोषी रहते हैं।

३११--वीतरागता।

ज्ञाता दृष्टा आनंदमई आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित हो जब अपने अस्तित्वको देखता है तो वहां परम वीतरागता हीका साम्राज्य झलकता है। इस वीतरागतामें कषायकी कालिमा विल्कुल नहीं है। यहा पूर्ण सुख और पूर्ण ज्ञान है। यहां सर्व लोकालोक झलकते हैं तथापि कोई चेतन अचेतन पदार्थ किसी तरहका विकार नहीं कर सके। परमात्म पदार्थका वस्तुपना वीतरागता हीमें है। वीतरागता परम निर्मल समुद्र है जिसमें स्नान करनेवालोंके सर्व पापमल धुल जाते हैं। वीतरागता परमामृतमई भोजन है, जिसके स्वाद लेनेसे अगाध सुख अनुभवमें आता है। वीतरागता एक अटल साम्राज्य है जिसके पतन करनेको किसी ज्ञानावरणादि कर्मकी शक्ति नहीं है। वीतरागता समताकी सुन्दरताको रखते हुई जगतमें बन्ध अबन्धके भावको मेट देती है। वीतरागता आत्मानुभवके सरस रससे परिपूर्ण हो सदा ही प्रफुल्लित रहती हुई भव्यके भीतर विराजती है। वीतरागता हीके प्रतापसे निज आत्माके समान सर्व आत्माएं झलकती हैं। वीतरागता निश्चय दृष्टिको स्थिर करती हुई चारित्रकी ज्योतिसे नित्य प्रकाशित होती रहती है। इस निर्मल वीतरागतासे मेरा अमिट सम्बन्ध है। मैं हूं सो यह है। यह है सो मैं हूं। मैं

आपी वीतरागमई होता हुआ अपनेसे अपनेको अपनेमें विराजमान करता हुआ निर्विकल्प स्वानुभवमें विश्राम करता हूं।

३१२--परमार्थ.

सकलगुण सम्पूर्ण ज्ञानानन्दमय अविनाशी आत्मा सर्व दोषोंसे रहित निज स्वभाव रूप परमार्थको हृदयांकित करता हुआ सर्व विभाव भावोंकी कालिमासे छूटा हुआ इस क्षणभङ्गुर जगतकी अवस्थाओंको जानते हुए भी उनमें हर्षित व खेदित न होता हुआ अपने आत्मानुभवसे उत्पन्न परमामृत रससे तृप्त होता हुआ परमानन्दका भोग कर रहा है। परमात्म पदार्थ ही एक परमार्थ है, वही निर्विकार है, वही सुखकार है, वही परमशांति भंडार है, वही मोक्षमार्गका ज्ञायक है—वही मोक्षका सहायक है, वही सर्व द्वन्द विनाशक है, वही लोकालोक प्रकाशक है! जो गुणी निज आत्माको परमात्माके समान जानकर, उसका यथार्थ श्रद्धान कर उसीके ही आचरणमें तन्मय हो जाते हैं वे ही परमार्थको पाते हैं अथवा वे स्वय परमार्थ स्वभावमें विलास करते हैं, यह सम्पूर्ण जगत परमार्थके ज्ञाताको परमार्थ दिखता है। अचेतन अचेतन रूप तथा चेतन चेतन रूप अपनी२ मनोहर शोभाके साथ अपना रंग दिखाते हैं। ज्ञानी प्रभु इस सर्व जग नाटकको देखता हुआ भी न देखता हुआ स्वस्वरूपाशक्तिके पवित्र प्रेममें प्रेमालु होरहा है।

३१३--ज्ञानचक्र.

परमप्रतापशाली सम्राट् आत्मा अपने स्वदर्शनरूप ज्ञानचक्रसे विभावोंकी सेनाओंका संहार करता हुआ स्व विजयके परमाह्लादमें संतोषित होकर निज अनुभूति—तियाके संगमे निज आत्मा उपवनके

गुण-वृक्षोंकी शोभाके निरखनेमें और उनकी समतापूर्ण शांत छायाके मध्य विश्राम करनेमें उपयुक्त होता हुआ वीतरागताकी मनोहर मूर्ति झलका रहा है। इसके संपूर्ण असंख्यात प्रदेशी अंगमें ज्ञान ज्योतिका तेज है, अद्भुत अनन्तवीर्य है, शांतिमई प्रकाश है, तथा सुखाकर महात्म्य है, इस सम्राट्ने त्रिलोकको विजयकर परम स्वाधीनता प्राप्त कर ली है। कोई भी अन्य पर इसकी सत्ता व शक्तिमें विरोधक नहीं है। इसने अनन्तकालके लिये स्ववीर्यका पूर्ण प्रभाव अपने देशमें जमा दिया है। ज्ञानचक्रके महात्म्यसे सर्व ज्ञेयोंको जानते हुए भी यह परम निर्विकार तथा परमानन्दरूप है। ज्ञान चक्रके समान किसीकी भी शक्ति नही है जो शत्रुभावसे आ सके। यदि कोई आता भी है तो स्वयं अपनी कृतिका हानिकर फल पालेता है-ज्ञानचक्रमें कोई बाधा नहीं पहुंचा सक्ता। धन्य हैं वे जीव जो इस ज्ञानचक्रसे निज वीर्यको सम्हालते हुए स्वात्मानन्दका स्वाद लेते हैं।

३१४--परम साम्यभाव.

ज्ञानानन्द स्वरूप परमज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा एक ऐसे भावमें तन्मय होरहा है कि जिसका कथन मुखसे नही होसक्ता। यह एक वचन अगोचर भाव है। इस भावमें कोई भी उपाधि दिखलाई नहीं पड़ती है। न यहां क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न काम है, न भय है, न हास्य है, न जुगुप्सा है, न शोक है और न कोई विकार है। यही निर्विकार भाव मोक्षमार्ग है तथा यही मोक्षरूप है। यही शांतिका पुज है। इसीमें रत्नत्रयका अमृत घुला हुआ है। इसी भावको ध्यानकी आग भी कहते

हैं। यह सुवर्णके समान आत्माको शुद्ध करनेवाला है। जो इस भावमें तन्मय होते हैं उनके लिये यह सर्व लोक परम शांतिका समुद्र है। इस भावमें यह सर्व लोक षट्द्रव्योंका समुदायरूप भिन्न२ दिखता है। यह भाव दर्पणके समान स्वच्छ है। इसी परम निर्मल साम्यभावमें ही स्वानुभवका झलकाव है। वहीं ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य आदि अपूर्व आत्मीक गुणोंका सहयोग होकर पुष्पोंके संगठित गुच्छेकी बहारका दिखाव आरहा है। धन्य हैं वे जो इस साम्यभावका आनन्द लेते हैं और संतोषी रहते हैं।

३१५-समताभाव।

परमयोगीश्वर ज्ञाता दृष्टा आनंदमई आत्मा निज स्वरूपमें तन्मयता प्राप्त करके निज आनन्दके विलासमें उल्लासमान रहता हुआ परम तृप्तिको प्राप्त कर रहा है। इसके भीतर कोई प्रकारका विकार नहीं है। यह सब तरहसे सुखी और निराकुल है। रागद्वेषकी कालिमासे रहित परम सार समताभाव यहां कल्लोल कर रहा है। इस समताभावमें सर्व द्रव्य, गुण, पर्याय अपने२ वास्तविक स्वरूपको लिये हुए विराजित हैं। दीपककी ज्योति सज्जन दुर्जन, सुन्दर असुन्दर, दीर्घ लघु, स्त्री पुरुष आदिके नानारूपको प्रगट करती हुई भी अपनी एकताके रसमें तल्लीन रहती हुई किसीके रागद्वेष करनेके लिये उत्सुक नहीं होती है, इसीतरह यह आत्मज्योति समताभावमें तन्मय रहती हुई व स्वपरको जानती हुई परम निर्विकार रहती है। समताभावकी महिमा अपार है। जो इस भावके दास हैं वे अवश्य मुक्तिके नाथ होजाते हैं। समताभावसे ही परमात्मपदकी शोभा है। समताभावसे ही परम अध्यात्मरसकी

प्राप्ति है। समताभावसे ही आत्माका आत्मत्त्व है। समताभाव गुणाकर है। यही सुखधाम है।

३१६-ज्ञानभाव।

इस जगतमें मैं कौन हूं इस प्रश्नके उत्तरको विचारता हुआ ज्ञानी जीव अपने ज्ञानभावमें स्थिर होता हुआ सर्व प्रपंचोंसे छूटकर एक विकल्प रहित शुद्धभावमें स्थिरता प्राप्त कर लेता है। ज्ञानभावकी महिमा अपार है। यह स्वपरको प्रदीपके समान झलकाता हुआ भी निर्विकार रहता है। सर्व लोकालोकके पदार्थोंका यथार्थ तत्त्व ज्ञानीके ज्ञानभावमें झलकता है। वीतरागताके सुंदर रसके मिश्रणके कारण सर्व दुःखोंका अभावरूप निजानन्द रसका पान ज्ञानीको होता हुआ उसे परम तृप्तिमई भावमें संलग्न रखता है। स्वानुभवसे उत्पन्न आनन्दामृतमें कोई मिष्टता न होते हुए भी परमशांतिमई निराकुलता प्रदानका परम अद्भुत बीज है। जो ज्ञानी ज्ञानभावमें रहते हैं वे जगतकी सर्व अवस्थाओंको गौण करके उनके निमित्तसे होनेवाले राग, द्वेष, मोह विकल्पोंका विध्वंश कर देते हैं और परम समताके समुद्रमें मग्न होजाते हैं। ज्ञानभाव ही मोक्ष है, ज्ञानभाव ही मोक्षमार्ग है। ज्ञानभाव ही स्वानुभाव है, ज्ञानभाव ही रत्नत्रयरूप बोधि है, ज्ञानभाव ही आदर्श है, ज्ञानभाव ही सिद्धत्व है, ज्ञानभाव ही सुखरूप है, ज्ञानभाव ही कर्ममलहर सार जल है। धन्य है वे भव्य जीव जो इस ज्ञानभावका आनंद लेते हुए जीवित रहते हैं।

३१७-वैरागी बाबा।

अहा! क्या खूब! एक वैरागी बाबा अपनी अनुपम स्वा-

भाविक सजधजके साथ एक शरीररूपी कुटीमें बैठे हुए ... होरहे हैं। यद्यपि इनका आकार पुरुषाकार है तथापि पुद्गल-पिंड या उसके स्पर्श, रस, गंध, वर्णका यहां कोई भी चिह्न नहीं है। न कोई तैजस कार्मणमेंसे सूक्ष्म शरीर है, न कहीं इस वैरागी बाबाके प्रदेशोंमें राग, द्वेष, मोहकी कोई कालिमा है, न यहां कोई गुणस्थान है, न संयमस्थान है, न विशुद्धि स्थान है। न इस वैरागी बाबामें श्रावकपना है, न साधुपना है, न केवलीपना है। न इसमें आश्रव है, न बंध है, न संवर है, न निर्जरा है, न मोक्ष है, न मोक्ष स्थान है, न संसार है, न संसारका कोई मार्ग है। इस वैरागी बाबामें ज्ञानका सूर्य ऐसा दीप्तमान होरहा है कि कोटि सूर्य्यकी दीप्ति भी तुच्छ है। इस ज्ञान-ज्योतिमें लोकालोक एक काल अपने सर्व गुण पर्यायोंके साथ झलक रहे हैं। बाबाके मुखमें शांतिका अटूट सौन्दर्य है। प्रेमका अखण्ड विलास है। आनन्दानुभवका आश्चर्यकारक भोग है। बाबाके सर्व अंगमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप तीन रत्नकी प्रभा द्योतित होरही है। यद्यपि इस वैरागी बाबाके पास न वस्त्र है, न आभूषण है, न कोई अन्य अलंकार है। तथापि इन तीन रत्नोंने बाबाके मस्तकको नहीं छोड़ा है। वे पौद्गलिक नहीं हैं किन्तु आध्यात्मिक हैं इसीसे बाबाकी शोभाको वृद्धिगत कर रहे हैं। यद्यपि वैरागी बाबा वैरागी हैं तथापि अपनी परमप्रिया आत्मानुभूति तियाके इतने गहरे रागी हैं कि रात्रिदिन उसके भोगमें तल्लीन रहते हुए कभी भी उससे वियोग नहीं करते हैं-उनके इस रागकी तुलना बड़े२ चक्रवर्ती सरीखे भोगी भी नहीं कर सक्ते हैं। धन्य हैं! यह वैरागी बाबा, यही सच्चे साधु हैं,

यही सच्चे जिन है, यही सच्चे योगी है, यही सच्चे सम्यग्दृष्टी हैं, यही सच्चे ध्यानी है, यही सच्चे धर्मी हैं तथा यही सच्चे निर्लोभी हैं व दर्शन योग्य यदि कोई हैं तो यही है।

३१८–अद्भुत मोती।

एक सम्यग्दृष्टी जौहरीके हृदय वाक्यमें एक अद्भुत मोती है जिसकी उत्पत्ति नहीं है न जिसका आदि है न अन्त है। यह मोती परम सुंदर, परम सच, परम क्रांतियुक्त और परम शांतिमय है, अनादिकालीन भवतापको शमन करनेवाला है तथा अपने प्रकाशसे ही आप और अन्य ज्ञेयको झलकानेवाला है। यह सदा एकसा रहता हुआ भी अपने गुणोकी चमकमें लहराता हुआ तरंगें लिया करता है। उन तरंगोंमें आभा उठती बैठती रहती है तथापि गुणावलीकी स्थिति बनी रहती है इस कारणसे इस मोतीको उत्पाद व्यय ध्रौव्यमई त्रिस्वभावात्मक कहते है। यह एकरूप होकर भी ब्रह्मा, विष्णु महेशरूप होरहा है। इस मोतीका धारी अन्य ओरसे उपयोग हटाकर इस मोतीके भीतर ऐसा आशक्त हो जाता है कि रात्रिदिन इसीकी शोभाके अवलोकनमें व इसीसे शांति व आनंदकी प्राप्तिमें तन्मय रहता है। उसके लिये या तो यह विश्व ही नहीं होता है अथवा यह विश्व ही मोतीरूप होजाता है। उसकी दृष्टिमें सिवाय इस मोतीके कुछ नजर नही आता। मोती, मोती, मोती यही भावना उसके सर्वांगमे व्याप्त होजाती है। जो इस चैतन्यमई मोतीको पहचानते हैं वे ही ज्ञानी, वैरागी व परमसुखी हैं। आश्चर्य तो यह है कि विकल्प दशामें मोती व उसके स्वामी दो झलकते हैं परंतु निर्विकल्प दशामें यह द्वैतभाव नहीं रहता है।

जो मोती है वही मोतीका धारी है। वास्तवमें वस्तु एक है। आत्म मोतीका अपनी ही आत्मताकी आभामें मस्त रहना यही मोतीपना व यही मोती है । इस अद्भुत मोतीकी महिमा अगाध है ।

३१९--मतवाला.

एक मतवाला निज अनुभूतिके भोगसे प्राप्त नशेमें बेहोश होकर सर्व विश्वको एक आनन्दसागर देख रहा है--उसकी दृष्टिमें दृष्टा और दृश्य दोनों एक हैं। लाखों गालियोंकी बौछाड़ व लाखो स्तुतिके हार उसके स्वरूपमें कुछ विकार नहीं प्राप्त करते हैं। वह गम्भीर मेरु सदृश अचल रहता है । यद्यपि किसी पर पदार्थमें उसकी वृत्ति नहीं जाती है तथापि उसकी मस्तताकी झूम अपने प्रदेशोंमें परिणमन कर रही है। इस मतवालेने खाना, पीना, श्वास लेना, बोलना बतलाना सब छोड़ दिया है। ग्रहण त्यागका विकल्प भी वहां नहीं है। क्रोध, मान, माया, लोभादि शत्रु इस मतवालेकी मस्तीसे भय करके दूर २ भाग रहे हैं। वीतरागता इसके सर्वांगमें व्याप रही है । मतवालेने वास्तवमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके अपूर्व मसालोंसे बनी हुई अनुपम भाग पी है। और नशे तो कम होजाते है परन्तु यह नशा कभी नही मिटता । मन मोहनी छटाके भावमें पूर्ण होकर यह मतवाला जो आनन्द भोग रहा है वह अकथनीय है ।

३२०--शांतरस.

ज्ञाताद्दष्टा आनन्दमई आत्मा सर्व श्रृंगारादि रसोंसे विलक्षण एक अपूर्व शांतरसमें विराजमान है । इस शांतरसमें किसी तरहका मल व दोष नहीं है। शांतरसका धनी सर्व आपत्तियोंसे विलक्षण

एक महान गुणपूर्ण सम्पत्तिको रखता है जिसका नाम अतीन्द्रिय सुख है। इस सुखके भोगमें कोई कष्ट नहीं होता है, न इसमें किसी पर पदार्थकी आवश्यकता है न कोई परिश्रमकी जरूरत है, न यह किसीसे दिया जासकता है न किसीसे लिया जासक्ता है। यह सुख शांतरससे इतना भीगा हुआ है कि इस सुखके भोक्ताके भीतरसे इस रसका छिड़काव इतना अधिक होता है कि जो कोई इस रसके धनीके पास आता है वह स्वयं शातरसमें भीग जाता है और कुछ देरके लिये जबतक वह संगति नहीं त्यागता है परम शांतिको पाता हुआ भवातापकी दाहोसे बचा रहता है। शांतरसमें विकल्पातीत ज्ञान है। न इसमें मिथ्यात्व आदि कोई गुणस्थानोंका विकल्प है, न गति इद्रिय आदि मार्गणाओंका झलकाव है, न इंद्रिय आदि जीव समासोंके झगडे हैं, न कषायोंके मद तीव्र मध्यम अनुभाग हैं। यह शांतरस परम निर्मल जलकी तरह झलकता हुआ अपनी आभामें सर्व द्रव्योके स्वभावोंको बताता हुआ भी किसी भी परपदार्थमें नहीं जाता। शांतरसका धनी आत्मा सब तरहसे अपने प्रदेशोंमें ठहरा हुआ सब तरह ज्ञानानंदका भोग करता हुआ जिस दशामें विराजमान है उस दशाकी प्रतिष्ठाका महत्व वचनातीत है।

३२१-ज्ञानकी तरंग।

ज्ञानकी तरंग अपनी अद्भुत शक्तिके साथ वहती हुई, अपनी निर्मलतासे सर्व स्वपर ज्ञेयको झलकाती हुई, वह चारों तरफ परम शीतलताका विस्तार करती हुई सुखकी सुगन्ध फैला रही है। जो इस सुख सुगंधके रसिक हैं वे भ्रमर जैसे कमलकी गधमें आशक्त होजाता है इसतरह सुख सुगन्धमें मस्त हो इस ज्ञान तरंगकी

सेवाका त्याग कभी नहीं करते हैं। इस ज्ञानतरंगमें वे ऐसे उन्मत्त होजाते हैं कि वे अपना सर्वस्व उसीमें अर्पण कर देते हैं यहांतक कि वे अपनी सत्ताको भी भूल जाते हैं। वास्तवमें जो कोई जिस वस्तुका उपभोग करता है वह जब अपने उपयोगका सर्वस्व उसी वस्तुमें जोड़ देता है तब ही उसको उस वस्तुका यथार्थ स्वाद आता है। स्वादके लिये एकाग्रताकी आवश्यक्ता है। जहां एकाग्रता होती है वहां द्वैतका अद्वैत होजाता है। वस्तुएं अपनी सत्तासे चाहे दो बनी रहें परन्तु उपभोक्ताको उपभोग्यका स्वाद उसी समय आता है जब द्वैतभाव मिट जाता है। उपभोक्ताके भावमें मैं उपभोक्ता यह उपभोग्य यह कल्पना भी नहीं आती है। ज्ञानी अपनी ज्ञानतरंगका जब भोग करता है तब दो वस्तुएं भी नहीं होती हैं। ज्ञानी वस्तु है, ज्ञान तरंग उसीकी वस्तुता है। वस्तुका अपनी वस्तुतामें रहना स्वाभाविक है–सहज ही बना हुआ है। जैसा अग्निका अपनी उष्णतामें रहना स्वाभाविक है। अग्नि अपनी उष्णतामें तन्मई है व अग्नि अपनी उष्णताका भोग कर रही है यह केवल वाग्जाल है। ज्ञानी सदा अपनी ज्ञानादि शक्तियोंका स्वामी है। सदा ही अपने स्वभावसे अद्वैत है, सदा ही ज्ञानानन्दका विलास करता है, जो इसी बातके समझने व समझानेके झगड़ेसे दूर है वही ज्ञानी है, वही स्वानुभव रसिक है, वही परम योगी और परम मुनि है। वही ज्ञान तरंगोंका अद्भुत समुद्र है।

३२२–पवित्र गंगा।

आज हम निज आत्म परिणति रूपी पवित्र गंगामें स्नान कर रहे हैं। इस गंगाका उदय परमात्मरूपी हिमाचलसे हुआ है।

ज्ञान समुद्रमें इसका प्रवाह वह रहा है। इसका निर्मल शांततारूपी जल सर्व विकारोंसे रहित भवातापको शमन करनेके लिये रामबाणके समान है। इस जलमें अतीद्रिय आनन्दका अद्भुत स्वाद है। इसमें संकल्प विकल्परूपी मगरमच्छोंका दौरदौरा नही है न इसमें रागद्वेषकी कालिमा है न इस जलमें पुद्गलमई ज्ञानावरणादि कर्मोंकी मिश्रता है। यह जल स्वच्छ स्फटिक मणिके समान चमक रहा है। इसकी निर्मलतामे अनेक ज्ञेय प्रतिभासित होते है तथापि इसकी भूमिकामें उनके प्रतिभाससे कोई विकार नहीं होता है। यह पवित्र गंगा अपने भक्तोंका उद्धार करनेवाली है। उनको वीतरागताका रस पिलाकर पुष्ट करनेवाली है। आज हमारे आनन्दका पार नहीं है। हम इस गंगामें गोता लगाते हुए अपनेको गगा रूप ही करते हुए अद्भुत साम्यताका विकाश कर रहे हैं मानों सिद्ध रूप ही होकर स्वानुभूतिमें मग्न होरहे है।

३२३-मतवालेका स्वांग।

एक आत्मा आत्मानुभवका मद पिये हुए सर्व जगतकी रंगतोसे उन्मुख होकर मतवालेके स्वागमें रगा हुआ अपने अपूर्व नशेमें चूर हो बैठा है। दुनियाके लोग उसे दुनियाके कामका न जानकर उसकी निन्दा करते है—उसको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते है। उसको कोई लात घूसा भी मार देते है तौभी वह इन सबकी तरफ-विलकुल भी ध्यान न करता हुआ अपने ही आत्ममदकी तरंगोंमें कल्लोल कर रहा है। इसका यह स्वांग इसको सिद्ध भगवानसे भेट करा रहा है। यह उन्मत्त न सिद्धोंको नमस्कार करता है न अरहन्तोंकी स्तुति करता है न आचार्य उपाध्याय साधुका गुण गाता

है न इनमेंसे किसीकी कोई प्रकारसे पूजा करता है। इसकी आश्चर्यकारक दशा है। यह आत्मानंदके नशेमें अपनेको ही सबसे महान सुखका निधान, परम ज्ञानवान, तथा परमपवित्र मान रहा है। इन मानका विकल्प न करते हुए भी ऐसी मान्यतामें इतना गुप्त है कि इसके मनमें कोई विचार होता ही नहीं। इस मतवालेको कोई उठाकर फेंक दें, कोई मनोहर आभूषण व वस्त्रोंसे सज दें, कोई शस्त्रोंसे घायल करे तौभी इसकी मदता नहीं जाती। इसकी उन्मत्ततामें विकृति नहीं होती। वास्तवमें यह एक परम अभेद्य शांत रसमई दुर्गमें पहुंच गया है जहां कोई इसका कुछ भी वाल बांका नहीं कर सक्ता। धन्य है इस मतवालेका स्वांग जो सबके लिये दर्शनीय है परन्तु वह किसीको नहीं देखता—यही अपूर्वता परमानन्दका बीज है।

३२४—अद्भुत नदी।

एक भवभ्रमणसे थका हुआ व्यक्ति अत्यन्त त्रासको प्राप्त हो सर्व परद्रव्योंकी शरणमें जाकर भी अशरण होता हुआ तथा भवके जन्म मरण वियोग व विषयतृष्णाके महान क्लेशोंसे व्याकुल होता हुआ अपनी दाहकी शांतिके लिये यकायक आत्मानुभूति रूपी नदीमें पहुंच जाता है जहां समताका महा सुन्दर व मिष्ठ जल वहता है जिसमें ज्ञानमई तरंगें उठ रही हैं। इस नदीके जलके स्पर्श होते ही संपूर्ण आपत्तियोंसे मुक्त होकर एक अतींद्रिय आनन्दका स्वाद पाता है जिसका अनुभव इंद्रियाशक्त प्राणियोंको कभी नहीं होता है। इस नदीमें नोकर्म व द्रव्य कर्म रूपी कंकड़ पत्थर व वालुका नहीं हैं न इसमें रागद्वेषादि भाव कर्मोंका मल है।

इस जलमें परम स्वच्छता है जिस स्वच्छतामें पदार्थोंके स्वभाव जैसे है तैसे दिख रहे हैं। इस आत्मानुभूति रूपी नदीमें गोता लगाते हुए प्राणी सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित अत्यन्त निश्चल दशाको प्राप्त होता है जहां नय, प्रमाण, निक्षेप आदिके कुछ विसं-वाद नहीं हैं। इस नदीका स्नान आत्माकी शुद्धताका कारण है। यह नदी इसलिये अद्भुत है कि इसमें जल न कहींसे आता है न इसमेंसे कहीं जाता है न कम व बढ़ होता है। तरगें भले ही हों पर इसका एक अंश भी कभी नही सूखता। इस अनादि अनंत परम स्वाधीन नदीका विहारी सदा ही निर्मल रहता हुआ और सुखशांतिको भोगता हुआ परम तृप्त रहता है।

३२५--परमतत्त्व।

ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई परम निरजन शुद्धात्माका भावज्ञान ही परम तत्त्व है। जहां सर्व कल्लोल मालाएं विदा होजाती है और उपयोग आप ही अपनी मूल भूमिकामें थम जाता है वही परम तत्त्वका दर्शन होजाता है। परमतत्त्व मै हू—मेरेमें परमतत्त्व है ऐसा विकल्प जहां नही रहता है। विकल्प करनेवाला ही विलय हो जाता है वहीं परमतत्त्व झलकता है। जिस परमतत्त्वकी ज्योतिमें स्वआत्माके सिवाय अन्य अनेक विकारी तथा अविकारी पदार्थ झल-कते हैं तौभी किसी तरहके रागादि विकारको नहीं उत्पन्न कर सक्ते हैं वही परमतत्त्व है। परमतत्त्व जातिकी अपेक्षा एक होनेपर भी व्यक्तिपनेकी अपेक्षा अनंत आत्माओंमें अनन्त है—जहां एक व अनेकका विकल्प न होकर सामान्य परमतत्त्वका झलकाव है वह परमतत्त्व है। स्याद्वाद नयकी अनेक कल्पनाएँ पदार्थको अनेक रूप

भिन्न२ दृष्टिसे दिखलाती हैं। जहांतक ये सब कल्पनाजाल हैं वहांतक परमतत्त्व हाथमें नहीं आता। जहां उपयोग इन सब कल्पना-जालोंको फेंककर एक सामान्य चिद् स्वभावमें जम जाता है वहीं परमतत्त्व है। जहां परका ग्रहण तथा निजका त्याग नहीं होता किन्तु अपना सत्य अपने पास वंट जाता है—अपने सर्व सत्वका प्रभुत्त्व होकर भी जहांपर प्रभुत्त्वका अहंकार नहीं है किंतु वीत-रागता और साम्यभाव है वहीं परमतत्त्व है। परमतत्त्व एक अति मनोहर और अत्यन्त सार वस्तु है। इसका वस्तुत्व निरंतर स्वा-त्मानंदका भोग है। जहां अतींद्रिय आनन्दके सिवाय आनन्दका नाम नहीं है वहीं परमतत्त्व है।

३२६—एक कतरनी।

बहुत दिनोंके प्रयासके पीछे श्रीगुरुके अनुग्रहसे एक भव्या-त्माके हाथमें एक कतरनी आगई है जिससे वह भव्य उन मलीन कार्मिक बन्धनोंको आत्मासे छुड़ाता हुआ आत्माकी स्वच्छता कर रहा है जिनका सम्बन्ध अनादिकालसे होरहा था। वह कतरनी एक स्वानुभवमई ज्योति है जिसमें संकल्प विकल्पोंका अभाव है। इस कतरनीमें ऐसी तीक्ष्ण धारा है कि यह आत्मा और अनात्माकी मिली हुई सूक्ष्म संधिके ऊपर पड़ती हुई आत्माको अनात्मासे एक-दम भिन्न कर देती है। ज्ञानमई ही कतरनी है, ज्ञानमई ही हाथ है जो कतरनीको पकड़ता है, ज्ञानमई ही उपयोग इसका प्रयोग करता है। वीतरागता मिश्रित ज्ञानमई कतरनीका उपयोग होते हुए कुछ भी प्रयास नहीं मालूम होता है। उसके प्रयोगके समय मन, वचन, कायके व्यापार अलग रह जाते हैं। चैतन्य अपनी

पूर्ण शक्ति इसी कतरनीके व्यवहारमें लगा देता है। मैं बन्धोंको काटूं—उस बन्धके काटनेके लिये मैं कतरनी व्यवहार करूँ, बन्ध कटते हैं ये सब विचार उस कतरनीके व्यवहारके समय नहीं होते हैं। सच पूछो तो आत्मा उस समय आत्मारूप ही रह जाता है। आत्माको आत्माके सिवाय कुछ नहीं दिखता। गुणगुणी द्रव्य पर्यायके सर्व विकल्प मिट जाते हैं। आत्मा एक एकाकी अपनी ही शुद्ध परिणतिमें रमण करता है। यही कतरनी है, यही कतर-नीका प्रयोग है। यही परको काट आपको आपमय रखनेकी क्रिया है।

३२७-ज्ञान सरोवर।

एक ज्ञानी निरन्तर ज्ञान सरोवरमें मग्न होकर अपने आत्म प्रदेशोंको सुख शांतिसे भरपुर करके जो वर्तन कर रहा है उसका कथन किसी तरह नहीं होसक्ता। इस ज्ञान सरोवरमें स्वात्मानुभूति रूपी जल है जिसमें अपूर्व तरंगे नित्य उठकर ज्ञानीको आल्हा-दित कररही हैं। इस सरोवरकी मर्यादा नहीं है। इसकी स्वच्छ-तामें अनन्त पदार्थ विना किसी क्रमसे एक साथ झलकते हैं तौभी कोई विकार नहीं पैदा करते हैं। इस सरोवरमें संकल्प विकल्परूप मीने नहीं हैं न यहा क्रोधादि मच्छोंका संचार है। गुणस्थानमें मिथ्यात्व सासादन आदि भेद भी यहां नहीं हैं। शुद्ध सरोवरमें मग्न होना सर्व संकटोसे जीवको पृथक् रखता है। ज्ञान सरोवरमें जो रमता है वही रत्नत्रयका स्वामी है, वही सर्व आकुलताका नाशक है, वही शुद्ध स्वभावका प्रकाशक है। समता नदीके समान सम-ताका द्योतक यह सरोवर है जहां ममता मोहकी कालिमाका नाम-तक नहीं है। इस सरोवरकी शोभा ही निराली है। अनंतगुण

रूपी कमल यत्रतत्र विकसित हो अपनी प्रभा एक दूसरेपर विस्तार रहे हैं । तटोपर मनोहर भावरूपी सीढ़ियां हैं, इन्हीं शुद्धताकी निकटवर्ती सीढ़ियोंके द्वारा इस ज्ञान सरोवरमें गमन होता है । अनेक शुद्ध पदार्थरूपी वृक्ष सरोवरके तटोंपर शोभित अपनी झलक ज्ञान सरोवरमें दिखा रहे हैं । जो इस ज्ञान सरोवरके रुचिवान हैं वे ही सम्यग्दृष्टी ज्ञानवान हैं और वे ही भव भयसे अतीत हो सदा आनन्दमें काल व्यतीत करते है ।

३२८--निर्मल जलावगाहन.

मैं आज सर्व द्वन्द्वोंसे हटकर निज घटके भीतर भरे हुए निर्मल ज्ञान–जलमें अवगाहन करता हुआ व उस ज्ञानके विषयरूप ज्ञेयकी अनन्तताका अनुभव करता हुआ जो संतोष प्राप्त कर रहा हूं उसका वर्णन नही हो सक्ता । यहां ज्ञान जल अथाह है, परन्तु इसमें कोई रागद्वेष मोहकी कालिमा नहीं है, न इच्छारूपी मीनें ही यहां कल्लोल करती हैं । निर्मल स्फटिक समान जलमें जो वीतरागतारूपी शीतलता है उसके द्वारा जो सुख अवगाहन होनेवाले व्यक्तिको मिलता है वह सुख इंद्रियजन्य सुखसे अत्यंत विलक्षण है । इस जलमें उत्पाद व्ययरूप तरंगे उठा करती हैं तथापि जल न कमती होता है न बढ़ता है और न अपनी अमिट मर्यादाको त्यागता है । यद्यपि जिस आत्माके प्रदेश रूप क्षेत्रमें यह अथाह जल है वह नियमित है, परिमित है तथापि जलकी अनन्तता सर्वज्ञ गम्य ही है । एक समयमें सर्व ज्ञेयोंको जानता हुआ और निर्विकारी रहता हुआ यह आत्मप्रभु अपनी अपूर्व महिमाको विस्तारकर सिद्ध थलमें ही मानों वास कर रहा है ।

३२९–ऐक्यकी तरंग.

इस जगतमें अनैक्यकी कलुषता रागद्वेषका बीज है। जो भव्यात्मा इस कलुषतासे बचकर वीतरागताके आंगनमें कल्लोल करना चाहते है वे भेदभावको मेटकर शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें आजाते है और तब सर्व स्थानोंमें शुद्ध आत्माके स्वभावोंको एक समान देखकर अद्भुत ऐक्यभावका लाभकर उमीकी निर्मल तरगोंका विलास करते हुए परमानन्दका भोग करते हैं। ऐक्यकी तरगमें मेरा तेरा नहीं रहता है, समताकी शोभा अद्भुत तरंग दिखाती है। पाप पुण्यके व उसके फल सुख दुःखके सर्व विकल्प स्वाहा होजाते हैं। निर्विकल्प और परमशांत अवस्थाका दृश्य छ जाता है। भले ही स्याद्वाद नय उसको बतलावे कि आत्मा नित्य भी है अनित्य भी है, एक भी है अनेक भी है, सत् भी है असत भी है, शून्य भी है अशून्य भी है तथापि तत्वज्ञानीके भीतर ये सब विचार बंद होजाते हैं और वह बिलकुल अविचार होकर अपनी सत्तामें आप ही तन्मय होजाता है। इसी तन्मयतामें रत्नत्रयका ऐक्य है। इसी ऐक्यमें अद्भुत तरंगावली है। जो बिलकुल शुद्ध और पूर्ण स्वरूप है इसीका स्वाद लेकर मग्न रहना ऐक्यकी तरंगका लाभ लेना है।

३३०–संसाररनाशक वटी.

एक परम हितैषी ज्ञानी वैद्यकी कृपासे एक अनादि कालके संसार-रोगीको संसार रोग नाशक परम पुष्टिकारक, परममिष्ट, परमकोमल, परमानंदकारक और परम सुन्दर रत्नत्रयमई वटी प्राप्त होजाती है इस वटीको स्वानुभूति कहते हैं। जो परम रुचिसे इस

वटीका सेवन करते हैं उनका कर्म रोग नष्ट होता चला जाता है तथा निजस्वरूप सन्मुख होता है। इस वटीका सेवन करनेवाला इस बातको बिलकुल भूल जाता है कि सेवनेवाला कौन है व किसका मैं सेवन कर रहा हूं। संकल्प विकल्पके कोई जाल बुद्धिमें नहीं रहते हैं। जैसे पवनसंचार रहित समुद्र निश्चल रहता है वैसे राग-द्वेषरूपी पवनके संचार विना ज्ञानीका उपयोग निश्चल रहता है। इस वटीके प्रभावसे सम्पूर्ण चेतन अंग आनन्दकी वासनासे वासित होजाता है। वटीसेवककी दृष्टिमें सर्व जगतके पदार्थ भिन्न२ अपने२ स्वरूपमें दिखते हैं। पुद्गल, जीव, धर्म, अधर्म, काल, आकाश सब अपने२ स्वभावमें कल्लोल करते हुए व अपनी परिणतिमें आप ही परिणमन करते हुए मालूम पडते हैं। कोई पदार्थ किसीसे शत्रुता न रखता हुआ किन्तु मित्रत्व रखता हुआ झलकता है—सबमें एकता और प्रेम नजर आता है। इसी कारण समताका क्षीर सागर चहुओर झलकता हुआ ज्ञानीको जो सुख शांतिका अनुभव आता है उसका वर्णन ही असंभव है।

३२१--सिद्धान्तका रहस्य।

शब्द भंडार सिद्धातसे काम नहीं निकलता, क्योंकि वह पौद्गलिक जड़ है, उसीका रहस्य आत्मानंदका पान है। जो इस अमृतको पीते हैं वे सदा ही आह्लादित, संतुष्ट तथा तृप्त रहते हैं। इस अमृतकी प्राप्ति अपने ही आत्माके सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्रमई—रत्नत्रयमई विभूतिके दर्शन तथा भोगसे होती है। जिस समय कोई महात्मा इस अमृतका पान करता है उस समय वह सर्व संकल्प विकल्पोंसे शून्य होकर निर्विकल्प आत्मसमाधिमें लय हो

जाता है। यद्यपि लोकमें छः द्रव्योंकी सत्ता है तथापि उस ध्याताके ध्यानमें सिवाय आपके और कोई दृष्टिगोचर नहीं होता है। सच पूछो तो वहां आप भी अपनेको नहीं दिखता है। वहां तो एक अपूर्व आनन्दका मद चढ़ जाता है जिसमें वेहोश हो वह सब कुछ भूल जाता है। इस तरह जो सिद्धांतका रहस्य लेता है वही सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, श्रुतकेवली, केवली तथा सिद्धसम है। उसकी आत्मामें ज्ञान वैराग्य रसकी तरगें अद्भुत उत्सव उत्पन्न करती हुई स्वतंत्रता और शुद्धताकी सीमाकी तरफ लेजाती हैं।

३३२-ज्ञानकी खड्ग.

एक वीर आत्मा अनादिकालके पीछे पड़े हुए कर्मशत्रुओंसे त्रासित होकर उनके संहार करनेका दृढ़ निश्चय करके भेद ज्ञानकी तीक्ष्ण खड्ग उठाता है और उन शत्रुओंके सामने उस खड्गका ऐसा अभ्यास करता है कि वे शत्रु भय खाकरके उसको छोड़कर चले जाते हैं। तथा उसकी खड्गकी स्मृति ऐसी बलवती होती है कि वे फिर भी आक्रमण करनेका साहस नहीं कर सके तब वह वीर सदाके लिये विजय पताका फहराता हुआ जिन या जिनेन्द्र नामको पाकर अपनी सत्ताको सदा काल स्थिर रखता हुआ अपने परम संतोष तथा आनन्दमें मग्न रहता है। यह भेदविज्ञान-खड्ग सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र ऐसे तीन मसालोंसे बनाई जाती है। इसकी चमक स्वानुभूतिकी ज्योतिसे चमकती हुई परद्रव्योंको दूर रखती है। तथा स्वद्रव्यकी खूबियोंको इस तरह झलकाती है कि आनन्द गुण जो चिरकालसे अप्रगट था यकायक प्रगट होजाता है। यह आनंद ही एक अपूर्व रस है जिसके रसमें यह वीरात्मा

भ्रमरकी तरह लुब्धायमान होता हुआ अपने मरण जीवन आदिकी कुछ भी चिंता न करता हुआ तन्मय होकर पड़ा हुआ मोक्ष और मोक्षमार्गके रूपको दिखाता है ।

३३२–परम अद्भुत मंत्र.

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा अपने सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर एक ऐसे परम अद्‌भुत मंत्रको जानता है कि जिसमें न कोई शब्द है न उसका उच्चारण हो सक्ता है न मनसे ही उसका मनन हो सक्ता है। उसकी परिणति मन वचन कायके परिणमनसे निराली है । उस मंत्रको **स्वानुभव** कहते है । इस मंत्रके शांतमय प्रयोगसे स्वयं कर्मफल झड़ जाते हैं और यह आत्मा परम शुद्धताको प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं वह मंत्र एक अद्‌भुत अतींद्रिय आनन्द भी प्रदान करता है । इसी मंत्रने मिथ्यात्वीको सम्यक्त्वी, श्रावक, मुनि, केवली तथा सिद्धपदमें पहुंचा दिया है। सिद्ध सबसे अंतिम पदमें पहुचकर भी इस मंत्रका शरण नहीं त्यागते हैं । वे भी निरंतर इसी मंत्रके प्रभावसे अपने स्वभावमें रमते हुए ज्ञानानंदका विलास करते हैं । **स्वानुभव** मंत्रकी महिमा अगाध है । इसी मंत्रकी छाप पड़नेसे ही जैन सिद्धांतमे णमोकार मंत्रकी अद्‌भुत महिमा कह दी गई है । जो इस मंत्रको जानते हैं उनका नरकवास भी अच्छा है । स्वर्ग व अहमिंद्रपद इस मंत्रके विना निरर्थक हैं । मै आज सर्व अन्य तंत्रों मंत्रोंको छोड़कर इसी स्वानुभव रूप मंत्रका प्रयोग करता हुवा निश्चय धर्मका धर्मी होता हुआ मंगलरूप होरहा हूं ।

३३४—सत्य व्रत।

जगतमें यदि कोई सत्यव्रतको पहचानना चाहे तो वह सिवाय अपने स्वरूपके कहीं और पा नही सक्ता—सत्यव्रत उसे ही कहते हैं जिसमें वस्तुका सत्यपना स्थिर रहे—उसमें किसी भी परवस्तुके सम्बन्धसे कोई अवस्तुपना न आजावे। निज आत्मा अनत ज्ञानादि गुणोंका समूह है। उनका अखड समुदाय ही आत्मा है। उसमेंसे न तो कोई गुण अलग होसक्ता है और न कोई गुण उसमें प्रवेश पासक्ता है। अपने भीतर तिष्ठे हुए अगुरुलघु गुणके कारण वस्तुके सत्यव्रतके अखंड पालनमें कोई त्रुटि नहीं आती है। ऐसी दशामें उनका आत्मत्व रहना ही सत्यव्रत है—जो कुछ जैसा वह है वही वह है—यही सत्यता है। वहां रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म व शरीरादि नोकर्मका कहीं भी अवकाश नहीं है, वह निर्मल स्फटिकके समान व निर्मल जलके समान सदा अखंड रूपसे शोभायमान है। उसमें कहीं भी कोई वैभाविक विकार नहीं है। धन्य हैं वे जीव जो इस सत्यव्रतको अखड रूपसे पालते हुए अनतकाल तक मस्त रहते हैं। वे ही सच्ची सामायिकको पाते हुए स्वरूप रमणसे परमानंदका स्वाद लेते रहते हैं और पूर्ण सत्यव्रती कहलाते हैं।

३३५—संसार निषेध।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोसे रहित होकर जब अपने भीतर आपको देखता है तब वहां बिलकुल संसारका निषेध ही मिलता है। वास्तवमें जहां ससार है वहां निश्चयधर्म नहीं है, जहा निश्चयधर्म है वहां संसार कहीं दिखलाई नहीं

पड़ता है। निश्चयधर्म हरएकका हरएकमें है। हरएक अपने धर्मका स्वामी है। आत्माका धर्म आत्मामें है। पुद्गलका धर्म पुद्गलमें है। आकाशका धर्म आकाशमें है। मैं आत्मा हूं—मेरा धर्म मेरेमें है। मेरा धर्म ज्ञानदर्शन चारित्र वीर्य सुख आदि मेरेमें है। मेरेमें अज्ञान, कषाय, विषय आदि संकल्प विकल्प नहीं हैं। मेरेमें संसारका नाम मात्र भी नहीं है। मैं द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव रूप पंच परावर्तनोंसे भिन्न हूं—न मेरेमें कोई नरक तिर्यंच मनुष्य या देवगति ही है—मैं संसारके कारण रागद्वेष मोहसे भिन्न हूं, मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मसे निराला हूं, मैं शरीरादि नो कर्मसे भिन्न हूं, संसारके कारण असंख्यात लोकप्रमाण कषाय स्थान, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये चार प्रत्यय व उनके ही भेद मिथ्यात्वादि अयोग पर्यंत गुणस्थान मेरेमें नहीं हैं—जहां संसार है वहीं मोक्ष है न मेरेमें संसार है, न मोक्ष है। मैं सात तत्वसे निराला एक अनुभव योग्य वस्तु हूं।

२२६—जय लक्ष्मी।

वास्तवमें जयलक्ष्मी उपकारिणी है। इसका लाभ उसीको होता है जो निज स्वभावमें कल्लोल करता हुआ परस्वभावमें किंचित् भी रागद्वेष नहीं करता हुआ क्रोधादि शत्रुओंका प्रवेश नहीं होने देता है वही अष्टकर्म वैरियोंपर विजय प्राप्त कर जयलक्ष्मीसे आलिंगन करता है। इसीको जिन, जिनेन्द्र या परमात्मा कहते हैं। अपना स्वभाव परम शुद्ध ज्ञानान्दमय है यही मनन निश्चय धर्मका मनन है। मेरेमें आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्षके कोई विकल्प नहीं है। न वहां सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान चारित्रके भेद हैं—मैं निर्मल ज्योतिधारी दीपकके समान स्वपरका प्रकाश करनेवाला हूं।

मेरे ज्ञानमें ज्ञेय झलकते हैं परन्तु मुझे विकारी नहीं बना सक्के हैं। मेरी लीला ही अद्भुत है। मै सर्व जगतकी सैर करता हुआ भी वीतरागी हूं। अनादिसे अनन्तकाल तक एक निज स्वभावमें रहना ही मेरा कर्तव्य है। मेरा जगत मेरेमे है। मेरी सम्पत्ति मेरेमें है, मेरा आसन मेरेमें है, मेरा भोजन मेरेमें है, मेरा पान मेरेमें है, मेरी नारी मेरेमें, मेरी शोभा मेरेमें है, मेरा खेल मेरेमें है। सब कुछ मेरा मेरेमें है इसलिये में परम संतोषके साथ आपमें रमण करता हुआ जयलक्ष्मीके प्रतापसे परमानंदित होरहा हूं।

३३७--ज्ञान मार्ग।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित हों जब अपने आपमें देखता है तो वहां एक ज्ञान मार्गको पाता है जिस मार्गमें सिवाय आपके कोई चल नहीं सक्ता है। चलनेवाला चलते२ स्वयं निज स्वभावमें पहुंच जाता है। वास्तवमें साध्यके अनुकूल ही साधन होता है। ज्ञान मार्गमें आत्मा अपने स्वाभाविक गुणोंपर लक्ष्य देता हुआ स्वभावके अतिरिक्त विभावोका बिलकुल भी सन्मान नहीं करता है। उसकी दृष्टिमें निजद्रव्य, क्षेत्र, काल भावके सिवाय पर द्रव्यादिकी भावना नहीं रहती है। वह स्वयं स्वरूपाशक्त होकर अनुभवानन्दके अमृतका पान करता हुआ ऐसा उन्मत्त होजाता है कि उसको सिवाय आपके किसीका भी स्मरण नही रहता है। ज्ञान मार्गमें न श्वासके निरोधका प्रयत्न है न ग्रन्थ पठन है न आसनका बल है न किसी पर द्रव्यका आलम्बन है। आप ही अपने स्वाभाविक बलपर आलम्बन रखता हुआ जो खड़ा होता है वही ज्ञान मार्गका चलनेवाला है। ज्ञान मार्गमें व्यं-

वहारका स्वप्न भी नहीं आता न वहां कोई क्लेश मोह संतापका आविर्भाव होता है। ज्ञान मार्ग सुवर्णमय मार्ग है। यह मोक्षसे कुछ कम नहीं। निर्विकल्प भावके साम्राज्यको ज्ञान मार्ग कहते हैं। यही यथार्थ सुखसाधक है।

२३८—परमात्मसुख।

जब भलेप्रकार विचार किया जाता है तो यही झलकता है कि परमात्मसुख परमात्मामें तो है ही परन्तु अपने इस निज आत्मामें भी है—जैसे वहां आनंदका सागर शांतिमई कल्लोलोंसे लहलहा रहा है वैसे यहां भी विकसित होरहा है। परमात्म सुखकी महिमा अगाध है। इन्द्रियजनित सुख जब पराधीन है तब यह स्वाधीन है। इन्द्रियोंका सुख विघ्नरूप, नष्ट होनेवाला, आकुलताकारी तथा पापबंधका बीज है जब कि अतीन्द्रिय सुख बाधा रहित, अविनाशी, निराकुल और कर्मबंधका नाशक है। जब यह आत्मा आप अपने स्वरूपमें रमता है तब परमात्म सुख सदा ही अनुभवमें आता है। निश्चयसे न मेरेमें संसार है, न मोक्ष है, न बंध है, न आश्रव है, न भावकर्म है और न नोकर्म है। शुद्ध स्फटिकके समान मेरी निर्मल मूर्ति है जिसकी शोभा बचनातीत है। मैं विना किसी संशयके सर्व बाधाओंसे दूर होकर निज अनुभूति तियामे रमण करता हुआ जो कुछ स्वाद पाता हूं वही परमात्म सुख है। यह सुख ज्ञानियोंकी विश्रामभूमि है इसीके प्रतापसे सर्व परशत्रु अपनेसे दूर रहते है। जैसे कमल जलका स्पर्श नहीं कर सक्के वैसे वे ज्ञानी आत्माको स्पर्श नहीं कर सक्के। ज्ञानी सर्व विकारोंसे रहित हो निरंतर उसी परमात्म सुखका ही अनुभव करता है।

३३९--संगति।

जगतमें संगति बहुत भारी असर रखती है। पुद्गलकी सगतिसे ही त्रिलोकीनाथ परम कृतकृत्य ज्ञानानंदमई आत्मा अपने प्रदेशोंमें सकम्प होता हुआ तथा विकारी होता हुआ रागद्वेष मोहके निमित्तसे कर्मोको बाधता हुआ लोकाकाशके मध्यमें चक्कर लगाया करता है और सुख शातिकी कामनासे पर पदार्थोंमें रति करता हुआ उनके वियोगमें दुःखी होता हुआ व इच्छित संयोगकी तृष्णामें फंसा हुआ महा व्याकुल रहता है। इस कुसंगतिको कुसंगति समझते हुए जो अपने अमिट शुद्ध गुणोंकी सगति करते है वे स्वस्वरूपाशक्त होते हुए सर्व तृष्णाके झझटोंसे छूटकर, सर्व आकुलताकी तरंगावलीसे रहित होकर नित्य परम सुख-शातिका भोग करते हैं। मैं शुद्ध, सिद्ध, अविनाशी, ज्ञाता दृष्टा, आनन्दमई, एकरूप, असहाय, निर्मल जल या स्फटिकमणिकी मूर्तिसम स्वच्छ हू—मेरेमें न कोई परगुण द्रव्य पर्याय है न पाकृत नैमित्तिक भाव है। मैं अखंड, अभेद, स्वानुभवगम्य हू। मैंने अपनी ज्ञानानुभूति नारीकी संगति ही उपादेय समझी है। इसलिये इस सुखदाई सगतिमें रहता हुआ मैं आनन्दामृतका स्वाद लेता हू और परम समाधिमें मौन रहकर जिसकी संगति की है उससे ऐसा एकमेक होजाता हूं कि पूर्ण अद्वैत भावमें प्राप्त होजाता हूं। यही निश्चयधर्मका आरोहण है।

३४०--संत-समागम।

वास्तवमें संतसमागम बहुत ही अपूर्व वस्तु है। जिनको यह समागम निरतर प्राप्त है वे बड़े ही भाग्यशाली जीव हैं। मैं जब अपनी ओर दृष्टिपात करता हूं तो अपने भीतर बड़ा ही अपूर्व

अमिट संतसमागम पाता हूं। मेरे अनंत ज्ञानादि गुणरूपी संतोंमें परम वैराग्यकी छटा झलक रही है। इन गुणरूपी संतोंने परस्पर ऐसी एकताकर रक्खी है कि वे सब मेरी भूमिकामें बड़े मेलसे रहते हुए मेरे स्वराज्यको परम स्वतंत्र व सुखदाई किये हुए हैं। यहां कोई विरोध व कोई उपाधि नहीं है। साम्यभाव बड़ी ही शांतिसे झलक रहा है। ऐसे संत समागमका लाभ लेता हुआ मैं त्रिलोकज्ञ व त्रिकालज्ञ होता हुआ भी किंचित् भी खेदको नहीं प्राप्त कररहा हूं। वास्तवमें मेरा कोई प्रयास स्वपरके जाननेका नहीं है। मेरा स्वभाव ही ऐसा अपूर्व है कि जिसमें स्वपर सब एक साथ जैसेके तैसे झलकते है परन्तु वे कोई दृश्य मेरी वीतराग विज्ञानमई भूमिकाको मलीन नहीं कर सक्ते हैं। ऐसे समागममें मैं परम तृप्त होता हुआ अपनी अनुभूतितियाके रमणसे जो आनंद प्राप्त कररहा हूं वह अकथनीय है।

३४१--परमप्रेम।

एक ज्ञानी आत्मा अपनी सर्व शक्तिको उपयोगमें लाकर अपने ही प्रदेशमें विराजित आत्मदेवका दर्शन, पूजन, मनन करता हुआ जिस उत्कृष्ट प्रेमको दर्शा रहा है उसका कथन किसी भी तरह नहीं होसक्ता है। इस परम प्रेममें द्वेषभाव नही झलकता है। यहा सब तरहसे एकाकार अद्वैत सामान्यभाव निर्विकल्प भावका ही दर्शाव है। अपूर्व, अतींद्रिय और परम शांत आनन्दका अटूट श्रोत यहांपर वह रहा है। यह आत्मा इसी श्रोतके अमृतमई जलमें नित्य स्नान करता है और नित्य इसी हीका पान करता है। इस जलमें जो मिष्टता व पुष्टता है उसके प्रतापसे किसी भी तृष्णा व

क्रोधादि कषायके अंशका यहां टिकाव नहीं है। परम कृतकृत्यता और तृप्तिको पाता हुआ यह ज्ञानी आत्मा अपनी आभामें परम सौन्दर्य व परम गंभीरभावको दिखला रहा है। इसको परमात्मा कहो, परमेश्वर कहो, विष्णु कहो, महेश कहो, बुद्ध कहो, ब्रह्म कहो, पुरुषोत्तम कहो, शंकर कहो, जिनेन्द्र कहो, सार्व कहो, आप्त कहो, गणेश कहो, सर्वज्ञ कहो, वीतराग कहो, सत् कहो, चित् कहो, आनन्द कहो, एक कहो, अनेक कहो, नित्य कहो, अनित्य कहो, भोक्ता कहो, ज्ञाता कहो, ज्ञेय कहो, प्रतिमा कहो, मंदिर कहो, तीर्थ कहो तीर्थंकर कहो, जो कुछ कहो वह कथनमात्र है। निश्चयसे यह तो मात्र अनुभवगोचर है।

३४२-मोह महातम.

किसी व्यक्तिने कहा कि मोह महातम तुम्हारे भीतर छाया हुआ है इससे इसको दूर करना चाहिये। उनकी इस बातको सुनकर मैं जो अपने भीतर ध्यानसे देखने लगा तो कहीं भी इसका पता मुझको नहीं मिला। मैंने अपने ही साथ बैठने उठनेवाले पुद्गलके भीतर देखा तो वहां भी इसका पता न चला। मेरी संगतिमें उदासीन भावसे रहनेवाले धर्म, अधर्म, काल, आकाशमें देखा तो वहां भी इसको न पाया तब मैंने अपने ही आत्मामे इसको तलाश किया तो वहां भी यह न मिला। वहां तो परमज्ञान प्रकाश अपनी प्यारी वीतरागता और आनन्द मगनताके साथ व परम शुद्धताके साथ झलक रहा है। न कहीं मोह है, न कषाय है, न कोई विकार है-शुद्ध स्फटिकमणिके समान परम स्वच्छताके सिवाय वहां कोई भी दोष कहीं नहीं दिखलाई दिया। धन्य है मेरी ज्ञानदृष्टि

जहां सर्व पदार्थ अपने अपने स्वाभाविक रसमें मग्न होते हुए ही दिखलाई पडते हैं। न कोई किसीको कष्ट देता मालूम पड़ता है न कोई किसीको प्यार करता मालूम पड़ता है। साम्यभावका जो अपूर्व दृश्य है वह सर्वत्र झलक रहा है। इसीलिये मैं मोहादिका नाम भी न लेता हुआ अपनी शुद्ध चैतन्य परिणतिमें कल्लोल करता हुआ स्वानुभवका आनन्द ले रहा हूं।

३४३--शांत छवि।

जगतमें यदि कोई परमशांत छविका दर्शन करना चाहे तो उसको अपनी ही भूमिकामें देखना चाहिये। जिस समय परपदार्थोंसे रागद्वेष त्यागकर वह अपने ही भीतर देखेगा तो उसको ऐसी शांत छवि दिखलाई देगी कि जिसके मुकाबलेकी कोई छवि और कहीं नहीं मिल सक्ती है। वह छवि अकृत्रिम, अमिट, अनादि, अनंत, परम शौम्य चैतन्य धातुकी मूर्ति सर्वज्ञ व सर्वदर्शीपनेकी महान शोभाको रखनेवाली है। उस मूर्तिको सिद्ध परमात्मा, परमानंदी, परमेश्वर, परम कृतकृत्य, परम सार, परम अनुपम, परम गंभीर, परम धीर व परम अमल कहते हैं। वास्तवमें उसका कोई नाम नहीं है न उसमें कोई स्पर्श रस गंध वर्ण है। वह परम प्रतापमय कोटि सूर्यकी दीप्तिसे भी अधिक दीप्तिमान है। उस छविका जो दृष्टा है वही वह छवि है—दृष्टा दृश्य एक ही है। मैंने अपनेको जाना ऐसा कहना जैसे व्यवहार है, वैसे मैंने अपनेमें ही परमशांत छविको देखा यह कहना व्यवहार है। वास्तवमें जो आप ही शांतिमई छविका स्वामी है वही शांत छवि है। जो इसका दर्शन करते वे परमानंदको भोगकर परमसुखी रहते हैं।

३४४--दर्शनविशुद्धि।

वास्तवमें दर्शनविशुद्धि एक अपूर्व रत्न है। जिसके मुकुटमें यह शोभायमान है उसकी महिमा वचन अगोचर है। उसको यह जगत एक नाट्यशाला दिखती है। पुद्गल और जीवके सम्बन्धसे खेल होरहे है तौभी उस ज्ञाताको पुद्गल पुद्गलरूप और जीव जीव-रूप नजर आता है। सर्व जीवोंकी समानता उसको समतासागरमें डुबा देती है। उसके हृदयमंदिरमें रागद्वेषादि विकारोंका पता नही चलता। वहां तो एक आत्मारूपी देव अपनी अद्भुत शानसे विराजित सर्व ज्योतियोंको मद करता हुआ यहांतक कि अरहंतके परमौदारिक पुद्गलमई शरीरकी आभाको भी लज्जित करता हुआ विराजमान है। जिस ज्योतिमें स्वपर प्रकाशता तो है परन्तु कोई चिन्ता या आकुलता नहीं है। इस मनोहर आत्ममूर्तिको कोई बना नही सक्ता न कोई इसे बिगाड़ सक्ता है। यह अव्याबाध, अनु-पम, परम विशाल, परम सुखरूप व परमसार है। इसके हरएक प्रदेशसे आनन्दामृतकी वौछारें सदा निकला करती है। जो तत्व-ज्ञानी इस आत्मादेवकी सेवा करता है उसे निरंतर अमृतका पान प्राप्त होता है। वह सदा इसकी शांत वौछारोंसे अपने गात्रको पवित्र करता हुआ परम संतोष और परम शांतिको पाया करता है।

३४५--धर्म।

लोग कहते हैं कि इस जगतमें कोई एक ऐसा मित्र है जो विना किसी स्वार्थके-दुखियोका दुःख निवारण करके उनको परम सुखके स्थानपर पहुंचा देता है। मैं बड़े प्रेमसे ऐसे परमोपकारी

मित्रको ढूंढ़ने लगा । तीन लोकके भीतर सब ही जीवोंको सब ही पुद्गलके स्कंध और परमाणुओंको तथा आकाशादि द्रव्योंको देखते२ फिरा परन्तु कहींपर उस धर्मको नहीं पासका जो मेरे सब संकटों और क्षोभोंको मेटके मुझे परमामृतका पान करा सके । मैं सब जगह देखते२ हार गया तब मैंने अपने भीतर देखना शुरू किया कि शायद वह मित्र मेरे ही पास हो । व्यवहारकी दृष्टिको गौणकर जब निश्चय दृष्टिसे देखने लगा तो मैंने अपने ही पास उस धर्मका पता पालिया जो मेरा परम उपकारी है। ऐसे दुःखहारक सुखकारक मित्रको पाकर कौन ऐसा व्यक्ति है जो सुखमें मग्न न हो । अब मैंने निश्चय कर लिया है कि जिसकी तलाशमें अनादिकालसे था उसको अब पा लिया है तब मैं कभी भी उस धर्मकी आराधना नहीं छोडूंगा । सर्व कामोंको बंदकर एक इसो ही कार्यको मुख्य मानकर वर्तन करूँगा । मेरा धर्मरूपी मित्र मेरे ही आत्माका स्वभाव है जो अभेदरूप ज्ञायक मात्र है । यद्यपि उसमें वीतरागता, आनन्द और अद्भुत बलवानपना आदि शक्तियां निमग्न हो रही हैं तथापि ज्ञाताद्दष्टाको वह एक रूप ही दिखता है । मैं इस साम्यरूप धर्मकी छायामें विश्राम करता हुआ सर्व विकल्पोंसे, चिंताओंसे, रागद्वेषादि कषायोंसे व विषयवासनाओंसे मुक्त होकर परम निराकुल और अद्भुत आनन्दसागरमें निमग्न होकर परमामृतका पान करते हुए परम संतोषी होरहा हूं ।

२४६–उत्तम क्षमावाणी।

परम ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे शून्य होकर जब अपनी सत्तामें देखता है । तो वहां एक अपूर्व स्वभाव नजर आता

है जिसमें हर प्रदेशमें उत्तम क्षमाका ही झलकाव है। यहां क्रोध, मान, माया, लोभका कहीं भी कोई चिन्ह नहीं मालूम होता है। हरएक प्रदेशमें समताभाव अपनी परम शोभाको विस्तार रहा है। और ऐसा अपूर्व भाव है जिसमें यही मालूम होता है कि न वहां पहले कभी कोई द्वेष था न अब है, न वहां पहले कभी राग था न अब है। त्रिकाल साम्यभाव परम आनन्दकी विलासितासे चमकता हुआ ऐसा वीरत्व प्रगट कर रहा है कि वहां किसीकी शक्ति नहीं है जो किंचित् भी कोई विकार पैदा कर सके। इस उत्तम क्षमामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्रका ऐसा एकतामई प्रभाव है जिससे वहां कोई आस्रवादि तत्त्व नहीं प्रगट होते हैं। आश्चर्य तो यही है कि वहां मोक्ष तत्त्व भी नही है। यदि कोई ऐसा चाहे कि मैं यहां भिन्न२ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्रका दर्शन कर सकू तो वह इस उद्यममें सफलीभूत नहीं होसक्ता, क्योंकि ये तीनों भिन्न२ नहीं पाए जाते हैं। इन तीनोंकी ऐसी एकता है कि इनका भिन्न२ पहचानना बडी भारी बुद्धिमानीका काम है। भेद-विज्ञानकी दृष्टिसे इनका भेदभाव दिख सके तो दिख सके। अभेद भावमें क्या झलकता है सो सब वचन अगोचर है। मैं इस उत्तम-क्षमामें ही आशक्त होता हुआ निश्चलताके साथ निज क्षमावणीकी परिणतिमें विलाप करता हुआ परमसुखका भोग कर रहा हूं।

३४७-परमानन्द सागर।

ज्ञातादृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित होकर जब निश्चिन्त बैठता है तो यकायक वह एक परमानन्दके समुद्रमें डूब जाता है—उस स्थानमें जो शांतिलाभ करता है उसका

वर्णन कोई नहीं कर सक्ता है। वह एक ऐसा आनन्द है जिसकी तुलना किसी भी सांसारिक सुखसे नहीं होसक्ती है। बड़े २ इन्द्रादिक देव व चक्रवर्ती अनेक इंद्रियोंके भोगोंसे जो सुख लब्ध करते हैं वह सुख वास्तवमें सुखाभास है—दुःखरूप है—आकुलतामय है। उस सुखसे कभी भी किसी जीवको तृप्ति नहीं होसक्ती है। इसीलिये तीर्थंकर चक्री बलदेव समान महापुरुष इस क्षणिक अतृप्तिकारी सुखकी चेष्टा छोड़कर उसी निराकुल आनन्दका ही सेवन करते हैं जो हरएक आत्माके पास है व हरएक आत्माका स्वभाव है। आत्मा स्वभावसे सुख समुद्र है—जिन्होंने अपने पदमें अपना स्थान बनाया है उन्होंने ही निज सुखका लाभ पाया है। जो इस सुखामृतका पान करने लगते है उनकी चेष्टा सर्व अन्य ज्ञेयोंसे हटकर एक निज आत्म ज्ञेयकी ही तरफ झुक जाती है क्योंकि जो वस्तु जहां है वहांसे उसका लाभ हो सक्ता है। निज स्वभावका विश्वास, ज्ञान व उसीमें तन्मयता उस आनन्दको झलकाती है, जो गुप्त होनेपर भी भेद विज्ञानीको अच्छी तरह प्रगट होजाता है। बड़े २ योगी जिसके लिये घोर प्रयत्न करते हैं वह वस्तु बिलकुल सहजसाध्य है। जो अपने स्वभावको पहचानते है वे ही निजानंदका भोग करते है इसलिये मैं सर्व प्रपंच छोड़कर एक निज समुद्रमें ही कल्लोल करता हूं।

२४८--वीतराग छवि।

जगतमें बहुतसे छविदार पदार्थ हैं—परंतु यदि कोई यह कहे कि सबसे बढ़िया छवि किसकी है तब उसको यही कहना होगा कि वह परम मोहिनी इस आत्माकी वीतराग छवि है जिसमें कोई

तरहके विकार नहीं है। इस वीतराग छबिके दर्शनसे जो आनन्द होता है उसका कथन वचनगोचर नहीं किन्तु मात्र अनुभवगोचर है। जो अपने ही आत्माकी वीतराग छबिको देखता है वह देखते देखते उस छबिके साथ ऐसा मिल जाता है कि वहां फिर दृष्टा और दृश्यमें द्वैतभाव नही रहता है। जहां ऐसी अद्वैतता होजाती है वहां ही स्वानुभवका रस उछलता है और वहां ही परमानन्द स्वादमें आता है। इस वीतराग छबिमें मोही होकर ही प्रत्येक साधु स्वपदपर डॅटे रहते है। यही उपासकोंका लक्ष्यबिंदु है। सिद्ध भगवान भी इसी छबिके धारी हैं। मैं तो यह समझता हूं कि सर्व जगतके आत्माओंकी छवि ही ऐसी है। जो ऐसी ही छबिको देखता जानता है वही समताके आसनपर बैठ जाता है। उसे फिर यह जगत चेतनासागर ही मालूम होता है। सुखशांतिके सिवाय कही कोई वस्तु नहीं दिखती है।

३४९—सन्त समागम।

ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई आत्मा सर्व विचारोंसे रहित होकर आत्म विचार करनेके लिये जब उद्यम करता है तो उसको राग-द्वेषादि कषायोंकी संगति आनकर विघ्नकारक होजाती है। इससे वह ऐसा चाहता है कि उसको संतोंका समागम रहे कि जिसमें कोई भी असंत व्यक्ति उसके परिणमनमें विघ्नकारक न हो। उन संतोंको जब ढूढ़ने लगा तब अपनी आत्म भूमिकामें ही उन संतोंका दर्शन पाकर प्रसन्नचित्त होगया। जब गौरकर देखता है तो अपने भीतर वहुतसे गुणरूपी संत बड़ी शांतिसे तपस्या तथा ध्यान कर रहे हैं। वे गुण रूपी संत चेतना गुण, सम्यक्त्व गुण, चारित्रगुण,

आनन्दगुण, आत्म वीर्य गुण आदि हैं तथा अस्तित्व वस्तुत्व आदि सामान्य गुण भी हैं। ये सब गुण परम एकताके साथ और परम शांतिके साथ कल्लोल कर रहे हैं। जो उपयोगवान जीव अपने गुणोंकी सैर करनेमें उययुक्त होजाता है वह ऐसे संतोंका समागम प्राप्त करता है जिनकी संगति अनंत कालतक छूटनेकी नहीं है। वास्तवमें ये ही आत्मगुण आत्माके सच्चे सेवक हैं वे कभी भी आत्माकी संगतिको नहीं छोड़ते है। जो इन गुण रूप संतोंकी संगति करता है वह धीरे धीरे इनकी संगतिसे ही ऐसी एक एकताकी दशाको पहुंच जाता है कि जहां सिवाय आप आपके और कुछ भी नजर नहीं आता है तब वहां सर्व संतोंकी संगतिका एक अपूर्व रस आजाता है जिसको भोगता हुआ परम तृप्त होकर स्वात्मानंदका स्वाद लेता रहता है।

३५०--परम योग।

परम प्रतापी श्री महावीर परमात्माने जिस परम योगसे श्री महावीर नाम पाया वह एक अपूर्व साधन है। इस परम योगमें एक ही द्रव्य है, उसहीके गुण है और उसहीकी पर्यायें हैं। इसमें दो द्रव्योंका स्थान नहीं है। यह एक द्रव्य भी सर्व परकृत विकारोंसे रहित परम शुद्ध ज्ञानानंदमय है। उसमें कोई एक ऐसा ज्ञान और आनंदका समुद्र है कि जिसके जलका पान एक आत्मा निरंतर अनंतकाल भी करता रहे तो भी उसमें एक बूंदमात्र भी ह्रास नही होता है। इस योगको स्वात्मानुभव कहते हैं। यही एक शुद्ध ज्ञानचेतना है। जो इस परमयोगमें विलास करते हैं उनके लिये यह संसार कुछ भी रागद्वेष मोहका कारण नहीं होता

है। छः द्रव्य अपना नाटक खेल रहे हैं ऐसा दृश्य उस योगकी चेतनामें झलके तो झलको परन्तु उस भूमिमें कोई भी विकार नहीं होता है। इस परमयोगमें उत्तम क्षमादि दश धर्म व सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तथा श्रावक व मुनि धर्म सब बास करते हैं, परन्तु परम योगके योगीको सिवाय स्वात्म रस पानके न और कुछ दिखता है न और कुछ स्वाद आता है। जिनके यहां परमयोग है वहां ज्ञानकी दीपमालिका सदा जलती रहती है जो किसी आवरण व किसी मोहकी पवनसे बुझती नहीं है। जो उस योगीकी निकटता भजते हैं वे भी सुख शांतिके अपूर्व रसमें मग्न होजाते हैं। धन्य है यह परमयोग ! धन्य हैं श्री महावीर सरीखे परम योद्धा जो इसके प्रतापसे स्वरूपका विलास किया करते हैं।

२५१-नवीन उदय।

मैं यकायक जब आपमें आपको देखने लगा और अपनी निर्मल दृष्टिसे अपने असली स्वभावपर लक्ष्य देने लगा तो मुझे यकायक एक ऐसा स्वरूप दिखलाई पडा जिसको मैंने अबतक मोहशत्रुके पंजेमें पड़कर नहीं देखा था। इस स्वरूपकी महिमा वचन अगोचर है। यद्यपि वहां कोई वर्ण, रस, गंध, स्पर्श नहीं है, न कोई मोटापन या पतलापन है तथापि वहा ज्ञान, शांति व आनन्दका पूर्ण साम्राज्य है। वास्तवमे सब रूपोंसे वढ़िया रूप शांतिका ही होता है। इस रूपको वडे २ इंद्र चक्रवर्ती आदि सब मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं। इस रूपमें वे क्रोध, मान, माया, लोभके विकार नहीं होते हैं जिनसे प्राणी क्षोभित होकर दुःखी होजाता है। इस स्वरूप निरखनके समयमें अबतक

जिसका उदय नहीं हुआ था ऐसा निराकुल इंद्रिय रहित सुखका उदय होजाता है। उस सुखका बड़ा ही मनोहर स्वाद आता है। इस सुखका स्वाद यद्यपि इस व्यक्तिको नवीन भासा है परन्तु वास्तवमें जिसमें यह सुख है वह अनादि अनन्त एक स्वरूप परम आनन्दमय तथा परम निराकुल सदा ही रहता है। उस व्यक्तिको देखा तो वह मैं ही हूं मुझसे कोई निराला नहीं। इससे मैं मेरेमें ही मेरेसे मेरे ही लिये मेरे ही उपादानसे मेरेको अनुभव करता हूं। छः कारकोंके विकल्पसे पार होकर निर्विकल्प समाधिमें गुप्त हो आनन्दका विलास करता हूं।

३५२--मेरा धर्म।

मैं जब अपने धर्मके महत्वको विचारने लगा तो मालूम हुआ कि मेरा धर्म मेरे पास बहुत ही अद्भुत छटाको लिये हुए बहुत ही निराली सजधजके साथ विराजमान है। इस धर्ममें क्षीर समुद्रकी मंद २ कल्लोलोंकी तरह परिणतियें होती हैं तथापि यह धर्म ज्योंका त्यों वना रहता है न घटता है न बढ़ता है। जैसे क्षीर समुद्रके जलमें तरगोंके होते हुए भी उस जलका स्वभाव किसी मलीन पदार्थका मिश्रण न होनेके कारण निर्मल, शीतल व स्वादिष्ट सदा ही बना रहता है इसी तरह मेरा धर्म सदा ही पवित्र, शांत और आनंदमय बना रहता है। इसमें सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता सदा ही झलकती है। इसमें अल्पज्ञता व कषायोंकी कलुषता कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ती है। निश्चयसे मेरा धर्म परमात्मापना है। मैं अपने इस शुद्ध स्वभावमें ही रमण करनेकी रुचि रखता हुआ उसीमें ही रमण करता हूं। और जो कुछ ज्ञेय मेरे ज्ञानधर्ममें

झलकते हैं उनको मै जानता हुआ उनके साथ कोई रागद्वेष नहीं करता हूं। इसीसे मै स्वात्मानुभव करता हुआ परमानन्दका विलास करता हूं। जब मै अपने धर्मकी एकाग्रतामें तन्मय होजाता हूं मुझे यह नहीं भासता है कि मै हूं या नही। मुझे सिवाय निज रसके स्वादके और कोई स्वाद नहीं आते। धन्य है मेरा धर्म, यही सार है—यही अमृतसागर है—यही अपार है।

३५३-ज्ञानज्योति।

जब कोई शांतिपूर्वक अपने आत्माके मनोहर आगारमें देखता है तो वहां एक ऐसी ज्ञान ज्योतिका प्रकाश पाता है कि जिसके द्वारा जो कोई भी पदार्थ जो जानने योग्य हैं वे प्रकाशमें अवश्य आजाते हैं। इस ज्ञान ज्योतिके झलकावमें वह चिता विलकुल नहीं होती जो एक वातको जाननेके लिये होसक्ती है। जब स्पष्टपने ज्ञानमें सब ज्ञेय आजाते हैं तब निज आत्माका गुण निराकुल सुख भी पूर्णपने अनुभवमें आजाता है और यह भेद भी प्रगट होजाता है कि इंद्रिय विषयोंका सुख सुखाभास है—तृप्तिकारी नहीं है। ज्ञान ज्योतिके झलकावसे संसारके सर्व क्लेश, सर्व आताप विलकुल शमन होजाते—चतुर्गतिका भ्रमण नहीं होता क्योंकि इसके कारण कर्मोंका सम्बन्ध ही नही रहता है। ज्ञान ज्योति आत्मासे निराली नहीं है। जो आत्मा है सो ही ज्ञान ज्योति है। भेदसे दो व अभेदसे एक है। इस ज्ञान ज्योतिको देखनेवाले भव्य जीव ही निश्चय धर्मका मनन करनेवाले हैं व स्वात्मानन्दका भोग करनेवाले है। वे ही ज्ञान चेतनाके विलासी हैं। कर्म और कर्मफल चेतनासे उदासी हैं। वे ही सच्चे महात्मा होते हुए परमात्माके अनुपम रसके पहचा-

ननेवाले हैं और स्वस्वरूपमें सदा ही प्रसन्नता रखनेवाले हैं।

३५४-सत्य सुख ।

परम प्रतापी ज्ञाता दृष्टा आत्मा जब इस बातकी खोज लगाता है कि सत्य सुख कहां है तो उसको सिवाय अपने ही स्व-भावके उसका कही अन्य स्थानमें पता नहीं मिलता है। इस सुखकी महिमा निराली है। जिसने एक लव मात्र भी इसे पाया है उसने सर्व इंद्रिय सुखोंकी निरसताका यथार्थ अनुभव अपनेमें झलकाया है। उसको भले प्रकार ज्ञात होजाता है कि पराधीनता दुःखकारी जब कि स्वाधीनता सुखकारी है। अज्ञानी जीव मोहकी अंधेरीसे अंधे होकर इस अनुपम सुखका पता नहीं पाते हैं और अतृप्तिकारी आकुलतावर्द्धक इंद्रियोंके सुखकी तृष्णासे आकुलित होकर पुनः पुनः इंद्रिय विषयरूप बाहरी पदार्थोंके भोगनेके लिये दौड़ दौड़कर जाते हैं--पदार्थोंको और अपनेको नित्य एक दशामें रखना चाहते हैं परन्तु उनकी दशाएं क्षणभंगुर हैं इससे लाचार होकर कभी भी इच्छाकी पूर्ति नहीं कर पाते हैं। उस मोहके परदेके हटते ही अपना स्वभाव सूर्यसम अनंतज्ञान दर्शन सुख वीर्यका पुञ्ज अविनाशी अमूर्तीक अव्याबाध झलक जाता है और यकायक स्वाधीन सच्चे सुखका अनुभव होने लगता है। इस सत्य सुखका भोगना ही अनुपम भोग है। मै इसका स्वामी भोक्ता हूं। मेरा यह भोग्य है यही श्रद्धान ज्ञान व तदनुसार चारित्र सर्व प्रकार निराकुलताका भंडार है। यही मनन निश्चय धर्मका मनन है।

३५५-सहज शक्ति।

एक ज्ञानी आत्मा जब अपनी सहज शक्तिका पता लगाता

है तब उसको विदित होता है कि जो कुछ चाहिये सो सब कुछ वहां मौजूद है। स्वाधीनता जिसमें सर्व शक्तियां विना किसी बाधाके काम कर सकें परम वांछनीय है। जहां इसका निवास है वहां और किसी वस्तुकी आवश्यक्ता नहीं रह जाती है। ज्ञानका सर्व ज्ञेयोंको जानना, चारित्रका निज द्रव्यमें चलते हुए क्रोधादिके वश न होना, सम्यक्त्वका आपके स्वरूपके स्वादका भोग करके रुचि दृढ़ रखना, आनन्दका विना किसी आलम्बके सुगमतासे अनुभवमें आना आदि ही परम रत्न है जो आत्माकी स्वाधीनताके आभूषण हैं। सहज शक्तिका यह माहात्म्य है कि तीन लोककी आकर्षण शक्तियां मिलकर भी यदि उद्यम करें कि हम ज्ञान, चारित्र, सम्यक्त्व और आनंदमें विकार व तुच्छता उत्पन्न करदें तौभी वे कुछ नही कर सक्तीं। इस सहज शक्तिका स्वामी मैं परमयोगी होता हुआ निजधामके तपोवनमें ही विहार करता हुआ न कुछ खाता हूं, न पीता हूं, एक स्वानुभवसे उत्पन्न परम आनंदका ही स्वाद लेता हूं। इसीसे ही अपूर्व तृप्ति व निराकुलताको पाता हूं और सदा जीवित रहते हुए मरणादि आपत्तियोंके भयसे बिलकुल अस्पृश्य रहता हूं। मेरे स्वभावको कोई पर द्रव्यका भाव कभी किसी तरह विकारी नहीं कर सक्ता है इसीसे मैं अखण्ड आनन्दका विलास लेता हुआ परम सन्तोषी होरहा हूं।

३५६--परम पद।

यदि विचार कर देखा जावे तो प्रगट होगा कि परम पद अपने ही पास है। वास्तवमें आप ही परमपद है। परमपदमें कोई अन्य पद नहीं है। न वहां पुद्गल द्रव्य है न वहां धर्म अधर्म

आकाश काल है, न अन्य जीवोंकी सत्ता है, न वहां वैभाविक भाव हैं, न एकेंद्रिय द्वेंद्रिय तेंद्रिय चौंद्रिय पचेंद्रिय आदि जीव हैं, न मिथ्यात्वसे ले अयोग पर्यंत चौदह गुणस्थान हैं, न वहां बन्ध है, न मोक्ष है, न आश्रव है न संवर है। वह परमपद परम अद्भुत सुखदाई और ज्ञानका भण्डार है—उसमें कोई तरहका विषाद व वैरभाव नहीं है। वह पद ऐसा भी नहीं है कि जिसका वचनसे वर्णन होसके। वचन तो क्या मन भी उस पदके वास्तविक स्वरूपका विचार नहीं कर सक्ता। वह पद तो जैसा है वैसा ही है। संकेत मात्र शुद्ध निश्चय नय बताती है कि वह पद शुद्ध आत्मीक गुणोंका भण्डार है और वह पूर्ण ज्ञान व पूर्ण आनंदमई है। परम-पद, सिद्धपद, परमातमपद, पवित्रपद, सब एक हैं। जो सर्व मन वचन कायकी तरफदारी छोड़ देता है वही स्वयं परमपदरूप हो जाता है। परमपदकी महिमा अगाध है। इन्द्र धरणेन्द्र भी जिसका पता नहीं पासक्के। बड़े२ योगी वर्षों मनन करते तब कहीं परम-पदके दर्शन कर पाते हैं। रत्नत्रयका स्वामित्व ही परमपद है। जो इस ज्ञानमय पदमें स्थिति करते हैं वे शुद्ध आनंदका लाभ लेते हुए सदा स्वाधीन रहते हैं। परमात्माका शुद्ध प्रकाश इस ही सत्य भूमिकामें प्रगट रहता है। सर्व शुभ व अशुभके विकल्पजालोंको त्यागकर जो अपने इस स्वभावका मनन करते हैं वे ही यथार्थमें निश्चय धर्मका मननकर स्वाभाविक आनन्दका भोग करते हुए परम तृप्त रहते है।

३५७--समताभाव।

जगतमें आत्माका यदि कोई सर्वोपरि गुण है तो वह सम-

ताभाव है। इस भावमें न राग है न द्वेष है न विकार है न विकल्प है न संकल्प है न मेरापन है न तेरापन है न उन्नतिकी वांछा है न अवनतिका शोक है न कर्मबन्ध न उदयके झकोरे हैं। यह भाव क्षोभरहित समुद्रकी तरह निश्चल व गम्भीर है-जहां आत्मा आत्मस्थ होता है वहीं यह भाव झलकता है। इस भावमें जमे रहते हुए अनन्तकालमें भी थकन नहीं चढती है तथा जो कुछ भी अनात्माका सम्बध था वह इस भावके सामने दूर होता जाता है। यह समताभाव शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है, शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यका भंडार है। इस समताभावमें ही आत्माको परमात्माका दर्शन होता है या आत्माको आत्माका दर्शन होता है, ये दोनों ही बातें कहनेमें आसक्ती है। इस भावमें जमते हुए मन, वचन, काय रहें तौभी न रहनेके समान हैं। कर्मबध रहे तौभी कुछ बाधक नहीं है-मोक्षरूप और मोक्षमार्ग रूप यही समताभाव है। जो समताभावकी धूनी रमाते वे ही आचार्य, उपाध्याय साधु हैं, वे ही वैरागी व महात्मा हैं। समताभावमें ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र इन तीन रत्नोंकी शोभा है। जो इस भावमें रमनेवाले हैं वे ही स्वानुभव पाकर निजानदका विलास लेते हुए परम तृप्त रहते हैं।

३५८-ज्ञानकी शय्या।

परम प्रतापी आत्मा अब पौद्गलिक सर्व शय्याओंका ममत्व त्याग सहज शुद्ध निर्विकार ज्ञानकी निराकुल शय्यापर लेटे हुए स्वरूप समाधिकी गाढ़ निद्रामें डटा हुआ जगतके प्रपंचजालसे बिलकुल बेखबर है। इस शय्याके न खण्ड हैं, न पाए हैं, न इसका विनाश है, न इसमें जीर्णता है। यह शय्या परम कोमल है इसकी

मृदुता किसी भी जातिके पुद्गलोंमें नहीं है। तौभी इसपर वीतरागताकी परम निर्मल चादर बिछी हुई है। सम्यग्दर्शनकी स्वच्छ भूमिपर विराजित यह शय्या अपनी शोभासे तीन लोकके प्राणियोंका मन मोहित कर रही है। आत्माराम जिस अद्भुत सुखशांतिका विलास लेरहा है वह वचन अगोचर है। इस शय्यापर क्रोधादि कषायरूपी सर्प नहीं चढ़ सक्ते वे तो इसे देखकर ही भाग जाते हैं। इंद्रियोंसे भोगने योग्य चेतन अचेतन पदार्थ इस आत्माको अपनेसे उदास देख स्वयं घृणावान होकर अन्य रागी व्यक्तियोंकी शरणमें चले जाते है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम तप, त्याग, आर्किंचिन्य, ब्रह्मचर्य ये दश धर्म इस आत्मारामकी ज्ञान शय्याकी रक्षाके लिये चारों तरफ बैठकर पहरा दे रहे हैं। ये हिंसादि अविरतिरूप व क्रोधादि कषायरूप वैरियोंको निकट नहीं आने देते। इस अनुपम ज्ञान शय्यापर सुखसे लेटा हुआ यह आत्मा जिस अद्भुत आनन्दका स्वाद लेरहा है वह कथनमें नहीं आसक्ता। जो जाने सो जाने, जो न जाने सो न जाने।

३५९–एक कुमारकी सगाई।

एक व्यक्ति जो सदासे ब्रह्मचारी और कुमारा है, जगतका अनुभव करता हुआ व जगतके पदार्थोंको जानता हुआ कहीं भी अपने मनको शांत नही कर पाता है। कोई भी जगतके पदार्थ उसके मनको आकर्षण करके अपने तरफ नही खींच सक्ते थे। यकायक एक दिन जगतका स्वप्न देखता हुआ स्वप्नमें मुक्तिसुन्दरीकी मनोहर छबिको देख लेता है, देखतेके साथ ही आशक्त होजाता है। अब इसी चितामें रात्रि दिन मग्न रहता है कि किस-

तरह मैं उस मनको लुभानेवाली अनुपम सुंदरीका स्पर्श करूं। भेदविज्ञान रूपी पुरोहितजीसे मुलाकात होती है वे इसकी सगाई उस मुक्तिसुन्दरीके साथ पक्की करते है। यह सगाई ऐसी होजाती है कि कभी छूट नहीं सक्ती—सगाई होजाना सो ही कुमारके मनको पूर्ण निश्चय होजाना है, कि मैं अव अपनी प्रियाका लाभ अवश्य करूंगा—इस निश्चयके होते ही वह अपनी प्राणप्रियाका स्मरण करते हुए वहुत ही सुखशांति पाता है। इसी सगाईको जैन सिद्धान्तमें सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति कहते हैं। इस सगाईकी वधाई देनेके लिये उसके पास संवेग, निर्वेद, उपशम, वात्सल्य, भक्ति, अनुकंपा, निन्दा, गर्हा, निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सिता, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, प्रभावना आदि महान् व्यक्तिगण आजाते हैं और उसकी प्रशंसामें होनेवाले वर वधूके मंगल गीत गाते हैं। वास्तवमें अव यह कुमार जिस स्वानुभवका आनन्द पारहा है वह वचन अगोचर है।

२६०--सिद्धोंका भोजन।

हमारा भोजन रोटी, दाल, चावल है, पशुओंका घास फूस दाना है। नारकियोका दुर्गंधित मिट्टी है, देवोका मानसिक कण्ठ विषे अमृतका झरन है, एकेंद्रियोंका लेपाहार है, अण्डोंका उजाहार है, केवली सशरीरोंका नोकर्मवर्गणाग्रहण आहार है तव सिद्ध परमात्माओंका आहार क्या है? वे सिद्ध भगवान सदाकाल आत्मानुभव स्वरूपाचरण और क्षायिक सम्यग्दर्शनसे उत्पन्न अतींद्रिय आनंदरूपी अमृतका भोजन करते रहते हैं। इस भोजनके अलाभका कभी कारण नहीं होता—अनंत लाभ रूप शक्तिके प्रतापसे निरंतर

स्वात्मानंदरूपी भोजनको लेते हुए परम तृप्त रहते हैं। इस भोजनके लिये उन्हें किसी परवस्तुकी आवश्यक्ता नही पड़ती है न कोई इच्छा ही उत्पन्न होती है। विना इच्छाहीके जैसे पर्वतसे नदीका प्रवाह बराबर वहता रहता है उसी तरह आत्मारूपी पर्वतसे स्वात्मानंदरूपी अमृतका प्रवाह सतत् वहता रहता है। सिद्ध सम मैं व आप सर्व ही आत्माएँ हैं। सबहीके शुद्ध प्रदेशोमें यह अमृत भरा है। सर्व ही स्वभावसे इस अपने स्वाधीन भोजनके ग्रहणसे परम तृप्त होरहे हैं। जो भव्य जीव इस अपने अपूर्व भोजनकी तरफ दृष्टि रखते हुए जगतके अतृप्तकारी भोजनोंके आस्वादसे उदासीन होजाते हैं वे वास्तवमें स्वात्मानंदका भोजन पाते हुए अपूर्व लाभ प्राप्त करते हैं जिसका कथन किसी मुखसे हो नही सक्ता है। मैं आज परम सिद्धोंके आहारका दर्शन करता हुआ अपने जन्मको सफल मान रहा हूं।

३६१-अमृतमय पानीका लोटा।

एक पथिक मिथ्यात्वकी ओटमें विराजित परम पवित्र और आनन्दकारी सुखसागरको न देखता हुआ चिरकालसे भवसमुद्रके अतृप्तिकारी दुःखमय खारी जलको पीता हुआ तृषाको समय २ चढ़ाता हुआ महान व्याकुल था, परम गुरुके उपदेशसे ज्यों ही मिथ्यात्वकी आड़को हटाता है यकायक परम सुखसमुद्रका दर्शन पाकर उसकी मनोहारिणी शांत छवि और उसके परम मिष्ट जलसे स्पर्शित वैराग्यमय वायुके स्पर्शसे गदगद् होजाता है-तृषा बुझानेको सब ओरसे अंग व मन संकोचकर उपयोगरूपी लोटेमें स्वात्मानंदरूपी जल अच्छी तरह भर लेता है और उस जलको वारवार

पीता है–अनादि तृषाको बुझाता है, अपूर्व सुख स्वाद पाता है। आश्चर्य यही है कि इस लोटेका यह जल कभी कम नहीं होता है। जब देखो तब भरा ही भरा मिलता है। इस जादूके भरे लोटेको कामधेनु, चिंतामणिरत्न, व कल्पवृक्षसे भी अधिक आश्चर्यकारी पाकर इस पथिकको यह भाव होगया है कि मैं तो स्वयं परमात्मा हूं। मै सर्वका स्वामी, परम कृतार्थ, परम ज्ञानदर्शनवीर्य व सुखका भण्डार, अविनाशी, अखण्ड व शुद्ध परिणामोंमें आप ही परिणमनेवाला और अपनी शुद्ध सुखकी सम्पत्तिको स्वतंत्रतासे भोगनेवाला हूं। इस भावमें रङ्गा हुआ उस अद्भुत लोटेसे वारवार अमृतका पान करता हुआ आत्मानदके नशेमें चूर होकर सिवाय आत्माके और किसी पदार्थका स्वाद न लेता हुआ जिस रङ्गतको दिखा रहा है उसका वर्णन वचन अगोचर है।

३६२--अद्भुत कामी।

इस जगतमें कामी पुरुष अपनी इच्छानुसार पदार्थ पानेपर थोड़े कालके लिये ही उसका संभोग कर सक्ता है फिर अवश्य उसका मन आकुलित होजाता है। मिठाई खानेवाला १२ घंटे लगातार मिठाईका भोग नहीं कर सक्ता। इस विश्वमें आत्माराम ऐसी अद्भुत शक्तिका धारी है कि यह निज अनुभूतितियाके साथ निरंतर संभोग करते हुए अनंतकालमें भी आकुलित नहीं होता—समतासे विसमतामें कभी नहीं आता। एक क्षणमात्रके लिये विश्राम भी नहीं लेता है। ऐसे धारावाही आत्मभोगीके समान जगतमें और कौन कामी हो सक्ता है। इस अद्भुत कामीका वीर्य रंचमात्र भी क्षीण नहीं होता है। इसका अनंत बल ज्योंका त्यों बना रहता

है। यह बल संभोगके कार्यमें सहाईभूत होनेसे निरंतर परिणमन-शील है तो भी कुछ कम नहीं होता। अद्भुत कामीको निरंतर आश्चर्यकारी आनन्द भी मिल रहा है। अनंतसुखके घेरैयाकी कोई तुलना नहीं कर सक्ता है। कोई तो परकी कन्याको विवाह करके उसके साथ संभोग करते हैं परन्तु यह महाकामी आप हीकी स्वानुभूति कन्याको जन्म देकर आप ही उसके साथ निरंतर भोग करता है—लोकमें इसे घृणित कृत्य कहते हैं परन्तु इस अलौकिक सिद्धांतमें इससे बढ़कर कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं है। यही धर्म है। यही मोक्ष व मोक्षमार्ग है।

३६३-एक सच्चा धोबी।

जो मैलको धोकर साफ करता है उसको धोबी कहते हैं। धोबीको मैले कपडेमें कपड़ेकी स्वच्छता और मैलके स्वभावका पृथक् २ ज्ञान है। वह अच्छी तरह जानता है कि यह कपड़ा रुईका बना है जो सफेद होती है। कपड़ा स्वभावसे कभी काला नहीं होसक्ता है। यह धूर्वेकी कालिमा है जिसने कपड़ेकी सफेदीको मात्र छिपा दिया है। भीतर कपड़ा अपने स्वभावसे स्वेत वस्त्रके समान प्रकाशमान है। जब वह मैलको धोता है तब भी उस कपड़ेकी स्वच्छताका ही ध्यान करता है। उसकी बुद्धिमें कपड़ेका स्वभाव पूर्णपने झलक रहा है। इसी तरह सम्यग्दृष्टी धोबी अपने आत्माको शुद्ध सिद्ध-सम ज्ञाता दृष्टा आनंदमई अविनाशी उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभाव रूप जानता है—उसकी दृष्टिमें यही आत्माका स्वभाव पूर्णपने समा रहा है। रागादिकी कलुषता व शरीरादिका मल पुद्गल द्रव्यमई है—आत्मासे सर्वथा पृथक् है। उसका आवरण होनेपर भी आत्माका

स्वभाव आत्माकी सत्तामें ज्योंका त्यों विद्यमान है। इस ज्ञानी धोबीको वस्त्र धोनेवाले धोबीकी तरह किसी साबुनके लगानेकी जरूरत नहीं पड़ती है—इसके पास मात्र एक यही उपाय है कि यह अपने आत्माके स्वभावकी रुचि सहित जानकारी रखता हुआ उसीको ही देखा करे, उसीको ही चाहा करे, उसीमें ही रमा करे, उसमें ही ठहरा करे। यह सच्चा धोबी इसी स्वात्मानुभवसे ही शुद्धात्माको झलकाता हुआ सदाके लिये स्वच्छ और पूर्ण बना रहता है और स्वभावसे वहनेवाले आनंदामृतका पान करता है।

३६४–सच्चा व्यवहार व लेनदेन।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व अज्ञानी वस्तुओंसे अपना व्यवहार त्यागकर मात्र अपनी ही सत्तामई भूमिमें जमा हुआ व्यवहार व लेनदेन कर रहा है—परवस्तु चाहे चेतन हो या अचेतन हो किसीकी भी तरफ दृष्टिपात नहीं करता है। यह अपनी ही आत्मवनीसे स्वात्मानुभवरूप फलके अमृतको लेकर अपने ही आत्माके लिये अपने ही आत्मामें अपने आपहीसे अर्पण करता है और आप ही परम तृप्तिमई आनन्दके स्वादका भोग करता है यह व्यवहारी वीतराग परिणतिको देता है जिससे पानेवाले आत्माको महान सुख होता है इसीलिये यह दातार वदलेमें स्वात्मानदका भोग करता हुआ अपने जीवनको सफल कर रहा है। दातार और पात्र दोनों ही वही है। इसीसे इसको व्यवहार कहते, अभूतार्थ कहते, असत्यार्थ कहते। निश्चयनयसे देखा जावे तो न कोई किसी भावको किसीको देता है न कोई किसी भावको किसीसे लेता है। वह ज्ञानी प्रभु अपने स्वभावमें निर्मल ज्योतिके समान प्रकाशमान

है । स्वाभाविक परिणमन है सो कहने योग्य नहीं—ज्ञानीके ज्ञान गोचर है । एक अल्पज्ञको तो ऐसा दिखता है कि वह निराबाध अक्षोभ समुद्र परम निष्कम्प निर्मल ज्ञानानन्दमई जलसे परिपूर्ण है न वहांसे कुछ जाता है न वहां कुछ आता है । वहां जो कुछ है सो सब कुछ सदा ही बना रहता है । यह लेनदेन वही करता है जो अकृत कृत्य है कृतकृत्य परम संतोषी आत्मप्रभुमें लेनदेनका विकल्प नहीं है । वह अपने सार स्वभावमें जमा हुआ जो विलास कर रहा है उसका कथन अक्षरोंसे होना अशक्य है । तौ भी जगतके लेनदेनसे यह सच्चा लेनदेन अपने स्वभावमें रमणताका कारण है ।

३६५—अद्भुत होली।

चेतनराम इस वसंतऋतुमई स्वानुभवके विलासके समयको देखकर अपनी प्रियतमाओंको एकत्र कर उनके साथ विचित्र होली खेलता हुआ अपूर्व आनन्द ले रहा है । चेतनरामकी प्रियतमाएं शांति, क्षमा, मृदुता, ऋजुता, सत्यता, शुचिता, विरक्तता, उदारता, अतृष्णा, शीलता, ज्ञानचेतना, सुबुद्धि, सुदृष्टि आदि परम मनोहर हैं उनके बीचमें चेतनराम तिष्ठा हुआ एकाग्रध्यानकी पिचकारीमें ज्ञानामृतमई परम शीतल व सुगंधित जलको भरकर होली खेल रहा है व प्रियतमाएं भी वैसी ही ध्यानकी पिचकारीमें वैसा ही जल भरकर चला रही हैं । चेतनराम तथा उसकी स्त्रियें सब ज्ञानामृतसे तर होकर बहुत ही शोभा विस्तार रही हैं । परस्पर प्रेम ऐसा उमड़ रहा है कि अन्य पदार्थका ध्यान ही नहीं रहा है । इस समय स्वानुभव रसका अपूर्व उदय होरहा है । सब ही ओर

सब कुछ विकल्प त्यागकर एक इस रस हीमें मग्न हैं। माननीय प्रियतमाओंके भोगमें आसक्त होकर यह चेतनराम परमात्मपनेके ठाठको दिखा रहा है। यहा रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि आठ द्रव्य कर्म, व शरीरादि नोकर्मोका चिन्ह भी नहीं है मात्र एक-रसता है—महान होली है जो परम मंगलकारिणी है।

३६६—अभिषेक.

एक ज्ञानी अपने ही आपको प्रभु मानकर और उसे एक अद्भुत सहानुभूतिमई परमदृढ़ पाषाणकी मूर्ति कल्पनाकर समतारस-मई क्षीरोदकसे अभिषेक कराता हुआ आप ही सुखसमुद्रमें मग्न होरहा है। इस अभिषेकमें जलकी धारा एक सदृश स्वभावमई परिणतिमें कल्लोल करती हुई बहा करती है। इस धाराकी शांतता अपूर्व है—कषाय कालिमाको धोती हुई यह धारा तृष्णाकी तापको शमन करनेवाली है। चिन्ताके जालको छिन्न भिन्न करनेवाली है—यह समतारसका अभिषेक हरएक शुद्ध स्वरूपके ज्ञाताको प्रिय है। इसमें किसी परद्रव्यकी आवश्यकता नहीं है। यह अभिषेक वास्तवमें अभिषेककर्ताको अभिषेक योग्य कर देता है। सम्यक्त्व, ज्ञान, चरणकी शोभा इस अभिषेकसे परम प्रकर्षताको प्राप्त होरही है। मोक्ष प्राप्त जीव और मोक्षमार्गी जीव दोनों ही समानतासे इस स्व अभिषेकमें लीन हैं। जो इस स्व समयरूप स्वकार्यमें तन्मय हैं वे ही परम व्यापारियोंमें श्रेष्ठ व्यापारी हैं।

३६७—यात्राका आनन्द.

एक वीर योद्धा निर्भय होकर ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मोंकी व रागादि भाव कर्मोंकी कुछ भी गणना व महत्व न करके अपने ही

स्वभावकी ज्ञानमई भूमिमें जिसकी थाह नहीं है यात्रा करता हुआ मार्गमें अनेक विचित्र ज्ञेयमई पदार्थोंकी छटाको उदासीनभावसे निरीक्षण करता हुआ समताकी शांत छायामें विश्राम लेता हुआ, ज्ञानानुभूतिके मिष्ठ फलोंको उसीसे उत्पन्न परम आनन्दमई-अमृतमई जलको पीता हुआ समय२ जिस जातिके सुखका विलाप कर रहा है उसका वर्णन होना अशक्य है। यद्यपि इस यात्रामें मोटरकी सवारी नहीं है, नीमके वृक्षकी छाया नहीं है, मिष्टादि छः रसोंका भोग नहीं है, किन्हीं मित्रोंसे वार्तालाप नहीं है, न किसी भौतिक स्त्रीसे काम भोग है तथापि जो आनन्द इस अध्यात्मीक यात्रामें है उसका अनन्तवां भाग भी अन्य यात्रामें नहीं है। जो इस अनुपम स्वभाव संवेदन यात्रामें गमन करते हैं वे निराकुलताके भाजन होते हुए जगतसे भिन्न होते हुए भी जगतके प्यारे और पूज्यनीय होजाते हैं।

३६८--अद्भुत यज्ञ।

यज्ञ करना महान् कर्म है। जो यज्ञ करते हैं वे ही सच्चे पुरुष हैं। जो यज्ञ करते हैं वे ही कर्तव्यका पालन करते हैं। जो यज्ञ करते हैं वे ही सुखी रहते हैं। जो यज्ञ करते हैं वे ही निरंतर तृप्त रहते हैं। धन्य हैं वे कर्म योगी जो आत्मध्यानमई अग्निको जलाकर कर्म ईंधनको जलाते हैं व उस अग्निमें अहिंसा, सत्य, शील, क्षमा, मार्दवका परम सुगंधित मसाला और वीतराग भाव रूपी घृत डालकर उसकी सुगन्धसे मस्त होजाते हैं अहं ब्रह्मास्मि अहं सिद्धोऽस्मि, अहं शुद्धोऽस्मि, अहं अबद्धोऽस्मि, अहं आनन्दोऽस्मि इत्यादि मंत्रोंको पढ़२ कर आहुति देते हैं। यज्ञका

कर्ता परम एकाग्र भावसे निज अनुभूतितियाके साथ बैठा हुआ इस यज्ञके द्वारा अंतरंगमें एक ऐसा साम्यभाव उत्पन्न कर रहा है कि जिसके द्वारा स्वयं अमृत वह रहा है और जिसको पान कर यह परम तृप्त होरहा है। इस यज्ञको स्वानुभव यज्ञ कहते हैं। जैसे सशरीर प्राणी यज्ञ करते हैं वैसे अशरीर भी इस यज्ञको करते रहते हैं वहां कर्म ईंधन नहीं होता तौभी आत्मध्यानकी अग्नि चेतनाकी वीर्यमई विजलीसे जलती रहती है और यज्ञकर्ता सिद्ध परमात्मा इस कर्मको नित्य करते रहकर कभी अकर्मण्य नहीं होते तौभी जीव अकर्ता है इस सिद्धांतको सिद्ध करते हैं।

३६९--अद्भुत प्रसन्नता।

एक चिरकालसे खोज करनेवाला जब अपने ही भीतर अपने परमप्रिय चेतनमित्रको पालेता है तब उसको जो प्रसन्नता होती है उसका कथन वचन अगोचर है। इस चेतनमित्रके मिलाप होते ही अनादिकालके राग, द्वेष, मोह, शोक, विषाद, चिन्ता आदि विकल्पजाल एकदम टूटकर चले जाते हैं। वीतरागता, समता, शांति, क्षमा, शुचिता आदि देवियां जिनकी मनोहर मूर्तियें चित्तको आकर्षण करनेवाली है, तुर्त आकर चेतन प्रभुकी सेवा करने लग जाती हैं। अनन्त गुणरूपी देवोंका स्वामी स्वानुभवरूपी इन्द्र आता है और चेतनप्रभुको स्वसत्ताके मनहर आसनपर सुशोभित कर परम निर्मल अगाध क्षीर समुद्रवत् सुखसागरसे परम अमृतको लाकर बड़े ही प्रेम व सत्कारसे अभिषेक कराता है। इस अभिषेकके जलके छींटे निकटवर्ती जिन व्यक्तियोंपर पड़ते हे वे भी

नात्यकार द्वारा प्रेषित शुद्ध परिणतियांरूपी अप्सराएं इस अभि-षेकके समय अपूर्व नृत्य कर रही हैं। चेतनमित्रकी इस निर्मल संगतिका लाभ लेकर इस खोजीने सर्व चिंताएं छोड़ दी हैं और इस तरह प्रेम रसमें मिल रहा है कि मानों दो व्यक्ति नहीं हैं-एक ही व्यक्ति है। इस अद्भुत मित्र सम्मेलनमें वास्तवमें अद्भुत प्रसन्नताका ही दर्शाव है। यही सुखशांतिका निर्मल भंडार है।

३७०-प्रवीण धोबी।

एक प्रवीण धोबी अपने आत्मारूपी वस्त्रको स्वसंवेदन ज्ञान रूपी मसालेसे वैराग्यरूपी पानीके द्वारा धोता हुआ व स्वच्छ करता हुआ उसकी निर्मलतामें परमानंदित होरहा है। उसको दृढ़ विश्वास है कि यह वस्त्र श्वेत कपासके तागोंका निर्मित होकर श्वेत ही है। ऐसा ही उसे दृढ़ ज्ञान है व मसालेसे रगडते समय उसे वस्त्रकी स्वाभाविक स्वच्छताका ही ध्यान है। इसी तरह आत्मज्ञानी निज आत्माको परम स्वच्छ ज्ञानानंदमय श्रद्धान करते, जानते व इसी श्रद्धान ज्ञानमें तन्मयता रखते हैं। अपने आपको स्वानुभवके मसालेसे रगड़ते हुए वीतरागताके जलसे धोते हुए इस सम्यग्दृष्टी धोबीको रञ्च मात्र भी विषाद नहीं होता है, किन्तु एक अपूर्व आनंद होता है जो आत्माका ही स्वभाव है व स्वाधीन है। इस धोबीको स्वात्मानंद मिलना यही इसके स्वानुभवमई धोनेके कार्यका मूल्य है। यह धोबी बहुत ही निस्पृह व स्वार्थ त्यागी है। इसको फलकी भावना नहीं परंतु जैसे मिश्रीको खाते हुए मीठा स्वाद आता ही है वैसे स्वानुभव करते हुए स्वात्मानंद आता ही है। वास्तवमें यह प्रवीण धोबी बहुत ही उच्च पदका धारी है। जो इस महात्माको

स्पर्श करते हैं वे स्वयं भाग्यवान हैं। यह धोबी एक दिन सर्व संज्ञाओंसे रहित यथातथा होकर अनंतकालके लिये सुखी होजाता है।

३७१–आगमसार।

एक परमात्मतत्त्व खोजी जब सर्व पौद्गलिक पदार्थोंसे भिन्न किसी एक शुद्ध चेतन मात्र पदार्थको देख पाता है; तब उसको एक क्षणमात्रमें जिनेन्द्र प्रणीत द्वादशांगवाणीका सार प्राप्त होजाता है। जिनेन्द्रकी वाणी जिनेन्द्र परमात्माके स्वरूपकी वाचक है। परमात्माका स्वरूप शुद्ध चैतन्यमई निर्विकार राग द्वेषादि प्रपंचजालोंसे रहित अद्भुत आनंदमई और सर्व ज्ञेयोंके भेदोंको एक ही समयमें जाननेवाला है। वही हरएक आत्माका स्वरूप है। आगम वही है जो परसे भिन्न निज आत्माकी अनुभूति प्राप्त करावे। जिसको स्वानुभूतिका आनन्द आ गया वहां आगमका सार मिल गया यह कहना बाधा रहित है। जो आगमसारका ज्ञाता है वही केवली, श्रुतकेवली व सिद्ध है इस समझमें कोई फेर नहीं है। जिस पदार्थके ये भिन्न२ नाम हैं वे सब सदृश एक स्वरूपधारी हैं। आगमका सार ही वह सुख समुद्र है जहां आकुलताके बादल कभी नही आते, जहां पराधीनताकी विकट समस्या नहीं सताती, जहां स्वाधीनताकी निर्मल भूमि सदा वीतरागताकी शोभाको लिये हुए शोभायमान है। जो इस आगमसारके रसिक हैं वे ही विद्वान, पंडित व दार्शनिक हैं। वे विना किसी अंतरायके स्वात्मानंदका भोग लेते हुए परम तृप्त रहते हैं।

३७२–अमृत रस।

उत्तमक्षमादि दशलक्षणमई वृक्षमें स्वानुभवरूप परममिष्ट फल

लगते हैं जिनमें निजानंदरूप अमृत रस कूट कूटकर भर रहा है। जो महात्मा सर्व पर पदार्थोंसे उन्मुख हो एक इसी मनोहर फलकी ओर उपयोगको लगाते और अगाध प्रेमसे उस फलमें एकचित्त हो लीन होजाते तथा उसका स्वाद लेने लगते उनको उस अमृत रसका स्वाद निरंतर ही आया करता है। जो शक्तिहीन देर तक स्वाद नहीं ले सकते वे उससे दूर होजाते, परन्तु उसी ही रसकी लालसामें पुनः पुरुषार्थ करते और फिर इस स्वादसे तृप्ति पाते। जो कोई सर्वोच्च अनंतशक्तिशाली महात्मा हैं वे कभी भी इस रसके भोगसे नहीं छूटते किन्तु विना किसी अन्तरके निज फलका भोग करते रहकर सुधाका पान किया करते हैं। अनन्तकाल वीतनेपर भी उनके इस आनन्द भोगमें कभी रुकावट नहीं होती, न उनको इस स्वादका पान करते हुए कभी घबड़ाहट होती है। वास्तवमें जो कुछ परका भोग है उसमें ही आकुलता है। निजफलको निज ही करणद्वारा भोगे जानेमें कभी भी आकुलता नहीं होसक्ती है, किन्तु पूर्ण निराकुलता और समताभावका साम्राज्य बना रहता है। जो इस अमृतको पीते हैं वे ही सच्चे सम्यग्दृष्टी और माननीय महात्मा हैं।

३७२–निरोगता।

जहां आत्मामें इच्छाओंके, कषायोंके, रागद्वेषोंके, चिन्ताओंके, प्रमादके रोग न हों और यह आत्मा अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्रमई शुद्ध स्वरूपमें निश्चलतासे मग्न रहे और विना किसी विघ्न बाधाके निज सुधाका पान किया करे वही आत्माकी निरोगता है। इस निरोगताके होते हुए न आत्माकी गुणस्थान

रूपसे उन्नति होती है, न गति, इंद्रिय काय आदि मार्गणाके नामसे भेषोंका ही धारण होता है। जहा संसारकी चतुर्गतिमें भ्रमण है वहा भ्रामक मोहनीय रोगका प्रभाव है। रोग रहित आत्मामें उसके प्रदेशोंका परिस्पंद या हलन चलन नही होता। जैसे गाढ़े संगमरमरके स्वच्छ पाषाणमें अति वेगरूप वायुके झकोरोंकी टक्करोंके लगनेसे भी विकार नहीं होता उसी तरह इस परम गाढ़ आत्माके प्रदेशोंमें कोई हिलाव या कंपन नहीं होता। जैसे वज्रमई पर्वतपर मेघका जल बहुत बलसे पतन करता हुआ भी पर्वतपर असर न करके योंही वह जाता है वैसे स्वरूपस्थ वज्रतुल्य आत्माके प्रदेशोंपर जगतके पदार्थोंके परिणमनका कोई प्रभाव नहीं होता। यह निरोगी आत्मा अपने अनंतदर्शन ज्ञानसे सब कुछ देखता जानता हुआ भी उनमें मोहित रंजित व दोषित न होता हुआ व निरंतर स्वात्मानुभव जनित आनंद अमृतका भोजन लेता हुआ व अनंतकालके लिये परम स्वास्थ्य लाभ करता हुआ तथा सच्चा निरोगताका आदर्श बताता हुआ परम तृप्त रहता है।

३७४-पूजाका फल.

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विभावोंसे रहित हो जब अपने भीतर देखता है तो पूज्य परमात्माकी परम सुहावनी स्फटिकमयी मूर्ति जो अमूर्तीक चैतन्यमई धातुसे बनी है व जिसमें कोई मल विकार नहीं है, परम ऐश्वर्यके साथ परम प्रफुल्लित विराजमान पाता है। इस देवको ही निज भक्ति योग्य मानकर यह भक्त उसकी पूजामें लवलीन होजाता है। इस पूजामें किसी परपदार्थके आलम्बनकी आवश्यक्ता नहीं पड़ती है। पूज्य भी निज स्वभाव है, पूजक भी

निज नम्रीभूत उपयोग है। भेद नयसे पूजक और पूज्य दो हैं। अभेद नयसे दोनों एक हैं। जो इस तरह पूज्यके साथ एकतान होकर पूजा भक्ति करते हैं वे उसी समय इस पूजाका फल भी पा लेते हैं। स्वात्मानुभवका लाभ होकर सुख व शांतिका भोग करना यही इस पूजाका फल है। पूजा और पूजाका फल साथ साथ होना यही साक्षात् सच्ची पूजा है। इस पूजाके द्वारा पूजकका सर्व सांसारिक विकल्प लुप्त होजाता है। यह निश्चयसे निर्विकल्प भावको पाकर अपने आनन्दधाममें विश्राम पाता हुआ मुक्तिके अपूर्व दृश्यका साक्षात अनुभव लाभ करता है। जो कोई इस आत्मपूजाके रसिक हैं वे ही सच्चे सम्यग्दृष्टि हैं। वे ही मोक्षमार्गी हैं व मोक्षरूप हैं। इस पूजाका महत्व अकथनीय है। वास्तवमें स्वात्मानुभव गोचर है। यही निश्चयधर्मका मनन है।

३७४--अपना घर.

एक चेतन प्रभु अनादिकालीन संसारमें अनन्त परघरोंको अपना घर मानता हुआ उनके वियोगसे आकुलित हो रहा था अब यकायक अपना घर आपमें ही पाकर तथा उसमें अपूर्व विश्रांतिका लाभ कर परम सुखी होरहा है। यह अपना घर किसी पर पदार्थमें नहीं है। अपने ही आत्मद्रव्यका जो असंख्यात प्रदेशमई स्वक्षेत्र वही निश्चयसे अपना घर है—मेरे आत्मद्रव्यत्वकी सर्व सत्ता मेरे इस क्षेत्रमें ही है पर क्षेत्रमें मेरी सत्ता नहीं है और न पर क्षेत्रकी सत्ता मेरे क्षेत्रमें है। यह असंख्यात प्रदेशमई अपना घर मोह, अज्ञान तथा क्रोधादि कषायके अंधकारसे सर्वथा शून्य है, क्योंकि इस घरमें सहज ज्ञान दर्शनका दीपक अनंतबलके

प्रतापसे सदा अखंडरूपसे जला करता है। इस दीपकको बुझानेके लिये यहां राग द्वेष मोहकी वायु नहीं चलती है। वीतरागता और समताकी परमशांत छटा इस घरमें ऐसी छा रही है कि जो इस घरमें वास करता है उसे कभी भी कोई बाधा नहीं सताती है और न तीन लोकमें ऐसी शक्ति है जो उस आत्मदेवको कष्ट पहुंचा सके। इस अपने घरमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमई रत्नत्रयका ऐसा सुन्दर झलकाव है कि जिसकी महिमा वचन अगोचर है। वास्तवमें प्रत्येक आत्माके निवास योग्य उसका ही अपना परमशांत स्वक्षेत्र रूपी घर है। जो सर्व परघरोंका संबन्ध छोड़कर एक निज घरमें ही विश्राम करते है वे ही परम निराकुल और परमसुखी रहते हुए स्वानुभवरसका पान करते हैं।

३७६--रत्नपिटारी।

मेरे आत्माके त्रिगुप्तिमई दुर्गमें एक रत्नपिटारी रक्खी हुई है जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र नामके तीन रत्न अपनी अनुपम छटाको दिखलाते हुए विराजमान हैं। इन रत्नोंकी महिमा इसलिये अद्भुत है कि ये कभी जीर्णशीर्ण नहीं होते और न ये जड़पनेको धारण करते है। इनमें चेतनता; वीतरागता व आनन्दका ऐसा प्रसार है कि जो इन रत्नोंको प्रेमसे अपने हृदयपुटमें धारण कर लेते हैं उनको सदा ही ज्ञानादि गुणोंका अनुभव हुआ करता है। वे कभी शोक; खेद व क्लेशके गर्तोंमें नहीं पड़ते। इन रत्नोंमें एक यह चमत्कार हैं कि अपने स्वामीको संसारकी वासनासे अलग रखकर मुक्तिकी मंगलमय भूमिकामें सदा ही आरूढ़ रखते हैं। इन रत्नोंके प्रभावसे उसे कभी पराधीनता भोगनी नहीं पड़ती है।

वह सदा स्वाधीन रहकर अपने निज गुणोंका सदाके लिये विलास किया करता है । तीन लोकमें कोई भौतिकरत्न इन रत्नोंकी उपमाको धारण नहीं कर सक्ते हैं । मैं इन तीन रत्नोंको ही अपना परम हितकारी मानता हुआ इन्हींकी आभामें अपने निज घरको सम्हालता हुआ और अपने ही अनुभवसे उत्पन्न निजानन्दमई अमृतको पान करता हुआ जिस सुखमय जीवनको विता रहा हूं उसका कथन किसी भी मानव या देवसे होना अशक्य है। धन्य है यह रत्नपिटारी जो परमात्मपदको दिखानेवाली और निराकुलताका रङ्ग बतानेवाली है ।

३७७--निर्मल वृष्टि.

मैं एक मलीन भावोंकी तहके भीतर पड़ा हुआ अपने स्वभावके विलाससे वेखवर होरहा था । नाना प्रकार विषय कषायकी चाहनाएं अपने कठोर आक्रमणको करके मेरी शक्तिको क्षीण कर रही थीं । यकायक क्या देखता हूं कि भेद विज्ञानके सार्थक मेघ आते हैं, सोऽहंकी ध्वनिरूप गर्जनाएं करते हैं और इन मेघोंसे स्वानुभवरूप अमृतमय जलकी निर्मल वृष्टि शुरू होजाती है । इस वृष्टिने एकदमसे मलीन भावोकी तहको वहा डाला–मेरी आत्म भुमिको परम शुद्ध कर दिया है । अब इस भूमिमें सिवाय निर्मल शुद्धोपयोगके कोई अन्य भाव नहीं दिखलाई पड़ता है। यहां दर्पणवत् प्रकाश है, सर्व जगतके पदार्थ अपने अनंतगुण और पर्यायोंके साथ एक ही काल इसमें प्रतिबिंबित होरहे हैं । कहीं भी क्रोध, मान, माया, लोभकी कालिमा नहीं झलकती है । शांतिकी अपूर्व छटा छारही है । निर्मल भेदज्ञान द्वारा प्रगट आत्मानुभूति

रूपी वृष्टिने मेरेको सर्व प्रपंच जालोंकी मलीनतासे छुड़ा दिया है। अब पूर्ण निर्विकल्पता प्रगट होरही है। मैं अपनेको सिद्धसम शुद्ध कहूं, वीतरागी कहूं, केवली कहूं, मुनि कहूं, ज्ञानी कहूं, क्या कहूं, क्या न कहूं—वास्तवमें मैं मन, वचन, कायके अगोचर एक अपूर्व आत्मरसमें डूब रहा हूं जहांके आनंदको वही जानता है जो भोगता है वह आनन्द स्वाधीन और अतींद्रिय है तथा अमिट और अक्षय है वही मेरा स्वभाव है।

३७८--परमतेज।

आज इस जगतमें मैं ढूंढ़नेको चला कि कोई ऐसा भी तेज है कि जिसके बराबर कोई तेज नहीं है। जिस परमतेजको मैं चाहता हूं उसमें कभी मन्दता नहीं होती है न वह कभी नष्ट होता है, न उसपर कोई आवरण पड़ता है। वह तेज किसी पुद्गलका विकार नहीं है न वह नेत्रका विषय है न स्पर्शका विषय है। उस परमतेजमें अखंडरूपसे सर्व पदार्थोंको एक समयमें प्रकाश करनेकी शक्ति है। वह प्रकाशका काम करते हुए भी कभी थकता नहीं और न कभी जीर्ण होता है—वह तेज जैसा का तैसा बना रहता है। उस परमतेजमें कभी कोई बंध नहीं पड़ता न कभी कोई कालिमा व्यापती है। इस परमतेजको ढूढ़ते हुए मै जब किसी तेजधारी पदार्थके पास जाता हूं और देखता हूं तो वहां निराश होजाता हूं—सूर्य चंद्रमा व किसी रत्नमें यह तेज बिल्कुल नहीं है। पर पदार्थोंको देखते हुए जब मैं हार जाता हूं तब सबसे मुख मोड़ मैं अपने ही भीतर तलाश करने लगता हूं। जब वहां दृष्टि डालता हूं तो वहां यकायक उस परमतेजको देख लेता हूं। अहा! वह

परम विशाल तेज उस चैतन्यप्रभुका है जो मेरे ही शरीर-मंदिरमें शाश्वता देव सम विराजमान है। इस परमतेजमें उष्णताका व क्रोधादि विकारका नाम नहीं है। न इसमें कोई क्लेश या चिंता है-इसमें परमानन्द भरा हुआ है। जो इस परमात्माके परमतेजके ग्राहक हैं वे ही वास्तवमें ज्ञानी और स्वात्मानंद रसिक हैं उन्हींको सुखशांति सदा मिलती है।

३७९--आत्मगंगा।

सर्व विकल्पोंसे रहित होकर व आपमें आप थिर होकर जब कोई आपमें ही एक दृष्टि करके देखता है तो वहां अनादि अनंतकालमें एक तानसे वहनेवाली आत्मगंगाका पता पा लेता है। इस गंगामें पौद्गलिक सर्व मलोंका अभाव है। इसकी निर्मलतामें यह शक्ति है कि जो कुछ झलकने योग्य है वह सब एकदम सदा झलकता रहता है। तीन कालवर्ती पदार्थोंके वर्तनोंको जैसाका तैसा जानना यही इसकी स्वच्छताका प्रभाव है। इस आत्मगंगामें परम शीतलता है। भवतापको शांत कर देना और जो ठंडक मोती, चन्दन, शशिकिरणसे नहीं मिल सक्ती है उस ठंडकका विना अंतराय प्रदान करते रहना इस गंगाका अद्भुत माहात्म्य है। इस गंगाके दर्शन मात्रसे परम अतींद्रिय शांति मिलती है। इस आत्मगंगामें उपयोग रूपी जल बड़े ही स्वादिष्टमय आनंदके रससे परिपूर्ण है। जगतकी जलमय गंगामें वर्णादि होते हैं परन्तु इस गंगामें पूर्ण अमूर्तीकपना है। जगतकी गंगा किसी पर्वतसे निकलकर समुद्रमें गिरती है, परन्तु इस गंगामें त्रिलोकव्यापी होनेकी सामर्थ्य है तौभी यह हरएक प्राणीके शरीर प्रमाण स्थानमें ही प्रवाहित होती

है। ऐसी आत्मगंगामें कल्लोल करना संसारी प्राणीके भव भवके मलोको धो देता है—उसे यथार्थ शुद्ध परमात्मपदधारी बना देता है। वास्तवमें जो अन्य स्थान छोड़कर एक इस आत्मगंगामें स्नान करते हैं वे ही स्वात्मानुभूतिका रङ्ग पाते हुए अदभुत अतींद्रिय आनंद रसका निरंतर पान करते रहते हैं।

३८०—अमिट भंडारी.

ऐसा भी कोई भण्डारी या कोषाध्यक्ष है कि जिसके पाससे चाहे जितनी सम्पत्ति प्राप्त करके भोगी जाय परन्तु उसका भंडार न कभी कम होता है और न अनन्तकालमें कभी समाप्त होता है। उस अमिट भण्डारीका पता उसीको मिलता है जो निश्चय धर्मका मनन करता है। वास्तवमें यह अपना ही आत्मा सच्चा अविनाशी भंडारी है। इसके पास स्वात्मानन्दका अटूट भण्डार है। यह भण्डारी स्वयं और न कुछ खाता है, न पीता है, न किसी पवनको लेता है किन्तु रातदिन अपने ही भण्डारोमेंसे स्वाभाविक आनन्दको निकालकर भोगा करता है। अनंतकाल भोगते हुए रहकर भी उसका भण्डार रञ्च भी कम नहीं होता है। इस अपूर्व आत्मा भंडारीकी संगति जो करता है वही तृप्त होजाता है। उसकी सर्व आशाएं पूर्ण होजाती हैं। इस अमिट भण्डारीका मिलना बडा ही दुर्लभ है। यह तैजस, कार्माण, औदारिक शरीरोंकी गुफाओंके भीतर विराजमान है। जो इन सबको बुद्धिबलसे भेदकर भीतर प्रवेश करते हैं उनको साक्षात् इस भंडारीका दर्शन प्राप्त होजाता है। एक दफे दर्शन होते ही दर्शककी बुद्धिसे अन्य सर्व दृश्य पदार्थोंकी रुचि हट जाती है—वह यकायक इस भण्डारीका सेवक

होकर स्वात्मानंदका भोग नित्य प्राप्त करता हुआ अपनी शक्तिको दिनपर दिन बढ़ाता है, क्योंकि इस स्वात्मानंदके भोगमें आत्मबलकी भी वृद्धि होती जाती है। वास्तवमें जो भवसागरके भ्रमणसे उदास हो और विषयवासनासे उन्मुख हो स्वहित करना चाहते हैं उनको इस भण्डारीकी संगति सदा करनी चाहिये।

३८१--पर्वत गुफा।

एक ऐसी अमूल्य गुप्त पर्वतकी गुफा है कि जिसमें बैठनेवालेको कोई पर पदार्थ स्पर्श नहीं कर सक्ता है। न वहां क्रोध, मान, माया, लोभके मल जासक्ते हैं, न कोई द्रव्यकर्म ही प्रवेश कर सक्ते हैं, न वहां नोकर्मोंका गमन होसक्ता है। वह परम स्वच्छ है, आस्रव बन्धसे रहित है। उस गुफामें तिष्ठनेवालेको बिना कहीं गए हुए भी सब लोकालोक बिना किसी प्रयत्नके दिखलाई पड़ते हैं तथा वीतरागता समता तथा स्वाभाविक आनन्दका सदा साम्राज्य रहता है। स्वानुभवमई इस गुफामें रहना ही इस आत्मारामका कार्य है, जहां निरंतर ज्ञान चेतनाका अनुभव होता है, कर्म व कर्म फल चेतनाका वहां कुछ काम नहीं है। गुफाका निवासी साधुओंका परम साधु है, योगीश्वरोंका ईश्वर है, जगतकी प्रशंसासे प्रशंसित नहीं होता है, जगतकी निंदासे निंदित नहीं होता है। न वहां कोई विकार है, न कोई कारबार है वहां अपने स्वभावका ही कर्तापना और अपने स्वभावका ही भोगतापना है। अनन्तकाल होजानेपर भी गुफा निवासी इस गुफाको नहीं त्यागता। एक प्रकारके अतींद्रिय आनदमें मगन रहता हुआ कभी भी नहीं घवड़ाता, न कभी इधर उधर जानेकी ही इच्छा करता है

इस गुफाके वासीको भूख, प्यास, गर्मी, शरदी, डांस, मच्छर, शोक, रोग, जन्म, मरण आदि कोई दोष नहीं सताते। निरन्तर एकाकी स्वभावमें रहता हुआ अपूर्व आत्मानन्दका भोग करता है।

३८२–वीरता।

जो कोई इस जगतमें वीर प्राणी है वे श्री वीरनाथके समान वीर होकर अपनी निज सत्ताकी भूमिमें दृढ़तासे जमे रहकर उत्तम क्षमादि दस सेनापतियोंको स्वरक्षाके कार्यमें नियत करते हुए तथा अपने योगमई दुर्गको निष्कम्प रखते हुए अपनी स्वानुभूतिमई वीर्यकी महिमासे ऐसी वीरता प्रगट करते हैं कि कोई रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म उनके प्रदेशोंमें प्रवेश नहीं कर सक्के। पांच इंद्रियोंकि विषयोंकी इच्छाएं जो चोरोंकि समान ज्ञान व शांतिको चुरानेवाली हैं तथा क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय जो लुटेरोंकि समान सुखशातिमई धनको लूटनेवाले हैं, इन वीरोंकी वीरताके प्रभावसे उनकी परछाईके पास भी नहीं आ सक्के हैं। ये वीर निर्विकल्प समाधिमें तन्मय होरहे हैं। परमानन्दका स्वाद निरन्तर लिया करते हैं। इनकी वीरता अनुपम है। यह अपनी वीरतासे तीन लोक विजयी होरहे हैं। जो संसारी प्राणी इस वीरतासे रहित हैं वे इस वीरताको प्राप्त करनेके लिये इन वीरोंकी वीरताका नित्य स्मरण किया करते हैं। उस वीरताको वारवार धन्यवाद है जिससे विना किसी परालम्बके ये वीर स्वराज्यमें मस्त हो अपनी सत्ताके देशमें निवास करनेवाले गुणरूपी प्रजाओपर निष्कंटक राज्य कर रहे हैं।

३८३—सुधावृष्टि ।

जब एक कोई चैतन्य गुणधारी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित हो अपने ही आपके मनोहर शांतमय स्थानमें ठहरता है और वहां निराकुल हो विश्राम करता है तब इसको हर समय सुधावृष्टिका अद्भुत आनंद आता है। स्वरूपमें आशक्तता होते ही स्वानुभवके मेघोंकी घटा छाजाती है और उससे मन्द मन्द अमृतकी वर्षा होने लगती है। इस वृष्टिसे उस भव्यको उसी तरह सुख होता है जैसे जलकी वृष्टिसे पपीहा और दादुरको। इस सुधाकी वर्षासे आप ही आप जो कुछ कर्मरज आत्म प्रदेशोंपर होता है वह सब धुल जाता है और आत्मा परम स्वच्छ होता हुआ अपने स्वभावमें ही कल्लोल किया करता है। इसके स्वाभाविक साम्राज्यमें अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत वीर्य आदि इसके सहवासी इसकी सभामें वैठते है—सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र दोनों मंत्री इसके पास वैठे हुए इसे स्वानुभवके परम मंत्रको दिया करते है। वीतराग विज्ञान सेनापति ऐसा प्रभावशाली सभामें वैठता है कि जिसके प्रभावसे क्रोध, मान, माया, लोभ जो आत्माके बड़े कट्टर शत्रु हैं कभी इस स्वाभाविक राज्यमें प्रवेश करनेका साहस नहीं करते हैं। समतादेवी शांतरसका अद्भुत नृत्य करती है और अध्यात्मिक भावनारूपी गान गाकर सर्व सभा निवासियोंको शांतरसमें भिगोकर परमशांति प्रदान कर रही है। स्वात्मजनित सुधाकी वृष्टि कभी बंद नहीं होती है इससे यह भव्य जीव कभी भी भवतापोंकी उष्णताको नहीं अनुभव करता हुआ सदा शांत, शीतल और सुखी बना रहता है।

३८४—भावनाका भक्त।

एक ज्ञानी आत्मा जब अपनेमें देखता है तो एक महारूप-वान अनुपम अमूर्तीक चैतन्यमई ईश्वर परमात्माको वड़ी सजधजसे स्वात्मानुभूतिकी गद्दीपर वैठेहुए पाकर उसके रूपमें मोहित हो जाता है तथा यह उत्कंठा पैदा कर लेता है कि किसी भी तरह इस परमात्माका सच्चा भक्त वन जाऊं। यकायक ध्यान आता है कि जो भावना भाता है वही भक्त होजाता है। भक्तिके अर्थ यह है कि भावना करनेवाला स्वयं उस रूप होजाता है पुनः पुनः धारावही एक भावकी संगति ही एकीभावका साधन है। यह परमात्मवेदी सर्व विकल्पजालोसे मुह मोड़कर जगतकी सर्व चिंताओंको त्यागकर एकध्यानमय होकर भावनाका सच्चा भक्त बनकर इस तरह मनन करता है—(१) मैं स्वय सम्यक्दर्शनकी शुद्धिका धारी हूं। (२) मै अपने अनंत शुद्ध गुणोंका आप ही आदर करनेवाला हूं, (३) मेरा शील मेरा ज्ञान दर्शन स्वभाव है, मेरा व्रत मेरे स्वरूपमें आचरण है—मैं अपने शील और व्रतमें निर्दोष रमण करता हूं। (४) मैं निरन्तर ज्ञानसागरमें जलमें मत्स्यवत् कल्लोल करता हुआ मग्न रहता हूं। (५) मेरा अनुराग मेरे स्वाभाविक धर्मसे अटूट बना हुआ है—मुझे संसारके विकल्पजालोंसे कुछ काम नहीं है। (६) मैं अपने वीर्यके बलसे सर्व ही परभाव परद्रव्य परपर्याय व परगुणोंका त्यागी हूं, परंतु अपने ज्ञानदर्शन सुख चारित्रादि गुणोंका कभी त्याग नहीं करता हूं। (७) मैं सर्व परकी इच्छाओंका अपनेमें अवकाश न पाता हुआ अपने परम तेजस्वी स्वभावके तेजसे ऐसा तपायमान होरहा हूं कि कर्माश्रवोंको

मेरे पास आना सर्वथा अशक्य है । (८) मैं अपने साधु स्वभावी आत्मप्रभुके भावोंमें विकल्पोंके उपसर्गोंको आते देखकर स्वसमाधिके तीव्र शस्त्रसे उनको एकदम हटाकर साधु समाधि कर रहा हूं । (९) मैं आप ही अपने असंख्यात प्रदेशकी भूमिकाको परम स्वच्छ रखता हुआ ऐसी उसकी वैय्यावृत्य करता हूं कि किसी तरहके मैलका प्रवेश वहां नहीं होने देता हूं । (१०) मेरा आत्मा स्वयं परम पूज्यनीय अरहंत है उसीमें रमना यही मेरी अर्हत्भक्ति है । (११) मेरे आत्मामें ऐसा परम गुरुपना है कि यह आप ही आपको आपमें आचरण कराता है—कभी उसे परके आचरणमें जाने नहीं देता है, मैं इसी अपने गुरुकी सेवामें एक चित्तसे लीन हूं । (१२) मैं ज्ञान समुद्र होता हुआ सर्व शास्त्रज्ञानभावका स्वामी हूं—इस अपने ही उपाध्यायसे मैं ज्ञानपरिणतिकी शिक्षा लिया करता हूं । (१३) मेरा शास्त्र मेरा ज्ञान है जहां सर्व पदार्थोंका यथार्थ स्वभाव झलक रहा है । मैं अपने इसी शास्त्रका मननकर शास्त्रभक्ति कर रहा हूं । (१४) मेरा आवश्यक कर्म मेरा स्वाधीन आत्मसंवेदन है इस कर्मको मैं तीन कालमें भी छोडनेवाला नहीं हूं । (१५) मैं अपने उस मार्गको—जिससे चलते हुए मैं ज्ञानानंदका विलास कर रहा हूं—सदा उद्योतमय करता रहता हूं । उसके प्रकाशके आकर्षणसे अन्य भव्य जीव भी अन्य प्रकाशसे विमुख हो उसीकी सेवा करने लग जाते हैं । (१६) मैं सर्व लोककी अनंत आत्माओंको आप समान जानता हूं—उनके साथ साम्यभाव रूपी प्रेममें एकमेक होरहा हूं । इसतरह आत्म—भावनाका परमभक्त होता हुआ जो स्वाभाविक शांतिका लाभ कर रहा हूं उसका अनु-

भव अनुभवगम्य ही है। जो जानै वह जानै वह कह नहीं सक्ता है। धन्य हैं जो ऐसी षोड़शकारण भावनाके भक्त हैं। वे ही निश्चयधर्मके मननकर्ता स्वात्मरस पिपासु हैं।

३८५-दशलक्षण धर्म।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व प्रपचजालोंसे रहित होकर जब अपने स्वभावपर दृष्टिपात करता है तब वहां दशलक्षणधर्मकी छाप अंकित पाता है। उसके स्वभावमें ये दश गुण सर्वांग व्याप्त हैं। उनको यदि एक शुद्ध निश्चय दृष्टिसे देखा जावे तो इन गुणोंका स्वामी एक आत्माराम ही दिखलाई पड़ता है। वहां कोई भेद अनुभवमें नहीं आते हैं तौ भी जब भेदभावसे देखने लगते है तब ये दश गुण भिन्न२ भी नजर पड़ जाते हैं। इसमें परम सुहावनी उत्तम क्षमा परमशांति वरसा रही है। इस शातिके भग करनेके लिये क्रोध कषायके प्रबल दल सामने आते हैं परन्तु इसकी शांत छबिसे मोहित होकर स्वयं भय खाकर भाग जाते हैं। परीक्षा करनेको यदि उपसर्गके पत्थर वरसाते हैं तौ भी उस उत्तम क्षमाको अडोल पाकर लज्जित हो चले जाते हैं। उत्तम मार्दवके कारण ऐसी नम्रता व्याप रही है कि इसके सहभावी जितने गुण हैं वे सब इसकी नम्रतासे प्रसन्न हो परम एकतासे निवास कररहे हैं। मान-कषाय इस नम्रताके मेटनेको वज्रमई पर्वतोकी वर्षा करता है परन्तु वे सब इस अद्‌भुत नम्रतासे उत्पन्न परम तेजकी विजलीके प्रभावसे छिन्नभिन्न हो दूर, गिर जाते हैं। उत्तम आर्जव अपनी सरल निष्कपट मूर्तिको धरता हुआ मायाचारके जालोंमे कभी नही आता है। माया राक्षसी अनेक प्रपंच रचती है पर वे सब इस उत्तम

आर्जवके सामने व्यर्थ पड़ जाते हैं। इसकी संगतिमें वास करनेवाले सर्व आत्मीक गुण अपनी कुछ भी हानि न पाते हुए परम विश्वासके साथ रहा करते हैं। उत्तम सत्य असत्यकी दुर्गंधोंसे बाहर रहकर अपनी सुकीर्तिमई निर्मल श्वेत प्रभाको विस्तारता हुआ यथार्थ स्वपर वस्तुको जानता हुआ ज्ञानकी छटाके द्योतनमें परम सहायक होरहा है। उत्तम शौच बड़ा वीर है, संतोषामृतसे इस कदर तृप्त है कि अनेक मोहनीय पदार्थ लोभ कषायके द्वारा भेजे जाते हैं तौ भी इस वीरकी पवित्रतामें मलीनता नहीं आती है। यह उत्तम शौच आत्मामें भरे हुए सुखामृतके स्वादसे परम तृप्त है। उत्तम संयम इस आत्माके चारों तरफ संवरका कोट रचे हुए परम वीरतासे आत्मीक सम्पत्तिकी रक्षा कर रहा है, किसी भी अविरति चोरको व हिंसा राक्षसीको प्रवेश नहीं होने देता है। उत्तम तप आत्माकी भूमिमें अग्निके समान तप्तायमान होता हुआ जो कर्मोके बादल आनेका साहस करते हैं उनको अपनी उष्णतासे छिन्न२ करके नष्ट कर डालता है। पाप पुण्य कर्म कोटि यत्न करनेपर भी इस वीरके प्रभावसे अपना अड्डा आत्माके देशमें नहीं जमा सक्ते है। उत्तम त्याग परम उदारताके साथ प्रसन्नमुख बैठा हुआ चारों ओर शांति और आनन्दका दान वर्षा रहा है। जो कोई भी व्यक्ति इस आत्माके निकट आते हैं वे स्वयं इस दानको पाकर परम संतोषी होजाते हैं। उत्तम आकिंचन एक ऐसा रक्षक है जो इस आत्मीक देशमें किसी पर द्रव्यके गुणको वसने नहीं देता है किंतु आत्मीक सर्व गुणोंको किसी भी तरह जाने नहीं देता है। इसने पूर्ण वैराग्यका और साम्यभावका प्रभाव फैला दिया है। उत्तम

ब्रह्मचर्य परम शील स्वभाव व आत्मसमाधिमें आत्माको जाग्रत रखता हुआ उसे कभी किसी भी कुशीलकी नींदमें सोने नहीं देता है। इस तरह अपने सहभावी दशलक्षण गुण रूपी दस मित्रोंकी अमिट संगतिमें रहा हुआ यह आत्माराम जिस सुधाका पानकर आनंदित होरहा है उसका वर्णन किसी भी तरह नहीं होसक्ता है। इस दशलक्षणमय आत्मारामकी सदा जय हो।

३८६–रत्नत्रयका दर्शन।

एक ज्ञानी आत्मा अपनी सत्ताकी भूमिमें जब देखता है तब वहां उसको अनुपम रत्नत्रयका दर्शन होजाता है। वहां सम्यग्द-र्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र तीनो ही रत्न अपनी पूर्ण छटाके साथ प्रकाश करते हुए आत्माकी मनोहरताको झलका रहे हैं। इन रत्नोंके महत्वसे कोई विभाव भाव व कोई अचेतन द्रव्य व अन्य चेतन द्रव्य किसी भी तरह आत्माकी निर्मल भूमिमें प्रवेश नहीं कर पाते हैं। ऐसी स्वच्छताको देखकर आत्मानुभूति आती है और चेतनको आलिंगनकर परमानन्दकी मगनता बताती है। इस अनुभव दशामें ज्ञानी आत्मा एक शुद्ध शात निर्विकल्प समा-धिमें लीन है, पुनः पुनः रत्नत्रयका दर्शन अपूर्व शांति प्रदान-कर रहा है, मेरा पूज्य देव मैं हूं, मेरा पूज्य गुरु मैं हूं, मेरा पूज्य भावश्रुत मैं हूं, मेरा जीवत्व मुझमे है, मुझमें अजीवत्व नहीं है, न आस्रव है, न बंध है, मेरा संवर मैं ही हूं, मैं स्वयं परकी निर्जरा व परसे मोक्ष स्वरूप हूं, इसी तरह निज देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा व सात तत्त्व श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। आपकी भूमिमें रहना व अपने

रत्नत्रयका विलास होना उपादेय है, परकी भूमिमें जाना व परका भोग करना हेय है ऐसा ज्ञान सम्यग्ज्ञान है । तथा परद्रव्य, परभाव, तजकर आप द्रव्य व आपभावमें लीन होना सम्यक्चारित्र है । इन तीनको भिन्न २ देखना छोड़कर एक ज्ञानी मात्र अपनेको ही देखता है, तब इन तीनके भेदका विकल्प न करके इन तीनोंका एक रूप अपूर्व स्वाद पाता है । वास्तवमें आत्मदर्शन ही रत्नत्रयका दर्शन है । जो रत्नत्रयके स्वामी हैं वे ही मोक्षगामी हैं ।

३८७-प्रतिक्रमण ।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित हो निश्चय दशलक्षण धर्म, निश्चय रत्नत्रय धर्म, निश्चय षोडशकारण धर्ममें तन्मय होकर अपने गत सर्व दोषोंके मिटानेके लिये निश्चय प्रतिक्रमणका साधन करता है । इसलिये निज आत्मीक भूमिमें परम एकतासे आसन जमाकर बैठ जाता है । रागद्वेष मोहके प्रवेश न होने देनेके लिये गुप्तिमय कपाट लगा देता है । अंतरङ्गमें समताका किला बनाकर स्वानुभव रसके वेदनमें जब एकाग्र होजाता है तब द्वैतभावको मिटाकर अद्वैत एक शांत रसमे मग्न होजाता है । इस रसमें रसिक होकर अन्य रसोंका भाव हटा देना और आत्मीक स्वादमें लवलीन होजाना आत्माकी एक स्वाधीन अवस्था होती है इसीको प्रतिक्रमण आवश्यक कर्म कहते हैं । यह क्रिया सर्व गत दोषोंको मिटानेवाली है और आत्माको पूर्ण निर्मल करके उसे एक स्वतंत्र स्वविलासके रसमें उन्मत्त रखनेवाली है । मैं इसी प्रतिक्रमणसे अपनी क्षमावणी धार्मिक क्रियाको सफल कर रहा हूं और अद्भुत आनन्द लेता हुआ परम तृप्त होरहा हूं ।

३८८-अध्यात्म समर ।

मेरे सामने कषाय राक्षसोंकी सेना बहुत जोर बाधे खडी हुई है। अपने तीक्ष्ण व मलीन बाणोंसे मेरे क्षेत्रको गंदा कर रही है। मैंने भी अपना साहस बांधा है, निश्चय रत्नत्रयमई त्रिशूलको उठाया है और इसको एक चित्तसे फिराकर कषायोंके बाणोंको निर्फल करना प्रारम्भ कर दिया है। मेरा अध्यात्मसमर ऐसा विलक्षण है कि इसमें मोहकी सेनाकी हिसा होती है, परन्तु हिंसकको हिंसाका पाप बंध नहीं होकर उल्टा उसकी पूर्वबद्ध पापोसे मुक्ति होती है। इस समरमें न रौद्रध्यान है न कोई क्रूर भाव है परन्तु यहां परम-समता और शांतिका साम्राज्य है। शुद्ध आत्मानुभव रूप बाणोंकी वर्षा करते हुए भी समरकर्ता चेतनको अतीन्द्रिय आनंदका स्वाद आता है। इस समरमें सलग्न होनेसे संसारकी चिन्ताएं नहीं सताती हैं। अपने पुरुषार्थका यथार्थ पता इस वीरको ही लग रहा है। यह अपने आत्मवीर्य और ज्ञान दर्शनमई पौरुषसे अपनेको सिद्ध भगवानसे कम अनतबली नहीं समझता है। इसकी वीरताको देखते ही मोहकी सेना कांप जाती है और जैसे ही इसके शुद्धो-पयोगरूप बाण चलते है वैसे ही सेना इधर उधर भाग जाती है। भेद ज्ञानरूपी मित्र इस वीरको सच्ची सहायता कर रहा है। उसीके प्रतापसे यह मोहकी भेजी हुई परम सुन्दर तृष्णारूपी कुलटा स्त्रीके फंदेमें नहीं पड़ता हुआ अपनी अनुभूतितियाके ही सच्चे प्रेमसे वासित हो मोहके खड खड करके उड़ा देनेमें कोई कसर नहीं कर रहा है। आश्चर्य यह है कि इस समरको करते हुए वीर आत्माको न भूख है, न प्यास है, न गर्मी शर्दीकी बाधा

है, न कोई अन्य मानसिक या शारीरिक कष्ट है। यह परमतृप्ति और संतोषके साथ इस अध्यात्मसमरका जो आनन्द लेरहा है वह वचन अगोचर है।

३८९–ज्ञान–सुन्दरी।

एक शिवसुन्दरीका रसिक रातदिन उसके द्वारपर धूनी रमाए पड़ा हुआ है। चाहता यह है कि किसी भी तरह उस सुंदरीकी ज्ञान-सुन्दरी प्राप्त होजावे जिससे उसका पाणिग्रहण होकर उसका अपूर्व सुख प्राप्त हो। इस ज्ञानसुन्दरीकी अपूर्व शोभा है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीन रत्न जड़े हुए हैं। इन रत्नोंसे चमकती हुई यह ज्ञानसुन्दरी अपनी उपमा तीन लोकमें नहीं रखती है। इसका दर्शन मात्र चित्तको आनंद देनेवाला है। जो इस ज्ञानसुन्दरीको पहिन लेते हैं उनको स्वात्मानुभवका अपूर्व स्वाद आता है। वे अपनेको किसी भी तरह सिद्धसे कम नहीं समझते हैं। उनको अपनी सत्ताका यथार्थ निश्चय रहता है। इस ज्ञानसुन्दरीके प्रतापसे उसको यह संसार जीव और पुद्गलका मिश्रित एक विचित्र नाटकसा दिखता है। जगतके चेतन अचेतन पदार्थोंकी अनेक अवस्थाएं उसके मनको विकारित नहीं करती हैं। वह सिवाय अपनी शुद्ध परिणतिके किसी भी विभाव परिणतिका कर्ता भोक्ता अपनेको नहीं मानता। यद्यपि संसारमें रहता है तथापि वह अपनी स्थिति मुक्ति हीमें मानता है। ज्ञानसुन्दरीमें वास्तवमें जादूका असर है। जब यह नहीं होती है तब यह जीव अपनी सत्ताको नहीं पहचानता हुआ परकी परिणतिमें अपनी परिणति मान दुःखी सुखी हुआ करता है। ज्ञानसुन्दरीकी संगति होते ही भ्रम भाव मिट जाता

है और वस्तु तत्वका सच्चा प्रकाश होजाता है। धन्य हैं वे जीव जो इस ज्ञानसुन्दरीको शिवसुन्दरीसे पाकर शिवसुन्दरीके स्वामीपनेको प्राप्त करलेते हैं।

३९०–ज्ञानकी धारा।

परमानन्द पदधारी, परमात्म गुणविहारी, सर्वज्ञेय ग्रहणकारी शुद्धात्माराम सर्व विभाव भावोको दूर कर ज्ञानकी धारामें स्नान कर रहा है। यह धारा अनन्तज्ञेयोकी पर्यायरूप तरंगोंसे कल्लोलित होती हुई लोकालोककी उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप विचित्र शोभाको प्रकाशती हुई पूर्ण शांत और आनन्दमई गुणरूपी जलसे परिपूर्ण है–इस धाराका जल क्षीर समुद्रके जलके समान निर्मल है। इसमें न क्रोध, मान, माया, लोमरूप मगरमच्छ हैं, न हास्य रति आदि नो कषायरूप क्षुद्र मच्छ है, न अन्य मलीन भावोंकी आवलीरूप विकलत्रय है। इस शुद्ध भावरूपी जलमें कभी मलीनता नहीं आती। इस ज्ञानधारामें मज्जन सर्व चिंता और विकारोको दूर करनेवाला है। यह क्षीरसागरके जलसे भी अत्यन्त पवित्र है। वह जल पौद्गलिक शरीरको स्वच्छ करता है, परन्तु यह ज्ञानरूपी जल आत्मारामकी शोभाको बढाता है। इस जलका पान परम तृप्तिका कारण है। सिद्धोंका इसी जलमें स्नान रहता है, अरहंत भी इसीमें ही मग्न रहते हैं व आचार्य उपाध्याय साधु भी इसी जलकी अवगाहनासे कर्ममल धोते हैं। सम्यग्दृष्टीका इसी स्नानसे प्रेम है। वास्तवमें यह ज्ञानधारा ही एक धारा है जो अखंड नित्य स्वावलम्बरूप तथा अमृतानंदसे पूर्ण है। यही सच्चा गंगास्नान है जो परम शुचितारूप है।

३९१-निज स्वत्व.

संसारमें हरएक द्रव्यको अपने स्वत्वकी रक्षा करनेका स्वत्व है। हरएकका स्वत्व हरएकमें शाश्वता विराजमान रहता है। किसी शक्तिमें यह शक्ति नहीं है कि उस स्वत्वकी शक्ति हरणकर उसको निःशक्ति कर सके। अनादिकालसे पौद्गलीक कर्मोंने चेतनकी गाढ़ संगति की तौभी वे आत्मारामका जरा भी बाल वांका न कर सके। यह आत्मा अपना स्वभाव ज्योंका ज्यों रखता हुआ कर्मोंके द्वारा अनेक परीषह व उपसर्ग सहन करनेपर भी अपने स्वत्वको स्थिर रख सका, क्योंकि वस्तुका स्वभाव कभी भी मिट नहीं सक्ता है यह नियम है। यह आत्मा अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यका धारी परम अविकारी, निजगुण विहारी, निज परिणतिका कर्ता व निज नूतन स्वाभाविक आनन्दका भोक्ता, अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी, सदा अपने अगुरुलघु गुणके द्वारा स्वाभाविक पर्यायमें उत्पाद व्यय करता हुआ, अपने शुद्ध द्रव्यत्वको सदा ध्रौव्य रखता हुआ इस समय मेरे शरीररूप देवालयमें विराजमान है। यह मेरा क्षेत्र सिद्ध-क्षेत्रसे किसी भी तरह कम नहीं है। यह मेरा आत्मा निरंतर अपने स्वत्त्वको रक्षित रखता हुआ अपने अनुभवसे प्राप्त अनुपम अतीन्द्रिय आनन्दका विलास करता हुआ परम सुखी और परमतृप्त होरहा है।

३९२-सत्य मार्ग।

मार्गमें चलते हुए मालूम नहीं है कि यह सत्य है या असत्य। जहां चलनेवाला भिन्न और मार्ग भिन्न हो वहां तो भ्रमका काम है, परन्तु जहां आप ही चालक आप ही मार्ग वहां भ्रमका क्या

नाम है? सत्य मार्ग आप आपी है। मैं शुद्ध ज्ञानानंदमई अमूर्तीक पदार्थ हूं, यही श्रद्धा सम्यग्दर्शन है; मैं शुद्ध ज्ञानानंदमई अमूर्तीक पदार्थ हूं, यही संशय रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, मैं शुद्ध ज्ञानानंदमई अमूर्तीक पदार्थ हूं, इसी भावमें थिरता यही सम्यग्चारित्र है। बस जहां आप अकेला हो, परसे निराला हो—भाव कर्म, द्रव्यकर्म नोकर्मसे सर्वथा भिन्न हो। जैसा कुछ आप है उसीमें आपका विहार करना यही सत्य मार्ग है। कहनेको मार्ग, मार्गगामी, मार्गका लक्ष्य तीनों भिन्न है, परन्तु वास्तवमें ये तीनों एक आप ही है। जो आप ही आपमें मस्त होकर अपनी स्वात्मानुभूतिमई मदिराका पान करता है वही उन्मत्त होकर सर्व संसारका प्रपच भुला देता है और प्रपंचरहित सरल स्वभूमिमे ही कल्लोल करता है। सत्यमार्गमें भय, क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि लुटेरे नहीं हैं, न यहां इंद्रियोंको लुभानेवाली विषयवासनाओकी दूकानें हैं। न कोई यहां प्रमाद लानेवाला ऐसा स्थान है जहापर यह प्रमादी सोकर सत्य मार्ग तय करनेमें आलस्य करे। यह सत्य मार्ग ऐसा सुखप्रद है कि संचालकको दीर्घकाल चलते हुए भी कोई तरहकी थकावट नहीं मालूम होती है। प्रत्युत समय२ आत्मबलकी वृद्धि और आनंदका समा छाया रहता है। धन्य हैं वे जो सत्य मार्गसे स्वयं स्वाधीन होजाते हैं।

३९३–वेदीमें देवता।

आज मैंने अपने आत्माके प्रदेशोंमें परम शुद्ध रत्नत्रयमई वेदी निर्माण की है। जिसमें परम शुद्ध आत्माके शुद्धोपयोगरूप देवताको स्थापन किया है। इस देवताकी पूजा करते हुए मैं स्वा-

नुभव रसको पाता हूं। इसमें छः रसोंसे भिन्न एक अपूर्व अतींद्रिय आनन्दका स्वाद है, जिस स्वादमें योगीगण नित्य मगन हो अमृतका पान किया करते हैं। स्वानुभव रस वेदनसे संसारका प्रपच दृष्टिसे हट जाता है। मैं कौन हूं, पर कौन है, कौन वेदनकर्ता, कौन वेदने योग्य, यह सब विकल्पजाल न मालूम कहा चला जाता है। देवता और भक्तजनका भेद इस निरालम्ब और स्वतंत्र भक्तिमें नहीं रहता है। स्वानुभवमें अद्वैतका भान होता है, परन्तु जिसे भान होता है उसको तत्त्व द्वैत है या अद्वैत है यह खबर कुछ भी नहीं रहती है। वास्तवमें जो किसी मजेमें मस्त होजाता है उसे आपेकी भी खबर कैसे रह सक्ती है। उन्मत्तोंकी उन्मत्तता विलक्षण है—न वहां मनका काम है, न वचनकी वकवक है, न कायका वर्तन है। तीनोंके झगड़ोंसे रहित होकर जो आप ही आपमें मस्त होता है वही उन्मत्त, समता रस भोगी, अद्भुत योगी, अयोगी, अरोगी और अशोकी है। जिस देवताकी पूजा करता है यह भिन्न है, व अभिन्न है वह उन्मत्त इस विकल्पसे भी दूर है। निज वेदीमें देवताकी पूजाका यही विधान है।

३९४--स्वयात्रा।

आज मै संसार यात्राको तजकर और सर्व परालम्बनोंसे बुद्धि हटाकर मात्र स्वयात्राके लिये ही तय्यार होगया हूं। स्वस्वरूपकी यात्रा ही वास्तवमें एक अपूर्व तीर्थ यात्रा है। जो इस यात्राके प्रेमी हैं वे किसी भी आश्रयकी इच्छा न करते हुए एकचित्त हो अपने ही आत्माके श्रुतज्ञान कथित स्वभावमें पुनः पुनः मग्नता प्राप्त करते हुए मोक्ष द्वीपकी ओर यात्रा करते चले जाते हैं।

यदि देखा जावे तो वह मोक्ष द्वीप भी आप ही है तथा आप ही मोक्ष द्वीपका परम पवित्र निःकंटक मार्ग है। इस यात्राको करनेवालेके मनमें क्षुधा, तृषा, खेद, क्लेश, निद्रा, शीत, उष्ण, आदिकी बाधाएं नहीं होती हैं। न वहां आर्त्त व रौद्रध्यानके विकल्प हैं। न वहां कोई अन्य द्रव्य अपना प्रभाव जमा सक्के हैं। इस यात्राके कर्ताको पद पद पर सुख शांतिका अनुभव प्राप्त होता है। समता सखी इसकी संगतिमें विहार करती हुई अपूर्व आनन्दके भोगमें निर्बाध भावका उत्थान कर रही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूपी परम मित्र भी इस यात्रीके संगको किसी भी समय नहीं छोड़ते हैं। उत्तम क्षमा आदि दश-धर्म भी परम भक्तिसे इसके साथमें होरहे हैं। समता आदि जितने साथी हैं वे भेद दृष्टिसे भिन्न २ कहे जाते हैं, परंतु अभेद नयसे वे सब इस यात्रीके अमिट अंग है। यह यात्री इस स्वयात्रामें विहार करता हुआ जिस आनन्द रूपी अमृतका पान कर रहा है उसका वर्णन वचनातीत है।

३९५--मेरा घर।

मैं जब अपने घरको देखता हूं तो वहां अपूर्व अटूट संपत्तिको पाता हूं। देखतेके साथ ही पर घरमें जानेकी चिन्ता मिट जाती है-जो कुछ इष्ट है वह सब निज घरमें मिल जाता है। यदि मैं यह चाहूं कि तीन लोकके तीनकालवर्ती पदार्थोंकी सर्व अवस्थाको देख लूं तो मैं इन सब दृश्योंका एक साथ वहां दर्शन पाता हूं। यदि मैं सुख-शांतिका भोग करना चाहूं तो वहां इस शक्तिका अटूट भंडार भरा मिलता है। यदि मैं शयन करना चाहूं तो समता और

मृदुताकी परम कोमल शय्या प्राप्त होजाती है। यदि मैं रमण करना चाहूं तो स्वानुभूति-तिया आकर परम प्रेमसे रमाने लगती है। यदि मैं पढ़ना चाहूं तो भावश्रुत सामने आजाता है जिसका पाठ करते हुए परम संतोष होता है। यदि मैं व्यायाम करना चाहूं तो स्वभाव रूपी अखाड़ा मिल जाता है। वहां मैं रत्नत्रयके शस्त्रोंसे कसरत करके परम आल्हादित होजाता हूं। यदि मैं गान करना चाहूं तो निजगुणावली नामका वाजित्र आजाता है, उसको बजाता हुआ मैं स्वानुभवकी लम्बी तान देता हूं और इस अपूर्व तानरूपी गानमें उन्मत्त होजाता हूं। यदि मैं स्नान करना चाहूं तो भेद ज्ञानरूपी निर्मल सरोवरमें प्रवेश करता हूं, जहां सर्व परसंसर्गरूपी मलको हटाकर मैं परम शुद्ध सिद्ध सम स्वच्छ होजाता हूं। यदि मैं पूजा करना चाहूं तो निज परमात्म देव-जो मेरे हृदय-देवलमें विराजित हैं उनका पूजन मैं समयसार सम्बन्धी आठगुणरूपी आठ द्रव्योंसे करके परम आल्हादित होजाता हूं। वास्तवमें मेरा घर मेरे सर्व उपभोगका अनुपम धाम है, अब मैं इस परमधामको ही अपना अविनाशी ठिकाना बनाकर उसीमें अनंतकालके लिये विश्राम करता हुआ आनंदित रहता हूं।

३९६-परम रस।

एक तृषातुर अनादि कालसे इंद्रिय विषयके रसको पान करता हुआ अतृप्तिको पाकर चिर दुःखित होरहा था। यकायक उसको स्मरण होजाता है कि अनादि तृषाको बुझानेवाला, अद्भुत तृप्तिको करनेवाला, आनंदकी घटाको विस्तारनेवाला एक ऐसा परम रस मेरे ही भीतर विराजित आतमारामकी सत्तामें है कि जिस

रसको अमृत कहा जाता है। वास्तवमें वह अमृत है, क्योंकि जो इस रसका निरंतर पान करता है वह अवश्य अमर होजाता है इस परम रसके लाभके लिये वह सब सर्व ओरसे परांगमुख होकर एक निज आत्माकी ही ओर सन्मुख होजाता है। अपना सर्वस्व अपने ही आत्म प्रभुकी आराधनामें अर्पण कर देता है। बस क्या था, एकदम निज प्रभुकी कृपा होती है और वह परम रसका पान करने लग जाता है। इस अमृतकी घूटके लेते ही, इंद्रियका विषय रस हेय और अस्पृश्य है, यह श्रद्धा पूर्णपने जम जाती है, वीत-रागता और समताकी मनोहरता छा जाती है और थोड़ी देर इस अमृतको लेते ही यह उस आत्मरसके प्रेममें ऐसा उन्मत्त होजाता है कि इसको सिवाय इस एक अध्यात्म भावके और कुछ जगतमें नहीं दिखता है। भले ही जगतमें अनन्त अन्य आत्माओंकी सत्ता रहे, पुद्गलादि द्रव्य बने रहें तथापि इसके स्वानुभवमें सिवाय एक अध्यात्म भावके दूसरा भाव रंचमात्र भी नहीं है। यह सिद्ध भगवानके समान स्वरस पान करता हुआ जो अपूर्व आनंद लेरहा है वह मन वचन कायकी पहुंचसे वाहर है, लिखे कौन और कहे कौन ? जो जाने सो जाने, जो न जाने सो न जाने।

३९७-पथिकका संचरण।

ज्ञातादृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व व्यापारोंको वन्द करके एकाग्र चित्त होकर मोक्ष नगरमें जानेके लिये प्रस्थान कर रहा है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमई निश्चय रत्नत्रयसे वनी हुई आध्यात्मिक गाडीपर आरूढ़ होकर चला जारहा है। इस गाड़ीमें भेदज्ञान और वैराग्यके शीघ्रगामी अश्व जुते हुए है। विवे-

करूपी सारथी इस गाड़ीको संसार मार्गसे बचाकर केवल मोक्ष-मार्गपर ही लिये जारहा है। निर्ग्रन्थताके निर्मल वस्त्रसे मढ़ी हुई यह गाड़ी कषायकी कालिमासे पूर्णपने विरहित है। इस गाड़ीमें आत्मवीरने धर्मध्यान और शुक्लध्यानके अमोघ शस्त्रोंका संग्रह कर रक्खा हैं। मार्गमें मोहरूपी राजाके प्रेषित संकल्प विकल्परूपी योद्धा इस पथिकको इस अध्यात्मिक गाड़ीसे गिराकर अपने आधीन करनेके लिये आते हैं; उनको यह वीर अपने शस्त्रोंसे संहार करता हुआ चला जारहा है। जब इसको क्षुधा लगती है तब यह इस गाड़ीमें धरे हुए स्वानुभवरूपी अमृतका भोजन करता है, जब इसको प्यास लगती है तब यह शांतिरूपी जलको पीता है, जो इस ही गाड़ीमें परम शुद्ध समताकी झारीमें भरा हुआ है। इस गाड़ीमें एकलयताका मनोहर बाजा बज रहा है, जिसकी ध्वनिमें यह पथिक मस्त हो रहा है। इस गाड़ीके यात्रीको कभी निद्रा या तंद्रा नहीं सताती है—सदा ही जागृत रहता हुआ यह वीर मोहके आक्रमणोंसे बचता हुआ व स्वस्वरूपमें आशक्त होता हुआ चला जारहा है। इस यात्रामें जो अद्‌भुत आनन्द इस पथिकके अनुभवमें आ रहा है उसका वर्णन किसी भी वचनसे नहीं हो सक्ता है।

३९८—अद्भुत बाजा।

आज मेरे भीतर बड़ा ही आनन्दमय स्वानुभव रूपी बाजा बज रहा है, परन्तु यह बड़ा ही अद्‌भुत है। इसकी ध्वनिमें यद्यपि आत्माराम मगन है तथापि यह शब्दसे रहित है और न यह कर्ण इंद्रियसे सुनाई देती है। इसकी मगनतामें जो सुख स्वादमें आरहा है वह तीनलोकमें विलक्षण है। वह बिल्कुल स्वाधीन है। उसके

लिये किसी पर वस्तुकी आवश्यक्ता नहीं है। इस अद्भुत ध्वनिको जो प्रकाशे वही समझ सक्ता है। दूसरे व्यक्तिकी गम्य नही है जो इसको सुन सके। इस बाजेका बजानेवाला इस बाजेसे एक रूप ही है। दोनोंका कभी पृथक्पना नहीं होता। इस बाजेमें पुद्गलकी गंध भी नहीं है। यह मात्र चैतन्य रूप है। चेतनामय बाजा चेतन प्रभुका अद्भुत शस्त्र है। इस बाजेमें मगन रहते हुए प्रभु न किसीको देखते हैं, न किसीके जाननेका प्रयास करते है तथापि ऐसा कहते है कि प्रभु सब देखते है व सब जानते है, सो बात भी ठीक ही है। ज्ञाता ज्ञेयका परस्पर सम्बन्ध है। जो ज्ञाता होगा वह सब ज्ञेयको जाने ही गा। अनन्त ज्ञेयोंका एक ही समय ज्ञाता होकर भी यह मात्र निज आत्मस्वादी ही होरहा है। इसकी महिमा इसहीके गम्य है। कोईकी शक्ति क्या है जो इसके वैभवको पहचान सके? वास्तवमें जो पहचाननेवाला है वही उस महिमाका धारी है; वही सुन्दर बाजेका बजैया परमानन्दमें मग्न हो परम संतोष पा रहा है।

३९९–ज्ञानकी ज्योति।

जब मैं सर्व तरफसे चित्तको हटाकर निज आत्माकी ओर दृष्टि लगाकर देखता हू तो वहां बडा ही अपूर्व प्रकाश देख रहा हूं। तलाश करने लगा कि वहां कौनसा ऐसा लैम्प है जिसका यह प्रकाश है? खूब अच्छी तरहसे देखनेपर भी कोई दीपक या लैम्प दिखलाई नहीं पड़ता है, तब जैसे ही अपने अंतःकरणमें विचार किया वैसे ही यह निश्चय होगया कि यह प्रकाश उस ज्ञान ज्योति का है, जिसका चर्मचक्षुओंसे देखना सर्वथा असंभव

है। वास्तवमें इस ज्ञान ज्योतिकी बहुत ही अपूर्व महिमा है। इसमें सर्व ही ज्ञेय पदार्थ अपनी सर्व पर्यायोंके साथ एक ही समयमें झलक रहे हैं। इस ज्ञान ज्योतिमें वस्तु स्वभाव अपनी पूर्ण महिमाके साथ प्रगट हो रहा है। वीतराग-विज्ञानता और उससे उत्पन्न आत्मीक आनन्दका कैसा स्वाद होता है वह सब इस ज्योतिमें प्रकाशमान है। यहां रागद्वेषादि विभावोंका कहीं नामोनिशान भी नहीं मिल रहा है। मैं दर्शक होकर आश्चर्यसे भर गया और यकायक चित्त इस ज्योतिकी शोभाके दर्शनमें ही संलग्न हो गया। बस क्या था—सारी दुनियां मेरे भावसे अलग होगई, मुझे अपनी भी कुछ सुध न रही, मैं एकाग्र भावसे देखते देखते उन्मत्त हो गया, स्वात्मानुभव जग गया, आनन्दामृतका प्रवाह बहने लगा। वह मजा पाया जो कभी नही पाया था। साक्षात् ब्रह्म ही भासने लगा। सर्व भवसंकटोंसे छूट गया। संसारनाटक नाटकवत् ही दीखने लगा। चेतन और अचेतन दोनं नग्न रूपमें झलकने लगे। यह ज्ञान ज्योति सदा जयवंत हो।

४००-स्वारस।

आज मैं सर्व पर रसोंके स्वादको छोड़कर एक निजरसका ई स्वाद लेरहा हू। इस निजरसमें कोई विकार नही है। यह निरंत आत्मसमुद्रमें भरा रहता है। जो मोहकी चादर ओढ लेता है उर यह समुद्र दिखाई नहीं पडता है। ज्यों ही मोहकी चादर फेंक जाती है त्यों ही इस आत्मप्रभुका दर्शन होने लगता है और म उसीका ही स्वाद लेनेमें उत्साहवान होजाता है तब निजरसव स्वाद आने लगता है। निजरसास्वादीका सर्व जगतसे सम्बंध छू

जाता है। वह मानो जागता हुआ भी निद्रितसा तथा मूर्छितसा रहता है। उसकी इस निद्राके भगानेके लिये वज्राघात भी काम नहीं देता है। परम संतोष और परमानन्दमें उसकी मग्नता होजाती है। कोई निन्दा करो व कोई प्रशंसा करो इससे उसको कोई गरज नहीं होती है। वह मन, वचन, कायके कार्योंसे उदासीन होजाता है। लोकके भीतर रहते हुए भी वह लोककी तरफ दृष्टिपात नहीं करता है। उसकी पूर्ण शक्ति निजरसके स्वाद भोगनेमें ही जमी रहती है। ऐसे रसास्वादीको परमात्मा कहो, अन्तरात्मा कहो, परम पवित्र कहो, परम ईश्वर कहो, चाहे उसके हजारों नाम लो, वस्तु वह एक रूप ही है। जो निजरसास्वादी हैं वे घरमें रहते हुए भी न त्यागी हैं न अत्यागी हैं, वे जो हैं सो हैं—उनका हाल वे ही जानते हैं। वे ही परमसाधु हैं और वे ही परम सुखी हैं।

४०१--शिव मंदिर.

जिस मंदिरमें परमात्म स्वरूप परमानंदी शिव विराजमान हैं वह मंदिर एक बडे उच्च पर्वतपर है जिस पर्वतकी रचना विशुद्ध भावोंकी बढ़ती हुई मालासे हुई है। जो व्यक्ति साहस करके इस गुणस्थानकी पर्वतश्रेणीपर चढ़ता है वह अवश्य शिव मदिरमें पहुच जाता है। वास्तवमें यह गुणस्थानरूपी पर्वत और यह शिवमंदिर दोनों ही अपने पास हैं और जिसको चढ़ना है वह व्यक्ति न पर्वतसे जुदा है न शिवमंदिरसे निराला है। आप ही भेद नयसे तीन रूप है। जब इस नयको गौणकर अभेद शुद्ध नयसे देखा जाता है तो ये तीनों भेद दृष्टिसे भिन्न होजाते है। तब तो एकाकार परम शुद्ध शिव महाराज अपनी अद्भुत ज्ञानानंदी

छटामें अपनी स्वात्मानुभूति तियाको आलिंगन किये हुए सम्यग्ज्ञानके नशेमें उन्मत्त परम सुखका भोग कर रहे हैं यही दिखलाई पड़ता है। ध्यानसे देखते हुए आप ही शिव मंदिर है व आप ही शिवरूप है। अपने आत्माके असंख्यात प्रदेशोका बना स्वक्षेत्र ही मंदिर है जहां चेतना, सुख, वीर्य चारित्र, सम्यक्त्व आदि गुणोंका अखंड अमिट समुदायरूप आत्मा, अपनी शुद्ध परिणतिमें परिणमन करता हुआ बिराजमान है। इसहीका दर्शन निश्चय धर्मका मनन है।

४०२-स्वात्म रंगभूमि.

आज एक ज्ञाता दृष्टा आत्मा शृंगार, वीर, बीभत्स आदि रङ्ग भूमियोंको छोड़कर व स्वात्म रङ्गभूमिमें जाकर समयसारका अद्भुत नाट्य कर रहा है। इस नाट्यका जो करनेवाला है वही देखनेवाला है। इस नाट्यकार आत्माका नृत्य इस अद्भुत विचित्रतासे होरहा है कि यह अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र, सम्यक्त्व आदि अनेक गुणोंकी पक्तियोंमें क्रमवार घूमता हुआ, उस प्रत्येक गुणका विलास लेता हुआ, फिर सम्पूर्ण गुणोंके मध्यमे चक्कर बांधकर नाचता हुआ ऐसा उन्मत्त होरहा है कि इसे न अपनी खबर रहती है न अपने गुण पर्यायोंका ध्यान रहता है। इस नृत्यके बारबार किये जानेसे आनन्दामृतकी जो वर्षा होती है उसका स्वाद भी उसीको आता है जो नृत्य कर रहा है। इस स्वातम रंगभूमिमें न पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य हैं, न अनन्तानन्त जीव द्रव्य हैं, न ज्ञानावरणादि आठ कर्मका मल है, न रागद्वेष मोहादि विभावोंका विकार है। यह भूमि परम निर्मल सर्व शुद्ध भावोंकी

पुष्पावलीसे सुगंधित होरही है। इस भूमिमें न कोई उपसर्गरूपी कटक है न परीषहोंके बादल हैं। इसको आनन्दका सागर कहें तो कुछ अनुचित नहीं है। यह भूमि पृथ्वीपनेके स्वभावसे रहित मात्र चेतनामई भूमि है। यह असख्यात प्रदेशावली रखती है तौभी यह अखण्ड है। इस भूमि और इस भूमिका स्वामी, उस स्वामीका नृत्य, और उसका दर्शक ये सब विकल्प हैं। वास्तवमें जो विकल्प रहित मात्र अनुभवगोचर पदार्थ है उसमें कुछ कहनेकी जगह नहीं है। जो जाने सो जाने, वही मौनी रहकर अपना निज रस आप स्वादे। जो मनन आनन्द गुण देता है वही निश्चय धर्मका मनन है।

४०३–समताभाव।

परम निरंजन ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व संकल्प-विकल्पोंसे रहित होकर एक परम समताभावमें विश्राम करता है जहां न कोई राग है न द्वेष है, न कामना है न विकार है, न मोह है न तृष्णा है, न खेद है न पश्चात्ताप है, न आकुलता है न संशय है, मात्र जहां एकाकार आत्माकी शुद्ध परिणति ही आत्माके सुखसमुद्रमें कल्लोल कर रही है। इस कल्लोलमालामें बड़े बड़े ज्वारभाटे (जो मोहके क्षोभसे हुआ करते हैं) विलकुल भी नहीं हैं, इसीलिये यहां परम समताभावका साम्राज्य है, जिस भावके सामने सम्पूर्ण भाव कुभाव हैं, विभाव हैं, कर्मजनित हैं, त्याज्य हैं। मिथ्यात्व सासादनादिसे लेकर अयोग गुणस्थान पर्यन्त सर्व भाव समताभावकी अभेद, अटूट, परम निर्मल स्वानुभवगम्य भूमिकासे वाहर है। इस समताभावकी भूमिकामे ही मोक्ष और मोक्ष-मार्गका निवास है। यही निर्जरा और संवरका विकल्प है। यद्यपि

समताभावमें जीवादि सात तत्त्वोंका भेदभाव नहीं है न वहां सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका विकार है तथापि जो कुछ इस समताभावमें है वह सब कुछ वही है जो इस समताभावके स्वामीकी सम्पत्ति है । समतामें ही सुखसमुद्रकी निर्मल धारा परम प्रफुल्लित भावसे वहा करती है । समताभाव ही वह आदर्श है जहां स्वभावका अवलोकन व स्वभावका स्वभावमें रमण है । समताभाव ही धर्म है, यही परमशरण और उपादेय है ।

४०४--रागमें वैराग्य.

आज मैं सर्व अनात्मपदार्थोंसे हटकर अपना सम्पूर्ण रागभाव अपने आप परमात्म स्वरूप शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनंदमई पदार्थपर ही लगा रहा हूं । मेरा प्रेम स्रोत जो विश्वके अनेक आकर्षणकारी पदार्थोंपर वह रहा था, वह आज उन सबसे सरक कर एक निज भूमिपर ही आकर जमा होगया है । मैं ऐसा रागमें उन्मत्त होगया हूं कि मैं एक क्षण भी अपने इस आत्मप्रभुके दर्शन विना चैन नहीं पाता हूं । यह चक्षु उसीकी समतामय मूर्तिकी शोभाकी ओर टकटकी लगाए देखती हुई विश्रांति नहीं लेती है । मैंने अपना सर्वस्व उसकी भक्तिमें अर्पण कर दिया है । मेरे रागभावकी परम हद्द होगई है । मुझे अनेक अनात्मपदार्थ बुलाते है पर मैं उधर किंचित् भी रुख नहीं करता हूं । मुझे अरहंत व सिद्ध परमात्मा भी अपनी ओर खींचनेका संकेत मालूम नहीं अपने किस भक्तके द्वारा करते हैं, पर मुझे उनकी भी चाह नहीं है । मैं उनके भी दरवारमें जाकर प्रार्थना करना नहीं चाहता । वास्तवमें मुझे जिस सुख-शांतिके समुद्रको प्राप्त करना था वह मुझे परमप्यारे आत्मा-

रामके पास ही मिल गया है। अब मैं इस अमृतकुण्डको छोड़कर अन्य किससे राग करूँ। यह मेरा अद्भुत राग है, बड़े२ पंडित इसीको वैराग कहते हैं। यह राग हो या वैराग मुझे इस विकल्पसे कोई प्रयोजन नहीं है। मै तो सर्व धंधोंसे उन्मुख हो एक अपने परम प्यारे आत्मप्रभुके प्रेममें ही आसक्त हो मग्न होरहा हू।

४०५--वीरता।

जहां वीरता है वहां सहनशीतला है, जहां वीरता है वहां परके आक्रमणकी निष्फलता है, जहां वीरता है वहां स्वमार्ग पर स्थिरता है, जहां वीरता है वहां निष्कम्पता है, जहां वीरता है वहां स्वात्माभिमान है, जहां वीरता है वहां सम्यक्त्व है, जहां वीरता है वहां सम्यग्ज्ञान है, जहां वीरता है वहां सम्यग्चारित्र है। इंद्रिय विषय चोर और क्रोधादि कषाय लुटेरे नाना निमित्तोंको लिये हुए रात दिन इस आत्मवीरके मन वचन काय गुप्तिमई दुर्गमें प्रवेश करके इसके सुख शांतिमय आत्मीक धन सम्पत्ति व स्वाधीनताके राज्यको लूटनेके लिये प्रयत्न करते रहते है, परंतु इस निश्चय धर्मके ज्ञाता और अनुभव कर्ता वीर आत्माकी अद्भुत वीरताके सामने उनकी दाल नही गलती है। बहुतसे अज्ञानी दुष्ट मानव भी निन्दारूपी बाणोंसे प्रहार करते है। यह वीर अपनी माध्यस्थभावरूपी ढालसे उन आक्रमणोका निवारण करता है और अपने भावोमें उनसे रंच भी चोट नही लगने देता है। इसकी वीरताकी दृढ़ता इतनी संतोषप्रद है कि यह अपने स्वराज्यकी मर्यादाको रंच मात्र उल्लंघन नहीं करता है तथा अपनी हद्दमें परकी गंध मात्रको नहीं आने देता है। इसके स्वराज्यमें

इसके अनंत गुण और पर्याय रूपी प्रजाजन बड़े सुखसे विना किसी विरोधके स्वात्मीक शक्तिका पूर्ण विलास करते हुए वास करते हैं। यह वीर आत्मा अपना स्वामित्व रखता हुआ तथा उनको अपने आज्ञाकारी और भक्त पाता हुआ परम आनंद और संतोषमें मग्न होरहा है। इस आत्मवीरकी वीरता इसे परम निर्भय रखकर अपनी सम्पत्तिके भोगमें लगा रही है। यह निज स्वात्मानुभूतितियाके संगमें भोग करता हुआ जिस अतींद्रिय सुख रसका पान कर रहा है उसका कथन वचन अगोचर है।

४०६--वसंत भाव।

आज चेतनराम सर्व आकुलताओंको हटाकर निज आत्मबागमें कल्लोल कर रहा है। स्वात्मानुभवके सुवर्णमई रङ्गसे रंजित हो वसंतऋतुकी आभाको विस्तार रहा है। इस बागमें हरएक गुण रूपी वृक्ष वसंतके रंगमें रंग रहा है--इस दृष्टाको हर जगह वसंतपना ही दिख रहा है। वसंतकी एकतामें यह आशक्त होरहा है। इसके वसंतभावमें अन्य सर्व भावोंका अभाव है। इसीको अद्वैत भाव, स्वात्मानुभवरूप भाव, परम ध्यानभाव, शुद्धोपयोगरूप भाव, निराकुलभाव, वीतरागभाव या समताभाव कहत्ते है। रागद्वेष मोहका इस भावमें कोई स्थान नही है। इस वसंतभावमें एक अपूर्व कामरस वह रहा है जो मुक्तितियाकी ओर दत्तचित्त होरहा है। मुक्तितियाकी स्मृति इस प्राणीको सन्तोष प्रदान कर रही है, साथ ही परम स्वाधीन आत्मीक आनंदका स्वाद भी देरही है। वास्तवमें इस वसंतभावकी महिमा अपार है। अनेक योगी इस भावमें रमते हुए सुख-शांतिका लाभ करते हैं। यही भाव सच्ची पर्वतकी गुफा

है, यही सच्चा वन है, यही सच्चा वृक्ष कोटर है, यही सच्चा दुर्ग है, यही सच्चा महल है, यही सच्ची समाधि है। इस वसंतभावके प्रतापसे-अन्य विरोधी भावोंके उत्पादक कर्मबंध अपना कुछ भी आक्रमण नहीं कर सक्ते हैं। जो इस भावमें रमते हैं वे सब तरह कृतकृत्य और सुखी रहते हुए जीते रहते हैं।

४०७--अद्भुत मदिरा.

मदिरा पीना अपने आपको आपसे खोदेना है, परंतु आज इस चेतनरामने ऐसी मदिरा पी है कि जिसके नशेमें उन्मत्त हो यह अपने एक अद्वैतभावमें जम गया है—जहां इसने सिवाय आपके और सबको भुला दिया है। यह मदिरा निज स्वात्मानुभूतिमई है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रके परमनिर्मल मसालोंसे तय्यार होती है। इसमें स्वसंवेदन ज्ञानकी मनोहर सुगंध आती है जिसकी वासना और सर्व वासनाओंको हटानेवाली है। अन्य मदिराका पानी निन्दनीय होता है, परंतु इस मदिराका पीनेवाला परम योगियोंके द्वारा प्रशसनीय तथा महान् सम्राट् और इन्द्रादिके द्वारा पुज्यनीय होता है। इस अद्भुत मदिराके पीलेने-पर मद्यपायी एक चित्तसे अपनी ज्ञान चेतनारूपी तियाके भोगमें आशक्त होजाता है, उस समय जो अतीन्द्रिय आनंदका लाभ करता है वह वचन अगोचर है। संसाराशक्त ऐसे स्वात्मोन्मत्त व्यक्तिको वेकार, पागल व मूर्ख कहते हैं जब कि स्वात्मरस भोगी ऐसे व्यक्तिको परम पुज्यनीय कहते हैं। वास्तवमें जो स्वात्मानुभूति रूपी मदिराके पीनेवाले हैं वे ही सच्चे धर्मात्मा हैं। उनके ज्ञानमें लोककी स्थिति यथार्थ झलकती है तथापि उनकी दृष्टि लोक स्थितिसे भिन्न

निज आत्मस्थलीपर ही कल्लोल किया करती है। उनकी दृष्टिमें उनका आत्मा द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि तथा भावकर्म रागद्वेषादिसे नितांत भिन्न तथा अपने ही ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणोंसे परिपूर्ण, अमूर्तीक, शुद्ध असंख्यात प्रदेश धारी, शरीररूपी मंदिरमें शरीर प्रमाण आकार धारी, चेतना रूपी तेजका पुंज, परम निराकुल कृतकृत्य और शुद्ध दीखता है। वह दर्शक दृष्टि जब कि दर्शन योग्य निज पदार्थमें जमकर घुल जाती है तब ही मदिराका पूरा झलकाव होता है और ऐसा व्यक्ति सब तरहसे सुखी और शांत होजाता है।

४०८-अपूर्व धन।

यह ज्ञाता दृष्टा आत्मा जब अपने घरमें देखता है तब वहां आत्मीय अपूर्व धनको देखकर परधनकी सब तृष्णाको त्याग कर परम निस्पृह होजाता है। इस धनके अविनाशीपनेपर आश्चर्य आता है। यह धन हर समय उल्टे पल्टे जानेपर भी न बढ़ता है न घटता है। हर समय यह धनी अपने धनका उपभोग करता रहता है तौ भी यह धन किंचित् भी कम नहीं होता है। यह धन चेतनात्मक शांति और आनंदरूप है। भौतिक रुपया, पैसा, जमीन, आभूषण-रूपी धन अपने धनी स्वामीसे भिन्न ही रहता है, परन्तु यह चेतनात्मक धन धनी आत्मासे बिलकुल अभिन्न है। आत्माके असंख्यात प्रदेशरूपी घरोंमें हरएकमें यह धन समानरूपसे अटूट भरा हुआ है। अनादिसे अनंतकाल तक अपने अपूर्व धनका भोग करता हुआ यह धनी आत्मा परम संतोषित होरहा है। इसी संतोषके प्रतापसे इसकी और सब इच्छाएँ नष्ट होगई हैं। इसका भव-आताप शमन

होगया है। इसके घरोमें प्रवेश करनेकी हिम्मत किसी भी पौद्गलिक कर्मको वा किसी भी क्रोधादि विभाव भावोंको नहीं होती है। यह धनी विना किसी भयके अपने धनके स्वामित्वको रखता हुआ अपनेको सच्चा जिन, वीर और पुरुषार्थी मान रहा है। कोई प्रशंसा करो, व कोई निन्दा करो यह ज्ञानी उनकी चेष्टाओंसे विकारी नहीं होता है। यह तो सुदर्शन मेरुके समान निश्चल है। भले ही दूसरे न समझें परन्तु यह त्रिलोक विजयी होरहा है और अपने भोगमें मग्न हो सानंद रसपान कर रहा है।

४०९-परमयज्ञ।

मैं आज सर्व सांसारिक विकल्पोंको त्याग कर एक निर्विकल्प आत्म-समाधिमें जागृत रहता हुआ अपने ही आत्माकी भूमिमें आत्मध्यानकी अग्नि जला रागद्वेषादि भावकर्मोंको और ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंको इस अग्निमें दग्ध कर अपने ही आत्माकी प्रसन्नताके लिये परमयज्ञ कर रहा हूं। इस परमयज्ञमे किसी चेतनको कोई कष्ट नहीं दिया जाता है। मात्र अचेतन कर्मकी अवस्था पलटी जाती है। इस यज्ञका कर्ता परम वैरागी, सन्तोषी, और सम्यग्दृष्टी है। यदि देखा जाय तो इस यज्ञ क्रियामें और यज्ञ कर्तामें मात्र परिणामी द्रव्य और उसकी परिणति परिणामके समान अन्तर है। जब यज्ञ होता है तब कर्ता और कर्मका भेद नहीं रहता है। उस समय यज्ञकर्ता स्वानुभवमें तल्लीन होजाता है। यह स्वानुभवका यज्ञ बहुत ही विशाल व आदरणीय है। सिद्ध शुद्ध परमात्मा भी इसका त्याग नहीं करते है। साधुओंको तो यह अत्यन्त ही प्रिय है। श्रावकोंको इसी स्वानुभवसे सन्तोष मिलता है, सम्यग्दृष्टी जीव

इसीका शरण ले मोक्षमार्गमें बढ़ते जाते हैं। यही वास्तवमें ज्ञानियोंका जीवनाधार है। यही निश्चय रत्नत्रय तथा मोक्षद्वार है। इसी यज्ञके करैया भवांकुरको दग्ध करके परमानंदी होजाते हैं। यह परमयज्ञ ही ध्येय है जिसके लिये मुनि या श्रावकके अनेक क्रियाकांड किये जाते हैं। इस परमयज्ञमें जो उत्साही हैं वे जलमें कमलवत् बंधसे अलिप्त रहते हैं। वे सर्व संकटोंसे छूटकर निराकुल तत्त्वके अधिकारी होजाते हैं। यह यज्ञ ही परम सुधाका पान कराता है। वे धन्य हैं जो निरंतर इस यज्ञके द्वारा परमसुखका लाभ करते हैं।

४१०--यान आरोहण।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे शून्य होकर अपनी शुद्धोपयोगमई स्वराज्यकी प्राप्ति करना चाहता है। इसी हेतुसे इसने निश्चय रत्नत्रयमई यानपर सवारी कर ली है। इस सवारीपर जो डट जाता है वह शीघ्र ही मुक्तिके सुन्दर महलका स्वामी बन जाता है। वास्तवमें यह यान भी आप ही है और मुक्तिसुन्दरी भी आप ही है व आप ही आरोहण होनेवाला है। इत्यादि विकल्प और विचारोंसे शून्य निज आत्माका अनुभव ही सच्चा यान है। इस यानकी गति बहुत सूक्ष्म तथा तेज है—एक अन्तर्मुहूर्तमें संसारसे पार होजाता है। इस यानके बलको जो सम्हाल नहीं सक्ते हैं वे पुनः पुनः उतरते चढ़ते हैं। जो अन्य द्रव्यका आश्रय छोड़कर स्वद्रव्यमें स्वद्रव्यको देखते हैं उनको अपने द्रव्यमें न बंध दिखता है न मोक्ष दिखता है। तब यह आपको आपसा ही जानता देखता रहकर अपने निज धनके भोगमें लवलीन होकर सदा सुखी रहता है और मुक्ति-तियाको वरकर सदाके लिये द्विसयोगी होते हुए भी

अद्वैत एक और कृतकृत्य होजाता है, स्वानुभवकी तानमें मग्न रहता है, परमागमका विलास न होते हुए भी पूर्ण ज्ञानके प्रकाशमें उद्योत करता है, अनंत गुणरूप संत समागमसे परम तृप्त रहता है। परमब्रह्मका यान परम और अनुपम है।

४११--एकांत यात्रा।

ज्ञाता दृष्टा अमल आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर व सर्वसे मोह हटाकर व सर्व द्रव्योंकी संगतिसे आपेको छुड़ाकर अपने ही सुखसागरकी ओर एकांत यात्रा कर रहा है। साथमें कोई नही है तथापि जो उसके साथ अनादिसे अनंतकाल तक प्रेम रखते हैं ऐसे उसीके आधारमें रहनेवाले उसीके निज गुण व पर्याय कभी भी उसका साथ नहीं छोड़ते है। इनकी संगतिमें जाते हुए जो शुद्धोपयोगकी तलवार चमकती है उसके सामने किसी भी मोह-सेनाके सिपाहीके आनेकी हिम्मत नहीं पडती है क्रोध, मान, माया, लोभ कहां चले गए कहीं इनका पता नहीं चलता है। इस यात्रीके लिये अपने ही असंख्यात प्रदेश इसके चलनेका क्षेत्र है। सुखसागर भी अथाह है। यद्यपि इसीके प्रदेशोंसे बाहर नहीं है तथापि इसका अन्त नहीं आता। भूत भविष्यकाल अनन्त है तौभी इस यात्रीकी परिणमन रूप यात्रा कभी समाप्त नहीं होसक्ती है। इस यात्रामें न कोई आकुलता है न कष्ट है, क्योंकि सुखसागरके स्वाधीन आनन्दका स्वाद इसे हर समय आता है। सच पूछो तो यह यात्री सिवाय अपने क्षेत्रके न कहीं जाता है न आता है और यह निरंतर स्वाभाविक अनुभव लेता हुआ परम तृप्त बना रहता है।

४१२--ज्ञानकी दूकान.

इस लोकके बाजारमें एक विवेकी आत्माने ज्ञानकी दूकान खोली है । इसमें ज्ञानका बड़ा ही सुन्दर भंडार है । यह व्यापारी ज्ञानका सौदा अपने आत्मारूपी ग्राहकके हाथ देता हुआ सुख-शांतिका द्रव्य पाकर परम तृप्त होरहा है । इस ज्ञानकी दूकानमें बहुत ही निर्मलता है । इसमें अज्ञान, मिथ्यात्व व असंयम भावके दोष नहीं हैं । इस ज्ञानके भण्डारको कोई लूट नहीं सक्ता है, न नाश व छिन्नभिन्न कर सक्ता है । इस दूकानमें ज्ञानका आगमन भी अपने आत्मीक भंडारसे होता है तथा ज्ञानका विक्रय भी अपने ही आत्माके साथ होता है । वास्तवमें विचार किया जावे तो यह आत्मारूपी व्यापारी आप ही विक्रेता व आप ही क्रेता है । आप ही व्यापारकर्ता व आप ही उसका सुखरूपी फल भोगता है । ज्ञानकी दूकानमें आत्म वीर्यका ऐसा उत्तम पहरा है कि क्रोधादि लुटेरे व विषय विकारके चोर प्रवेश करना चाहते हैं तो भी रंच मात्र नहीं आसक्ते हैं । यह दूकान कभी बंद नहीं होती है न व्यापारीको कभी थकन चढ़ती है । यह अप्रमादी व्यापारी प्रमादके वश कभी नहीं होता हुआ न कभी नींद लेता है न कभी ऊँघता है । यह सदा जागता रहकर निरंतर व्यापार करता हुआ अपनी अमोघशक्ति व अनुपम तृष्णाके भावको झलका रहा है । यह ज्ञानकी दूकान इस ज्ञानी व्यापारीको इतना लाभ देती है कि यह किसी समय भी इस दूकानको बंद नहीं करता है । यह अनंत कालतक ज्ञानका ही व्यापार करता हुआ रहता है । इस व्यापारमें जो स्वाधीनतासे सुखशांतिका लाभ होता है वह वचन अगोचर है ।

४१३-अपना नाता।

एक व्यक्ति भववनमें भटकता हुआ जब देखने लगा कि कोई भी चेतन व अचेतन पदार्थ इस जगतमें है जिससे मेरा नाता रिश्ता हो, तो मालूम हुआ कि सब ही चेतन और अचेतन पदार्थ भिन्न२ सत्ताको रखते हुए अपने२ गुणोमें ही परिणमन करते हैं, न कोई किसीको अपने गुणोंमेंसे किसी गुणका या पर्यायका दान कर सक्ता है, न कोई किसीके गुण या पर्यायको किसी भी तरह छीन ही सक्ता है। हरएक व्यक्तिकी जब ऐसी वीतरागता है व स्वाधीनता है तब वह व्यक्ति भी अपनी सम्पत्तिको सम्हालता है। अपने भीतर सिद्ध भगवानके समान अपूर्व अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र, सम्यक्त आदि गुणोंका अटूट भण्डार देखकर परमानदमें मग्न होता है और फिर सब अन्योंसे वृथा नाता जोड़नेका भाव दूरकर अपना नाता अपने ही गुणोंसे जोड़ने लगता है। अर्थात् अपने ही गुणोंके विलासमें तन्मय होजाता है। तब रागद्वेषका झगड़ा मिटजाता है-ईर्षा, भय व चंचलता नहीं रहते हैं-पूर्ण शांतिका साम्राज्य होजाता है, स्वसंवेदन ज्ञान जग जाता है, स्वानुभवका श्रोत वह निकलता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्रमई रत्नत्रयका प्रकाश होजाता है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रका कहीं पता नहीं चलता है। यह ज्ञानी जीव जिस दृष्टिसे अपनी शुद्ध सम्पत्तिको देखकर आल्हादित होता है उसी दृष्टिसे जब अन्योंकी तरफ देखता है तो उनको भी अपने ही समान पाता है। इस तरह पूर्ण समता और वीतरागताका भाव झलकाता हुआ यह ज्ञानी जीव निजानन्दका विलास कर रहा है।

४१८–महान् निर्वाण।

परम ज्ञानी शुद्ध स्वरूपी अकलंक आत्मा अपनी सर्व कर्म-बन्धनकी वासनाओंको त्याग कर सर्व दोषोंसे रहित परम निर्वाण अवस्थाको प्राप्त होगया है। उसके न मोह है, न राग है, न द्वेष है, न दुःख है, न भय है, न विषाद है। यह परम तत्त्वका स्वामी अपनी लुप्त विभूतिको प्राप्त करके सर्व सांसारिक गतियोंकी टिमटिमानेवाली दीप्तिको सदाके लिये बुझा चुका है। यह परम शुद्ध अमिट ज्योतिमें प्रकाशमान है। जिस ज्योतिमें सर्व ज्ञेय पदार्थ झलक रहे हैं वह ज्योति परम शात और परम सार है। इसमें विषय कषायकी कालिमा नही है। यह सब तरहसे निर्विकार है। वास्तवमें विचार किया जावे तो यह आत्माराम सदा ही महा निर्वाणरूप है। इसमें किसी तरहका तप कभी हो ही नहीं सक्ता है। यह प्रकाशवान, प्रतापवान, सूर्यसे अधिकाधिक अनुपम शोभाका स्वामी है। इसके महा निर्वाणभावमें सब ज्ञेय झलकते हैं तौभी वह शुद्धोपयोग स्वभाव निज भूमिमें ही जमा हुआ है और अपने ही आत्मीक आनन्दके स्वादमें मग्न है। इसकी सुमेरुपर्वत सदृश मग्नताका कोई नाश नहीं कर सक्ता है। न यह परका कर्ता है, न यह परका भोक्ता है किन्तु अपनी परिणतिकी तरंगावलीसे सदा उत्पाद व्यय रूप है। इससे नित्य नए नए आनन्दका अद्भुत भोग करता है। इसकी स्वसमाधिरूपी कुटीमें किसी भी अन्य अतिद्वन्दी भावका प्रवेश नहीं होसक्ता है। जो कुछ आत्माराम है वही परम निर्वाण है, वही सुखसागर गुण-रत्नाकर है। जो इस सागरका स्नान करते हैं वे सदा ही स्वास्थ्ययुक्त रहते हुए रागद्वेष

मोहके विकारोसे कभी रोगी नहीं होते। वे निजामृतका पान करते हुवे परम तृप्त रहते हैं।

४१५–सुहावना उपवन।

आज मैं यकायक एक परम सुहावने उपवनमें आगया हूं जहां न वनस्पति है, न जल है, न पृथ्वी है, न कोई पशु है, न पक्षी है, न कोई मानव या देव है, न यहां कोई पुद्गलका परमाणु है, न कोई स्कंध है, न आकाश है, न काल है, न धर्म अधर्म द्रव्य है, न यहां कोई सिद्धात्मा है, न कोई संसारी है, न कोई क्रोधादि भाव हैं, न दया क्षमा परोपकारादिके शुभ भाव है। न यहां कोई ज्ञानावरणादि कर्म है न शरीरादि नोकर्म हैं। इस उपवनमें मात्र मेरे ही आत्माकी खेती फल रही है। अस्तित्व, वस्तुत्त्व, द्रव्यत्त्व, अगुरुलघुत्त्व आदि सामान्य गुणरूपी वृक्ष चहूं ओर अपनी छायासे शांति दिखला रहे है। चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य, सुख आदि विशेष गुण अपनी महती सुगन्ध और समतामई अपूर्व फलोंको धारते हुए इस उपवनकी परम शोभा बढ़ा रहे है। शील सन्तोषका निर्मल जल इन वृक्षोको सदा हराभरा और प्रफुल्लित रख रहा है। इस सुन्दर उपवनका स्वामी आत्मा इस उपवनमें एक चित्तसे रंजायमान होरहा है। जो आनंद इसके भोगमें आरहा है उसका कथन किसी भी तरह नही किया जासक्ता है। यह आत्माराम परम धैर्यके साथ नित्य इसी उपवनका उपभोग करता हुआ स्वात्मानुभवके रङ्गमें रङ्गा हुआ अदभुत ज्योतिसे प्रकाशमान है। जो इस उपवनमें रमता है वही सच्चा रमता योगी है।

४१६–महान् वैरी।

कर्मोंके छक्के छूट गए–जिस चेतनरामको दबाए बैठे थे उसको छोड़ना पड़ा। सारे जगतको एक चुंगलमें दाबनेवाले और एक छत्र राज्य करनेवाले मोह कर्मका मुख उदासीन होगया। अपने सामने वीतराग भगवानको देखकर कर्मोंकी पीठ टूट गई। मोह राजाने परमात्म देवको महान् वैरी समझा, वह किसी तरह इस देवको दमन करनेका उपाय सोचने लगा, किन्तु ज्यों ही परम देवकी शांत मूर्तिका स्मरण होता त्यों ही मोहको वेचैनी होजाती। मैंने जब अपनेको देखा तो आपको परमात्मपद समान पाया। मोहके फांसमें फंसा होनेपर भी मैंने जब अपना स्वरूप विचारा तो परमात्मासे किसी तरह न्यून न पाया। मैं जब दृढ़तापूर्वक अपनी ही निर्मल चेतन भूमिमें जम गया तव न कोई शत्रु दिखता न कोई मित्र दिखता। जहां देखता हूं वहां साम्यभाव और शांतरस छाया है। मुझे तब अन्य जगतके पदार्थोंके अस्तित्व रहनेपर भी एक आप ही आप सर्व तरफ मालूम होने लगा। अद्वैत निर्मल भावमें कल्लोल करते हुए मेरा उपयोग आप ही सुखसागरमें निमग्न होगया। अब न विकल्प है, न विचार है, न जाना है, न आना है, न बोलना है, न जागना है, न सोना है, न करना है, न भोगना है। सर्व कर्तृत्व और भोक्तृत्व भावकी शून्यता है। जो स्वाद इस समय मुझे आत्मारामको प्राप्त होरहा है वह मात्र अनुभवगोचर है। मुझे इस समय कोई शून्य, उन्मत्त या स्वार्थी तथा मुक्तिया कामी कहो तो कह सक्ते है, मुझे तो इस समय पूर्ण स्वभाव साम्राज्य प्राप्त है। यही मेरा निश्चय धर्म है।

४१७-ज्ञानदीप.

ज्ञानदीप अद्भुत प्रकाशमई है, सर्व प्रकाशोंको मंद करनेवाला है, लोकालोकका दृश्य बतानेवाला है, षड्द्रव्योंका भिन्न२ स्वरूप झलकानेवाला है, आत्माके तत्वको अन्य पांच द्रव्योंसे जुदा बतानेवाला है, सब आत्माओंको गुण व स्वभावसे समान दिखानेवाला है, शत्रु मित्रकी कल्पनाको मिटानेवाला है, निज आत्माकी सत्ताको पर आत्माकी सत्तासे पृथक् बतानेवाला है, निज आत्माका मोह सर्वसे छुड़ानेवाला है। आप अपने आत्म भंडारमें अपूर्व सुखशांतिका भंडार दिखानेवाला है, अतएव सांसारिक क्षणिक अतृप्तिकारी सुखकी वासनाका मोह मिटानेवाला है, आपके उपयोगको आपमें ही रमनेकी रुचि करानेवाला है। सर्व शंका, कांक्षा मूढ़तादि दोषोंको मिटाकर स्वस्वरूपमें निष्कम्प विठानेवाला है। ऐसे ज्ञान-दीपकका प्रकाश पाकर जो जीव निज समयसारके विलासमें लयता पाते हैं वे सिद्ध परमात्मासे किसी दरजे कम न होते हुए वीतराग विज्ञानकी तरगोंमें स्नान करते है और कर्ममैलको धोते हुए परम स्वच्छ होते जाते हैं। ज्ञानदीप मेरा है, मैं ज्ञानदीपका प्रकाशक हूं, यह विकल्प मेटकर जो दीपक समान, मात्र ज्ञाता दृष्टा रहते हुए किसीसे रागद्वेष मोह नहीं करते वे ही निश्चयधर्मका मनन करते हुए परमानन्दके अनुभवमें प्रकाश करते हैं।

४१८-श्री महावीर प्रभु।

आज मैं सर्व आकुलताओंको मेटकर श्री महावीर प्रभुकी

महावीर प्रभु पाता हूं। इसके समान कोई वीर नहीं है-इसकी रत्नत्रयमय परम तीक्ष्ण खड्गके प्रभावके सामने किसी कर्म या नोकर्म पुद्गलकी शक्ति नहीं है कि इसके आत्म प्रदेशोंमें प्रवेश कर सके। जहां कर्मका मेल अपना असर नहीं कर सक्ता वहां रागद्वेष मोहकी कालिमा कभी नहीं झलक सक्ती है। वहां तो मात्र शुद्ध सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सत्य सुख, अनुपम वीर्यका साम्राज्य है। वर्ण रस गंधादिका कहीं निशान नहीं। शुद्ध आत्मारामका सर्वांग परम सुन्दर व परम शक्तिशाली है। यही मुक्तिरूपी लक्ष्मी सहित कर्मशत्रुको कम्पानेवाला आत्माराम ही श्री महावीर प्रभु है। यह सदासे ब्रह्मचारी है। परके भोग रहित आप ही अपने ब्रह्मस्वभावमें रमण करनेवाला है। क्रोधादि शत्रु अनेक उपसर्ग करते हैं, परन्तु यह वीर आत्मा अपने स्वभावमें दृढ़ है। यह अतिवीर पौद्गलिक पदार्थोंके आक्रमणसे अजेय है। परम निर्मल स्वसंवेदन ज्ञानका स्वामी होनेसे यही आत्मा सच्चा सन्मति है। अपने स्वाभाविक गुणोंमें अनन्त वृद्धिको प्राप्त है इससे यही आत्मप्रभु सच्चा श्री वर्द्धमान है। यह प्रभु अजन्मा और अमर है। जो मन वचन, कायका निरोधकर अपनी दृष्टि भीतर संकोचते हैं उनको साक्षात् श्री वीरप्रभुके दर्शन होते हैं। देखो तो दृष्टा और दृश्य दोनो एक ही हैं। कौन किसको वंदना करे, कौन किसकी स्तुति करे। जहां विकल्पजालोंका त्याग होकर निर्मल स्फटिकमई शुद्ध प्रकाश है वहीं श्री महावीर प्रभुका अनुपम अवकाश है। वहां निजानदमई अमृतका प्रवाह है जिसका मज्जन परम मंगलमय और अथाह है।

४१९--परमानन्द.

सर्व संकल्प–जालसे रहित हो एक संत जन किसी अद्भुत परमानन्दमें मग्न होरहा है। उसे यह खबर नहीं है कि वह है व नहीं तथा वह है तो कहां है। उसके क्या गुण हैं और क्या पर्यायें हैं। एक तटस्थ विकल्पी जन उसकी महिमाका गुणगान कर रहा है। वह देखता है कि उस व्यक्तिमें पूर्ण एकांतता है तथा उसके प्रदेशोंमें परपदार्थोंका नामोनिशान नहीं है। वहां जब स्वत्त्वका अस्तित्व है तब ही परत्त्वका नास्तित्व है। शुद्ध शांति, शुद्ध वैराग्य, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध वीर्य, शुद्ध सुख आदि शुद्ध गुण सर्व प्रदेशोंमें व्यापक हैं इसलिये उस एकमें अनेकता व्यापक है। यह अनेकता एकताके साथ मित्रभावसे वास करती है। इन दोनोंका अविनाभाव सम्बन्ध है। इस व्यक्तिमें संसारके मायाजालका कहीं नाम भी नहीं है। वास्तवमें न वहां संसार है न मोक्ष है, न बंध है, न आस्रव है, न संवर है, न निर्जरा है। जो एकाकी परमब्रह्मका स्वरूप है सो अपनी मंगलमई ज्योतिसे परिपूर्ण झलक रहा है। यद्यपि यह व्यक्ति वचन वर्गणा और उसके प्रयोगसे रहित है तथापि इसके प्रत्येक प्रदेशमें स्फटिकमणि समान निर्विकारपना व परमानन्द पूर्णप्रकाशके साथ चमक रहा है। इस परमानन्दका स्वाद किसी पर पदार्थके भोगसे नहीं पाया जासक्ता है। वह जिस आत्मारामकी सम्पत्ति है उसीके पास मित्रत्व रखनेमें वह सहजमें भोगा जासक्ता है। भोक्ता और भोग्य, गुणी और गुण रूप होकर भेद दृष्टिसे दो है परंतु अभेद दृष्टिसे एक हैं। बिलकुल अभिन्न और अद्वैत हैं। इस अद्वैतताका विलासी ही वास्तवमें परमा-

नन्दका भोक्ता और परम तृप्तिका प्राप्त करनेवाला है। जो इस भेदको समझता है वही निश्चय धर्मका ज्ञाता और मननकर्ता है।

४२०—उत्कर्ष।

आज एक ज्ञानी आत्मा सर्व भवफंदोंसे व्यतीत हो व परम उत्कर्षको प्राप्त हो अद्भुत ज्ञानसरोवरमें कल्लोल कर रहा है। इसके उत्कर्षकी सीमा इसका स्वभाव विकाश है। इस विकाशमें पूर्ण स्वाधीनता है। पुद्गल देह व पुद्गल कर्मका वहां किंचित् भी अवकाश नही है। शुद्ध चैतन्यमय भूमिकामें क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, तप, त्याग, संयम, आकिंचिन्य और ब्रह्मचर्य आदि धर्म विना रोकटोकके क्रीड़ा कर रहे हैं। वहां औपाधिक भावोंका कुछ भी दर्शन नही होता है। शुद्ध आनन्द वीतरागताके रसमें सना हुआ एक पवित्र भोजन और स्वानुभव रसामृतमई निर्मल जल ये ही इस आत्माकी क्षुधा तृषा मिटानेको वश हैं। यह आत्मवीर सर्व मोह राजाके शस्त्रोंको विफल करता हुआ अपनी स्वाधीन शांतिमय स्वरूपानन्दी राज्यधानीमें विश्राम करके सब प्रकारकी निराकुलताका भोग भोगता हुआ परमोत्कर्ष संयममें लवलीन है। व्यवहार धर्मके विकल्प व अनेक धार्मिक रीति रिवाज, पूजा पाठ, जप, तपका वहां कुछ भी काम नहीं है। न वहां मंदिर है, न प्रतिमा है, न प्रतिमा दर्शन है, न कोई तीर्थ है, न कोई तीर्थयात्रा है, न नग्नपनेका निर्ग्रंथ भेष है, न वस्त्रधारी श्रावकके चिन्होंका आडम्बर है। यह ज्ञानी महात्मा मुनि व श्रावकके चारित्रकी भूमिकाको उल्लंघकर मात्र अपने स्वभावमें ही रमण कर रहा है। इसका यह उत्कर्ष ही उपादेय व मनन योग्य है। जो इस उत्कर्षके स्वामी हैं

वे प्रति समय सर्वको देखते व जानते हुए रहकर न किसीमें रागी हैं, न द्वेषी है, मात्र परम वीतरागी व स्वभावलिप्त हैं।

४२१—परम पूजा।

आज मैं अपने ही भीतर परम शुद्ध असंख्यात प्रदेशोंसे निर्मित देवलमें विराजित परमात्मदेवको परमात्मा स्थापन कर उनकी भक्ति करता हुआ परम पूजा रच रहा हूं। समता रूपी जलसे अभिषेक करके तन्मयताके वस्त्रसे स्वच्छ करता हूं फिर अष्ट प्रकारकी पूजा रचाता हूं। वीतरागताका जल चढ़ाके राग द्वेषमई संसारके कारणको नाश करता हू, परम सुगंधित सत्य पदार्थका स्वरूप भजनरूपी चंदन चढाकर मिथ्यात्वका परम अमंगलकारी आताप हटाता हू। अक्षय आत्मीक ज्ञानादि गुणोंका लक्ष्यरूपी अक्षतपुंज अर्पणकर अक्षय गुणोंका विकाशक होरहा हू। ब्रह्मचर्यमई अत्यन्त मनोहर पुष्पोंकी भेट देकर काम भावकी आतापका शमन कर रहा हूं। स्वात्मानंदमई अमृतका नैवेद्य चढ़ाकर अनादि कालीन क्षुधाका निवारण करके परम तृप्तिको पा रहा हूं। निश्चय रत्नत्रयमई स्वसंवेदनरूप दीपक जलाकर विकल्पमई तमको हटा रहा हूं। आत्मध्यानकी अग्नि जलाकर उसमें सर्व विकारोंका दहन कर रहा हूं। स्वातंत्र्यका मंगलमय फल चढ़ाकर अविनाशी अटूट स्वावलम्बरूपी फलका लाभ ले रहा हू। अनंत गुणात्मक आत्माका एकतान रूप अर्घ चढ़ाकर परम सुखका विलास ले रहा हूं। स्वात्मामें स्वात्माद्वारा स्वात्माके अर्थ स्वात्मामेंसे स्वात्म शुद्ध परिणति लेकर स्वात्माको अर्पण करता हुआ परम जयमालके मननसे सर्वांग शुद्धोपयोगका रंग जमाकर पूजक और पूज्यके द्वैत भावको उल्लंघकर

परम निष्कम्प अद्वैत भावमें विश्राम करता हुआ परम सुखी होरहा हूं।

४२२--प्रतिष्ठा.

एक ज्ञानी जीव लौकिक सर्व प्रतिष्ठाओंको छोड़कर व व्यवहार धर्म संबन्धी बिम्ब व मंदिर व धर्मशाला आदिकी प्रतिष्ठासे भी मुंह मोड़कर जिस प्रतिष्ठाकी कभी क्षति नहीं हो सक्ती उस प्रतिष्ठामें उपयुक्त होरहा है। आत्मारामकी प्रतिष्ठा अपने आत्माके आराममें ही विश्राम करनेसे है। यह परम अभिराम सुखधाम प्रतिष्ठा है। इस प्रतिष्ठाको बाधा देनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायोंकी वहां गुजर नहीं है। इस प्रतिष्ठामें स्वाभाविक आत्माका स्वरूपमें रमण है। जहां परम स्वात्मानुभवका विलास है और परमानन्दरूपी अमृतका स्रवण है। जिस अमृतके पान करनेसे सर्व बुभुक्षा, तृषा व थकन आदि उपाधियोंका अभाव होजाता है, स्वाधीनतासे स्वतंत्र भोजन मिलते हुए इस आत्मारामने सर्व अन्य चेतन अचेतन पदार्थोंकी आशा त्याग दी है। इस प्रतिष्ठाको ही सच्ची तीर्थंकर प्रतिष्ठा व आत्मप्रतिष्टा कहते हैं। यही निश्चय प्रतिष्ठा व्यवहार सम्बन्धी प्रतिष्ठाओंके लिये भी कारण है। इसी प्रतिष्ठाके आश्रयसे ही अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुका पद प्रतिष्ठित होता है, यही भाव मोक्ष है, यही भाव मोक्ष मार्ग है, यही भाव मुनिपद है, यही भाव श्रावकपद है, यही भाव सम्यक्तीका पद है। जो इस प्रतिष्ठाकी प्रतिष्ठा करते हैं वे ही निश्चयधर्मके मननकर्ता हैं।

४२३—अहिंसा.

जगतमें एक अहिंसाधर्म ही सार है। यही वास्तवमें आत्माका

-गुण है। यह अहिंसा परम वीतरागरूप सर्व विकारोंसे भिन्न है। इस धर्ममें न क्रोध, मान, माया, लोभ है, न हिंसात्मक अन्य भाव हैं, न यहा किसी भी प्राणीकी किसी भी तरह हिंसा है। यह शुद्ध स्वभाव परम समतारूप है। यह जहांपर रहता है वहां स्वयं उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचिन्य और ब्रह्मचर्यका निवास है। इस अहिंसाकी सत्तामें आत्माका आनन्द गुण विना किसी विरोधके विलास करता है। इस अहिंसामें ही सर्व मुनियोंके महाव्रत व श्रावकके अणुव्रत गर्भित हैं। यही वास्तवमें केवली तथा तीर्थंकरका स्वभाव है। यही परम सिद्धका सिद्धत्व है। इस अहिंसामें जगतभरके प्राणियोंका प्रेम गर्भित है न इसका किसीसे विरोध है। मैं अहिंसामई हूं, मैं सर्व विश्वप्रेममई हूं, मैं परम वीतरागी हूं, मैं परम ज्ञानदर्शन स्वभाव हूं, मै शुद्ध निर्विकार हू। यही मनन अहिंसाके महत्वको बताता है। जो इस अहिंसाके तत्त्वके जानकार हैं वे ही भेद-विज्ञानसे उत्पन्न स्वसंवेदनमई स्वानुभवके सच्चे स्वामी हैं। वे आप ही अपने स्वभावमें आशक्त रहते हुए परमतृप्तिके अधिकारी वने रहते हैं और सुखसमुद्रमे गोते लगाते हुए सदा शांतिका उपभोग करते हैं।

४२४--गुणोंकी यात्रा.

एक यात्री आत्माकी असंख्यातप्रदेशरूपी सडकपर चलता हुआ एक एक गुणकी सीमातक यात्रा करता हुआ भ्रमण करता है। वह कभी भी भूल करके भी अनात्माके प्रदेशमें नही जाता है। ज्ञान गुणकी सीमा लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीवसे लगाकर

अरहंत परमात्माके केवलज्ञानतक है । अनेक प्रकारके जीवोंके अनेक प्रकारकी ही ज्ञानगुणकी पर्यायें हैं । चारित्र गुणके विकाशकी सीमा अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानसे लेकर अयोगकेवली तक है । मध्यमें अनेक प्रकार वीतरागताके दरजे हैं । वीर्य गुणकी सीमा ल० निगोदियासे लेकर अरहंत परमात्मा तक है । स्वाधीन आनन्दगुणकी सीमा अविरत सम्यग्दर्शनसे लेकर अरहंत तथा सिद्ध परमात्मा तक है । अस्तित्व, वस्तुत्व आदि साधारण गुणकी सीमा सर्वत्र साधारण है । इस तरह निज आत्माके गुणोंकी यात्रामें एक निज शुद्ध आत्माके स्वाभाविक गुणोंकी ही यात्रा है । लक्ष्यबिंदु आत्माके ही अंश हैं । इस तरह यह यात्री वारम्वार इस गुण यात्राको करता हुआ परम शुद्ध निज भावका अधिकारी होकर सर्वथा सुख शांतिको ही भोगा करता है । इस यात्रामें विषयकषायरूपी चोर व लुटेरे कही भी प्रवेश नही कर पाते हैं । इस निर्विघ्न यात्रामें यात्रीको कोई कष्ट नहीं होता, सदा ही आनन्दामृतका पान होता है यही मोक्षमार्ग है ।

४२५--अध्यात्म वृक्ष।

एक पथिक भयानक तापसहित संसारबनके दुःखोंसे पीड़ित हो घूमता हुआ यकायक एक परम अपूर्व अध्यात्मवृक्षके नीचे आजाता है । इस वृक्षसे स्पर्शित शांतिमई पवन उसके सर्व आतापको हरण कर देती है। इस वृक्षकी छायामें बैठते हुए इसको परम विश्रांति मिलती है, चित्तकी सर्व आकुलता मिट जाती है । यह वृक्ष अपनी मनमोहिनी शक्तिसे इस पथिकके प्रेमको आकर्षित कर लेता है। पथिक शांत होकर इस वृक्षसे प्राप्त स्वानुभवरूपी मनोहर

फलोंको खाता है–स्वानन्दामृत रसको चूसकर अटूट संतोष प्राप्त करता है। भव तृषा मिटा देता है। पर पुद्गलादि द्रव्योसे नाता छोड़कर एक निज आतम द्रव्यके विलासमें उत्साहित होजाता है। इस अध्यात्म वृक्षकी महिमा अगाध है। तीर्थंकर महाराज भी इसी वृक्षकी छायामें बैठकर तप करते हुए सुख–शांतिके सागरमें मग्न होजाते हैं। सिद्धोंने सिद्धि पाकर भी जिस वृक्षकी सेवासे सिद्धि पाई है उसका संग कदापि नहीं छोड़ा है। निरंतर वे निज अमृतका पान करते रहते हैं। जो आत्मा द्रव्य आत्मीक गुणोंकी शाखाओंसे वेष्टित हो निज आत्मीक पर्यायरूपी पत्र पुष्पोंसे शोभित होता है वही अध्यात्म वृक्ष है। जो भव्य जीव इस वृक्षकी सेवा करेंगे वे निःसंदेह सर्व दुःखोंसे अतीत सुखभूमिमें विश्राम करेंगे।

१२६–अद्भुत चंद्र।

बहुत काल पीछे एक दृष्टाकी दृष्टिने ऐसे चद्रमाका दर्शन पाया है कि जो न कभी अस्त होता है, न उगता है, जो न कभी घटता है, न वढ़ता है, जिसको कोई मेघादि व राहु आदि कभी आच्छादन नही करसक्ते हैं, जो सुखशातिसे पूर्ण ज्ञान मई किरणोंको फैलाता है, जिसके दर्शनमात्रसे दृष्टाको परमानन्द होजाता है, जिसका निवास स्थान चैतन्यमय है व यह स्वयं भी चैतन्यमई है। अदभुत चंद्र जिसके भीतर झलकता है वह कभी अज्ञान व मोहके अंधकारमें नहीं फंसता है। उसका चारित्र परमशुद्ध स्वरूपावलम्बी होजाता है। वह सर्वका ज्ञाता दृष्टा होकर भी किसीसे रागद्वेष नहीं करता है। वह चंद्र आतमाराम है जिसकी ज्योतिके लिये जगतमें कोई उपमा नहीं मिल सक्ती है। इस चन्द्रमाका

साम्राज्य लोकालोकमें व्यापक है। जगतकी कोई शक्ति इसके शांतिमय शासनमें कोई विघ्न नहीं डाल सक्ती है। जो इस पर फूलोंकी वर्षा करनेको फल बरसाना चाहते हैं उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा होजाती है व जो इस पर धूल फेंकते हैं उन ही पर धूल छा जाती है। यह वीतरागी चंद्रमा दोनों परस्पर विरोधी व्यक्तियों-पर समभाव रखता है तो भी एकका भला व दूसरेका बुरा स्वयं होजाता है। इस परमात्मा रूपी चन्द्रमाको चन्द्रप्रभु कहो, चाहे शांतिनाथ कहो, चाहे पार्श्वनाथ कहो, चाहे शीतलनाथ कहो, चाहे अनंतनाथ कहो, चाहे धर्मनाथ कहो, चाहे सुमतिनाथ कहो, चाहे अजितनाथ कहो, चाहे श्रेयांसनाथ कहो, चाहे विमलनाथ कहो, चाहे वर्द्धमान कहो सबका भाव एक ही है। जो भव्य जीव निरंतर इस चंद्रमाका दर्शन करते हैं और स्वानुभवामृतका पान करते हैं वे ही परमसंतोषी रहते हुए सुवर्णमई जीवन विताते हैं।

४२७--कर्तव्यसाधन.

यदि कोई बुद्धिमान मनुष्य विचार करे कि उसका कर्तव्य क्या है जिसका साधन उसको करना चाहिये तो यही कहना होगा कि यह मनुष्य जब निश्चयसे आत्माराम है तब उसका कर्तव्य सुख-शांतिका पाना है। उस हीका साधन एक बुद्धिमानको करना योग्य है। सुखशांतिका समुद्र स्वयं आत्माराम है, यही जानकर श्रद्धान करना और उस ही समुद्रमें अवगाहन करना यही कर्तव्यसाधन है। अतएव एक आत्मा सर्व ओरसे उन्मुख हो मात्र अपने स्वरूपके सन्मुख होगया है। अपने भीतर जो अगाध ज्ञान, शांति, वीर्य, सुख, सम्यक्त्व आदि रत्नोंसे भरा हुआ समरस जलसे पूर्ण अपूर्व

समुद्र है उसके भीतर अवगाहन करता हुआ परम तृप्तिको पारहा है। इसके भीतर इद्रियजनित ज्ञानकी शून्यता है, परन्तु अतीद्रिय ज्ञानका मनोहर प्रकाश है। लौकिक कर्तव्यका अभाव है तथापि स्वात्मिक परिणमनरूप कर्तव्यका सद्भाव है। रागद्वेष मोहकी कालिमाका नास्तित्व है। तब वीतराग विज्ञानमय अभेद रत्नत्रयमई शुचिताका अस्तित्व है। वन्ध मोक्षादि तत्वोंकी कल्पनाका अदर्शन है तब निर्वन्ध परम शुद्ध स्वभावका अपनेसे अपनेमें दर्शन है। भव्य अभव्यके विकारोंका असम्बन्ध है तथापि स्वजीवत्वका परम अमिट तादात्म्य सम्बन्ध है। शरीरादि आश्रयका असग है तब निज शुद्ध प्रदेशोंके अविनाशी आश्रयका सग है। इस स्वमानके कर्तव्यसाधनमें मन, वचन, कायके परिश्रमका अभाव है तथापि स्वात्मीक पुरुषार्थका मगलमय सद्भाव है। जो व्यक्ति निजात्म गगाके सेवी हैं वे ही निज परमानन्द भोगी हैं, इति।

४२८--सतत् वर्षा।

इस जगतमें जब कभी२ वर्षा होती है तब इस आत्मारामके परमसुन्दर आराममें सतत् निरन्तराय परम अमृतमई परम शांतिकारक परमानन्दरूपी जलकी वर्षा हुआ करती है। इस वर्षाका जल जहांसे आता है वहीं समा जाता है। एक भी बूंद इस जलकी इस आत्माके आराममें कहीं बाहरसे नहीं आती है न यहांसे कहीं बाहर जाती है। इस ही कारण इस आत्मारामके स्वामी परम ऐश्वर्य्ययुक्त ईश्वर प्रभुको कभी भवका कोई आताप किंचित् भी दाह नहीं पैदा करता है। न विषय सुखकी कामना सताती है, न कषाय कलुषता कभी आती है। पुण्यका लोभ व पापका द्रोह भी

नहीं स्थान पाता है। स्वर्गोंके सुखोंकी प्रीति व नरकके दुःखोंकी अप्रीति वहां कहीं देखनेमें नहीं आती है। इस लोक परलोक आदिके सातों भय वहीं कहीं अड्डा नहीं जमा सक्के। जन्म व मरणकी वहां कोई कथा नही होती है। तथापि इस आत्मारामके अनंतगुणरूपी वृक्षोंमें सदा ही नवीन नवीन सदृश परिणतियें हुआ करती हैं जिनकी पुष्टि स्वात्मानुभवरूपी मेघोंसे वर्षे हुए जलसे भलेप्रकार हुआ करती है। इस वर्षाका माहात्म्य वचन अगोचर है। यही सिद्ध निरंजन आत्मदेवका परम अद्भुत स्वरूप है। वहां न कभी बाढ़ आती है न कभी जलकी कमी है व न कभी सूखा पड़ता है। ऐसे आनंदमई बागमें जो विश्राम करते हैं वे ही सच्चे निश्चयधर्मके मनन कर्ता परमयोगी और सच्चे सम्यग्दृष्टी हैं।

४२९-अपूर्व भानु।

जगतमें आत्मसूर्यके समान दूसरा कोई नही है। यह निरुपम है, सदा उदय रूप है, परम तेजस्वी है, कर्म कलंकसे कभी मलीन नही होता है, स्वपर प्रकाशक है, आताप दानकी अपेक्षा संसार–ताप–शमनकारक है। इस अपूर्व भानुका प्रकाश जिस व्यक्तिके भीतर होरहा है वह संसारके प्रपंचजालोंसे बिलकुल छुटा हुआ एक आनंदधाममें विराजता हुआ परम शांतिका अनुभव करता है। इस आत्मसूर्यके प्रकाशसे अनन्तगुण रूप वृक्षोंमें प्रफुल्लितपना रहता है। कोई कर्मरूपी कर्दम आत्माकी असंख्यात प्रदेशरूपी भूमिको मलीन नही कर सक्के हैं। इस सूर्यमें परम वीतरागता है। यद्यपि अनंतद्रव्य अपनी स्वाभाविक या वैभविक परिणतिमें नित्य पलटते रहते हैं तथा संसारी विकारी आ[illegible]

दृष्टिमें वे रमणिय या असुन्दर भासते हैं तथापि इस आत्मसूर्यमें वे वस्तुस्वरूप रूप प्रतिबिंबित होते हैं। उसके ज्ञानके प्रकाशमें रागद्वेषका विकार नहीं होता है। यही परम तीर्थंकर है जो आत्मतीर्थकी यात्राका फल प्रदान करता है। यही परम मंगलमय है जो सर्व आर्त्त रौद्र ध्यान रूप अमंगलोंका नाश करता है। यही परम अमृत है जो जरा मरण रोगोंको सदाके लिये शांत कर देता है। यही परम अगाध सुखसमुद्र है जिसमें अवगाहन करनेवालेको कभी दुःख व आकुलताका सामना नही करना पड़ता है। यही मोक्षरूप तत्त्व है व यही मोक्षमार्ग है। जिसकी ज्योतिमें चलना ही स्वाधीनताका आनद भोगना है। यह अपूर्व भानु परम निर्दोष और अव्याबाध है।

४३०—सरल गाड़ी।

परिणमनशील एक ज्ञाता दृष्टा आत्मा कालके अनादि अनंत प्रवाहमें यात्रा करता हुआ एक ऐसी सरल गाडीपर आरूढ़ है कि जो विना रोकटोक गमन करती है। यह गाड़ी अचेतन द्रव्योंसे निर्मापित नहीं है। यह चेतनात्मक है और अकृत्रिम है। इसमें कर्म और कर्मफलरूप अशुद्ध चेतनाके अंश नहीं हैं। यह गाड़ी शुद्ध ज्ञान चेतनारूप है। इसमें स्वानुभवरूप अति तेजस्वी बलवान और अव्याबाध तथा स्वाधीन एंजिन लगा है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमय निश्चय रत्नत्रयरूप मसाला इस एंजिनकी खुराक है। पंक्तिरूप आत्माके प्रदेशोंकी सडकपर यह गाड़ी गमन करती है। परम योगी इस गाड़ीका रक्षक या ड्राइवर है। यह गाड़ी शुक्ल लेश्यारूप है। इसमें कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म लेश्याएं

नहीं दिखती हैं। न इस गाड़ीमें रागद्वेष मोहरूप दुष्टोंकी और न इंद्रिय विषय वांछारूप लुटेरोंकी गुजर है। समताकी पवनसे प्रेरित यह गाड़ी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा निष्परिग्रहकी मनोहर चित्रकारीसे चित्रित आरोहक आत्मारामको विना किसी श्रम या आकुलताको उत्पन्न कराए ले जारही है। यह आत्माराम मार्गमें हर समय स्वात्मानन्दका भोग करता हुआ परम तृप्तिको पाता हुआ चला जारहा है।

४३१–शांतिनिकेतन।

एक आत्मा अशांतिके समुद्रसे बाहर जाकर शांतिनिकेतनमें प्राप्त हुआ है। यहां सर्व सामान शांतिके ही हैं–यहां राग द्वेषादि शूकरोंका व विषयादि कूकरोंका प्रवेश नहीं है। शांतिनिकेतन निर्मल आत्माकी प्रदेशावली है जहां अनंत गुणरूपी वृक्ष भिन्न२ शोभाको विस्तारते हुए भी परम अद्भुतताके साथ एक दूसरेमें व्यापक हैं। प्रत्येकका विस्तार आत्माके सर्वांगमें है। इन वृक्षोंमें अत्यन्त निर्मल सत्यताकी सुगंध व्याप रही है। इस शांतिनिकेतनमें स्वानुभवामृतमई जलसे पुरित परम स्वच्छ वापिका है जिस जलसे स्नान करना कर्म कलंकका धोनेवाला है तथा जिस जलका पान परम तृप्तिका देनेवाला है। इस स्थानमें जो बैठ जाता है वह सर्व संकल्प विकल्प जालोंसे छूट जाता है। उसका ध्यान सिवाय इस शांतिनिकेतनके अन्यत्र कहीं नहीं जाता है। यहां जो सुख इस आत्माका उपलब्ध होती है उसका कथन वचनातीत है। इस सुखमें किसी परवस्तुका आलम्बन नहीं है। यह निकेतन चतुर्गतिके संकटोंसे दूर है। यह परम आश्चर्यकारी आत्माका स्वसंवेदनमई स्थान

है। यहां न भूख है न प्यास है, न खेद है, न त्रास है। मात्र पूर्ण ज्ञान, वैराग्य और स्वात्मानंद विलास है। जो इस शांतिनिकेतनके निवासी हैं वे ही स्वभावाशक्त परमसुखी हैं।

४३२-गंगा स्नान।

श्री सुपार्श्वनाथ भगवानके पवित्र स्थानमें आत्मानुभूतिमई गंगा बह रही है जिसकी मनोहर तरगें आनंदित कर रही है। इस निर्मल गंगामें जब उपयोग स्नान करता है तब एकदमसे परात्मानुभूतिका मल हट जाता है और स्वात्मानुभूतिके द्वारा अपूर्व पुष्टता प्राप्त होजाती है। इस निर्मल आत्मगगाका स्नान बड़े भाग्यवान जीवोंको प्राप्त होता है। जो इस गंगाके प्रवाहको पालेते हैं उनको न मंत्रस्नानकी, न जलस्नानकी और न वायुस्नानकी जरूरत पड़ती है, वे आजन्म मोह कषायके मलसे दूर रहते हुए शांतताकी स्वच्छतामें चमकते रहते हैं। इस स्नानमें यह प्रभाव है कि स्नानकर्ताकी सर्व तृष्णा मिट जाती है—उसे भूख प्यास सताती नहीं, उसे शोक खेद जुगुप्सा कभी आती नहीं, वह नित्य आनंदभावमें मग्न रहता है, निराबाध होजाता है। इस गंगाके स्नानसे ज्ञाननेत्रमें ऐसी निर्मल ज्योतिका विकास होजाता है कि सर्व विश्व अपनी संपूर्ण अवस्थाओंके साथ उसमें एकसाथ झलक जाता है—न किसीको जाननेकी आकुलता होती है, न किसीको देखनेका क्षोभ होता है—सिद्ध साम्राज्यका स्वामित्व ही प्राप्त होजाता है। धन्य हैं वे प्राणी जो पवित्र गंगारूपी तीर्थके हो भवसागरसे पार होजाते हैं।

४२२--आनन्दकुटी।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे शून्य होकर तथा अन्य सर्व आधारोंको त्यागकर निज आत्माके परम शांत और अदभुत आधारसे विश्राम करता है। यह एक ऐसी आनन्दकुटी है जहां किसी परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाली इंद्रियविकारकी वासना नहीं है। यह कुटी अमूर्तीक चैतन्यमई शुद्ध प्रदेशोंसे बनी है। इसमें अचेतनपना व मूर्तीकपना बिलकुल नहीं है, न इसमें रागद्वेषादि विकार हैं। यह परम स्वच्छ स्फटिक समान भावकी रखनेवाली है। इस कुटीका ऐसा महत्त्व है कि जो इसमें विश्राम करता है उसको भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदिकी कोई बाधा नहीं सताती, न कभी आर्त्तरौद्र ध्यानका सम्बन्ध होता है। इसमें धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यानकी छटा सदा चमकती रहती है। यह कुटी नित्य अनित्य, एक अनेक, अस्ति नास्ति, भव्य अभव्य आदि स्वभावोंको रखती है तथापि एक अपने पारिणामिक जीवत्व भावमें तल्लीन है। इसको गंधकुटी भी कह सक्ते हैं, क्योंकि यहां वीतरागताकी परम स्वच्छ गंध आती है। आनन्दकुटीका वासी इस गंधमें इसी तरह लय होजाता है जिस तरह एक भ्रमर कमलकी गंधमें लय होकर अपने आपको भूल जाता है। इस कुटीको ब्रह्मालय कहें, सिद्धालय कहें, देवालय कहें, चैत्या-लय कहें या ज्ञानालय कहें सब ही कहना ठीक है। वास्तवमें यही कुटी एक चेतन प्रभुके वास योग्य है। स्वानुभव रसका पान कुटीवासीको अद्भुत आनन्द देता है और उसे परम प्रौढ़ बनाता है, वे ही सम्यग्दृष्टी हैं जो आनन्दकुटीको जानते और मानते हैं तथा नित्य इस निराकुल धामका सहवास करते हुए परम सुखी रहते हैं।

४२४--पुरुषका पौरुष.

निराकुलतापूर्वक नित्य सुखशांतिका लाभ करना ही एक पुरुषका पौरुष है। जब पुरुषका स्वभाव विचार किया जाता है तो यह स्वयं सकल ज्ञान दर्शन चारित्र व सुखका समुद्र है। पुरुषका यही पौरुष है जो वह अपने स्वभावमें रहे, अनेक उपसर्ग परीषह पड़नेपर भी अपने स्वभावसे विचलित न हो, कर्मोंके उदयकी प्रबल पवन इसके प्रदेशोंको सकम्प न कर सके, न तैजसवर्गणा इसका तैजस शरीर बनावे, न आहारवर्गणा इसका औदारिक, वैक्रियिक व आहारक शरीर बनावे, न भाषा वर्गणा न मनोवर्गणा कोई आक्रमण करे। पुरुषार्थी आत्मा केवल अपने शुद्ध स्वभावमें आशक्त रहता हुआ सबको जानता देखता हुआ भी उनसे रागद्वेष नहीं करता है। वीतरागी, व समदर्शी रहता हुआ चारों गतिकी सर्व अवस्थाओंका न कर्ता होता है न भोक्ता। यदि कुछ करता है तो अपनी परिणतिको करता है। यदि कुछ भोगता है तो अपने ज्ञानानंद स्वभावको ही भोगता है। यह बद्ध है ऐसा विचारना जैसे अयुक्त है वैसे यह मुक्त है ऐसा विचारना भी अनुचित है। वास्तवमें यह पुरुष बंध और मोक्षके प्रपंचोंसे शून्य है। यह न कहने योग्य है न सुनने योग्य है, यह मात्र अनुभवने योग्य है। स्वात्मानंदमें मगन होकर डूबे रहना व उसीका स्वाद लेना यही एक पुरुषका परम पौरुष है। जो इस पौरुषको पहचानते हैं वे ही महात्मा, अंतरात्मा व सम्यग्दृष्टी हैं। उनहीका शरीर वास भी सफलता रूप है। वे ही परम संतोषी और परम आल्हादरूप हैं, उनहींका जीवन सफल है।

४३५-शीतलता।

जो कोई ज्ञातादृष्टा अविनाशी आत्मा है वह एक परमानंदमई शीतलताके समुद्रमें अवगाहन करता हुआ अपना सर्व भवाताप शांत कर रहा है। वीतरागताको ही शीतलता कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायोंकी आताप इस शीतलतामें बिलकुल नहीं दिखलाई पड़ती है। शीतल स्वात्मरससे पूर्ण आत्मसमुद्रकी सर्व तरंगें परम शीतल और निर्विकार चमक रही हैं। इस शीतलताके साम्राज्यमें न कोई रोगादि व्याधि है, न कोई शोकादि आधि है। न यहां आर्तध्यान है न रौद्रध्यान है। यहां मात्र धर्मध्यान है या आत्मध्यान है या ध्यान ध्येय ध्याताका विकल्प ही यहां नहीं है। यहां तो मात्र एक केवल आत्मद्रव्य ही है। इसकी भूमिकामें सदा ही शीतलता वास करती है इसीसे यहां पूर्ण निराकुलता है। क्षोभका कारण कर्मोंका उदय है सो इस प्रभु आत्मामें किसी कर्मका रंचमात्र भी उदय नहीं है। शीतल भूमिमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि सर्व गुण परम साम्यभावसे रहते हुए एक दूसरेकी शोभामें सहायक हैं। वास्तवमें जहां शांतिका साम्राज्य है वहां अशांति व अनैक्यका प्रवेश बिलकुल नहीं हो सक्ता है। शीतल स्वभावसे ही पदार्थका उपभोग होता है और तब उसका स्वाद अनुभवमें आता है। आकुलतामें स्वाद बेस्वाद होजाता है। आत्मामें जो अतींद्रिय आनंद भरा हुआ है उसका स्वाद शीतलतामें आता है, जो स्वाद सिद्ध परमात्माके आत्मस्वादसे किसी तरह कम नहीं है, अतएव मैं भी सर्व प्रपंचजालोंसे बचकर एक मात्र शीतलताका ही उपासक होता हुआ आनंद अनुभव कर रहा हूं।

४३६--उपवनकी सैर.

एक ज्ञाताद्दष्टा अविनाशी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित हो जब एक अपूर्व उपवनको देख लेता है तब उसका आत्मा अत्यन्त मोही होजाता है और फिर किसी भी तरफ उपयोगको न लगाकर मात्र उस उपवनकी सैर करनेमें लग जाता है। इस उपवनकी सैर एक अद्भुत आनंदका दृश्य है जहां सुख शांतिका ही साम्राज्य है। उस उपवनकी भुमि समचौरस असंख्यात प्रदेशमई है। इसमें अनेकानेक गुणरूपी वृक्ष हैं। एक एक वृक्षमें अनंत अविभाग प्रतिच्छेदरूप पत्र हैं। प्रत्येक गुणकी प्रभा सपूर्ण उपवनमें व्यापक है। सब गुणरूपी वृक्ष एक दूसरेका हर तरह हित कर रहे हैं। उन वृक्षोंमें उपशमकी गंध फैल रही है तथा इनमें अगुरुलघुगुणरूपी पवनकेद्वारा पट् गुणी हानि वृद्धि रूप परिणतियें समय समय होती रहती हैं इनहीसे इनके जीवनका संचार है। इन वृक्षोंमें चेतनत्व, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, आनन्द नामके वृक्ष बड़े ही शोभायमान हैं, इन्हींके कारण इस उपवनकी शोभा अन्य अचेतन उपवनोंसे कहीं निराली है। इस उपवनके वृक्षोंमें कभी जरा म्लानता नहीं होती न कभी इनका क्षय होता है—अनादिसे अनंतकाल तक इनकी सत्ता झलकती रहती है। इस उपवनको न कभी रागका तूफान मुर्छित करता है, न कभी द्वेषकी अग्नि भस्म करती है। इस उपवनकी सैर करनेवाला भी उपवनसे कुछ कम नहीं है। जब वह उपवनकी सैरमें होजाता है तब दोनोका द्वैतभाव मिटकर परम अद्वैत भाव जाता है। यही सुखका समुद्र है।

४३७-ज्ञान-वापिका.

ज्ञाता दृष्टा आनंदकंद प्रभु ज्ञान-वापिकामें शांतिका स्रोत है ऐसा समझकर उसीमें नित्य स्नान करता है व उसीके मिष्ट स्वानुभवामृतको पीता है। लोग कहते हैं कि अमृतके पीनेसे अमर हो जाता है सो वह कोई पौद्गलिक अमृत नहीं है। वह आत्मजन्य अपूर्व सुखस्वभावकी परिणतिरूप अमृत है जिस अमृतके पानसे पानकरनेवाला अवश्य अजर अमर होजाता है। ज्ञान-वापिकाकी शोभा निराली है। इसकी चौहद्दी उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण धर्मके भावोंसे बनी हुई है। इसमें शुद्ध ज्ञानकी स्वसंवेदनरूप तरंगे उठती हैं। इसका जल क्षीरसमुद्रके समान निर्मल है। इसमें रागद्वेषादि विकलत्रय जंतु व मोहरूपी मगरमच्छ नहीं हैं। इसका जल न कभी बढ़ता है और न कभी शुष्क होता है। इस जलमें कभी दुर्गंध नहीं आती, न कभी यह बिगड़ता है। इस जलमें निर्मलता ऐसी है कि सर्व लोकालोकके जानने योग्य पदार्थ जैसे वे हैं उसी रूपमें सदा ही इसमें झलका करते हैं। उनकी झलकनसे इस वापिकामें कोई विकार नहीं होता। इसके तटपर अनेक भव्य जीवरूप हंस नित्य सैर किया करते हैं और जब प्यासे होते हैं झटसे इसका स्वानुभव रसरूप पानी पीकर तृप्त होजाते हैं। इस वापिकाका विस्तार असंख्यात प्रदेशमई लोकाकाशके बराबर पुरुषाकार है। चमत्कार यह है कि इसके एक प्रदेशमें जो त्रिलोकज्ञ व त्रिकालज्ञपना है, वही सर्व प्रदेशोंमें है। कोई प्रदेश किसी प्रकारके आवरणसे छाए हुए नहीं हैं। सिद्ध परमात्मा इस ज्ञान-वापिकामें नित्य मग्न रहते हुए परमानन्दका लाभ करते हैं। धन्य हैं वे जीव,

जो इस ज्ञान–वापिकाका आलम्बन लेते है और इसीमें मज्जनकर परम आल्हाद पाते है। आकुलता, क्षोभ, विषयविकार, संशय, प्रमाद आदि क्लेशोंको क्षणमात्रमें मिटानेवाली और अतीद्रिय आनंदके भावको झलकानेवाली यह ज्ञान–वापिका है। मै सर्व प्रपचोंसे छूटकर इस ही ज्ञान–वापिकाका आश्रय करता हूं जिससे परम शांतिका विलास करूँ।

४३८–दश धर्मकी माला।

आज एक ज्ञानी आत्मा परम मंगलमई उत्तम क्षमादि दश धर्मकी माला अपने कंठमें पहनता हुआ परम शोभाको विस्तार रहा है। उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच संयम तप त्यागाकिंचिन्य ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोके स्वभाव बड़े ही उदार, शात तथा कल्याणकारी हैं। ये वास्तवमें निर्दोष रत्न हैं। इनमें क्रोध, मान, माया, लोभका किंचित् भी मैल नहीं दिखता है। इसमें वीतरागताकी बडी ही मनोहर सुगन्ध आरही है जो अपनी ओर आकर्षित किये लेती है। इस मालाका कोई मूल्य नहीं है। जिसके पास यह माला कुछ दिनोंतक ठहर जाती है उसके ऊपर मुक्तिसुन्दरी प्रसन्न होजाती है और एक न एक दिन उसको अवश्य वर लेती है। इस मालामें कोई पौद्गलिक अश नहीं है। यह पूर्ण चैतन्यमई और निर्विकार है। इसकी ज्योतिसे ऐसा प्रभातसा समय झलकता है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग नामके चोर यहां प्रवेश नहीं कर सक्ते है। व्रत, समिति, गुप्ति नामके रक्षक इस मालाको चोरोके आक्रमणसे सुरक्षित रखते है। यह माला अकृत्रिम, अविनाशी व परम दृढ़ है। कोई भी इस संसारमें ऐसी वस्तु नहीं है

जो इस मालाको चूर्ण कर सके। दर्शक आत्मा इस अपूर्व मालाको देखते देखते परम तृप्ति पारहा है। उसको भूख प्यास आदिकी बाधाए नहीं सतातीं हैं। इस मालाकी बहारसे आत्माराम अपने स्वरूपमें तन्मय होगया है। उसका भाव निज आत्मानुभूतिके रसास्वादमें आसक्त है। यही कारण है कि जिससे इसको संसारके क्षणिक सुखोंसे अतीत अतींद्रिय अपूर्व आनन्दका मजा आरहा है।

४३९--शुद्ध भूमिमें चर्या।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्पविकल्पोंसे शून्य होकर और सब संसारके मार्गोंसे पराङ्मुख हो स्वात्मभूमिमें ही चलना अपना धर्म समझता है। यह स्वात्मभूमि परम शुद्ध है। इसमें कोई आठ कर्मका व नोकर्मका मल नहीं है, न यहां रागद्वेषादि भाव कर्म हैं। इस भूमिमें नयोंके भेद व स्वभावोंके भेद भी नहीं हैं। हम जब देखते हैं, तब यहां उत्तमक्षमादि धर्मोंके विकल्प भी नहीं हैं, न यहां स्वचतुष्टयसे अस्तिपना है, न परचतुष्टयसे नास्तिपना है, न नित्यपनेका विकल्प है, न अनित्यपनेका खेद है। यह भूमि पूर्णपने शुद्ध है, असंख्यात आत्मप्रदेश भले ही अनंत गुणोंसे वासित हों, पर एक शांत द्रष्टाको वहां कोई विषमता या ऊँचता या नीचता नहीं दीखती है। ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणोका व्यवहार भले ही कोई करो तो करो, इस आत्माकी भूमिमें इतनी स्वच्छता है व इतना एक समरसपना है कि वे गुण उसकी भूमिकामें ऐसे समा गए हैं कि गुणी और गुणमें कोई भी अंतर नहीं दिखता है। सामान्य स्वसंवेदन ज्ञानीको एकाकार शुद्ध भूमिका ही नजर आती है। बस इस रमणस्वभावधारी आत्मारामने इसी ही भूमिकामें

रमना, दौड़ना, कल्लोल करना, बैठना, उठना व विश्राम करना स्वीकार कर लिया है। आत्मारामकी परिणतिके विराधक यहां कोई शत्रु नहीं हैं, इसीसे पूर्ण स्वतंत्रता इस रामने पा ली है। अतएव जो सुख शांतिका आनन्द इस प्रभुको इस समय आरहा है, उसका वर्णन किसी भी तरह नहीं हो सक्ता है। वास्तवमें आत्माकी शुद्ध भूमिमें चर्याको ही स्वानुभूति, स्वात्मध्यान, समाधि या साम्यलब्धि कहते हैं। यही साक्षात् मोक्षमार्ग या मोक्षस्वरूप है।

४४०–शांतिनिकेतन।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे शून्य हो व संसारके भयानक इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग रूप आक्रमणोंसे निवृत्त हो एक ऐसे शांतिनिकेतनमें पहुंचता है जहा सर्व ओर शांति, वीतरागता और समताका साम्राज्य है। इस उपवनकी शोभा परम अदभुत और निराली है। दर्शकका मन सर्व अनात्मभावोंसे खिंचकर आत्मीक गुणरूपी वृक्षोंकी शोभामें अनुरक्त होरहा है। कभी ज्ञानके विस्तृत वृक्षको देखता है तो उसमें लोकालोकके सर्व ज्ञेयोंके प्रतिबिम्ब इस वृक्षके एकएक अंशमें झलक रहे हैं। जिधर इस वृक्षको देखो उसही तरफ वही जगतका त्रिकाल नाटक दिख रहा है। कभी सम्यग्दर्शनके वृक्षको देखता है जहा चेतन अचेतन दोनों द्रव्य पृथक्२ अपनी अपूर्व शोभाको लिये हुए वृक्षके दोनों तरफ बड़े शांत भावसे बैठे हुए हैं। कभी चारित्रके वृक्षको देखता है तो उसमें इतनी शुद्धता है कि हर स्थलपर वैराग्य ही वैराग्य छाया हुआ है। वहां किसी भी वृक्षांशपर क्रोध, मान, माया, लोभका कुछ मैल नहीं है। इस वृक्षपर साम्यभावकी अदभुत शोभा दिख

रही है। कभी आनन्द वृक्षपर दृष्टि डालता है तो वहां सच्चा अतींद्रिय व निराकुल सुख हर स्थलपर झलक रहा है। यहां सांसारिक दुःख और क्षणिक आकुलतामय सुखके आवरण बिलकुल नहीं हैं। कभी वीर्यगुणरूपी वृक्षकी ओर दृष्टि डालता है तो वहां ऐसी अनंत शक्ति पाता है कि किसीकी शक्ति नहीं है जो इसके एक भी अंशका खंडन कर सके। इस तरह अनंतगुणरूपी वृक्षोंकी शोभा देखता हुआ यह आत्मा परमसंतोषी और आल्हादित होरहा है। इसका उपयोग सर्व अनात्माओंसे दूर होकर मात्र एक इस शांतिनिकेतन उपवनमें ही तल्लीन होरहा है। बस यह ज्ञानी यहीं बैठकर स्वसमाधिमें विश्रामकर रहा है।

४४१–ज्ञानवापिका।

एक प्राणी भवातापसे संतापित हो व अत्यन्त त्रासित हो शांतिकी इच्छासे सम्यग्ज्ञानरूप जलसे भरी ज्ञानवापिकामें अवगाहन करता है। वहां स्नान करते ही संसारतापका शमन होजाता है, अनादिकालकी आकुलता मिट जाती है। सम्यग्ज्ञानरूप जलका स्वभाव परम निर्मल है। इसमें न रागद्वेषका मल है न द्रव्यकर्मोंका सम्बन्ध है, न शरीरादि नोकर्मका स्पर्श है, न भाव इंद्रिय या द्रव्य इन्द्रियकी संगति है। ज्ञानवापिकाका स्थान असंख्यात प्रदेशी है। इस ज्ञानजलकी स्वच्छताकी ऐसी महिमा है कि जितने जाननेयोग्य ज्ञेयपदार्थ अपने अनंतगुण व पर्याय सहित हैं वे सब एक साथ झलक जाते हैं। उनके प्रकाशसे इस ज्ञानजलमें कोई भी विकार नहीं होता है। जो प्राणी इस ज्ञानवापिकाका सेवन करता है वह एक अपूर्व सुख व शांतिका स्वाद पाता है। इन्द्रियाधीन

सुखका वहां नाम ही नही सुन पड़ता है। दीर्घकालतक किसी जलवापिकामें पड़े रहनेसे वस्तु प्रायः सड़ गल जाती है परन्तु इस वापिकामें चाहे अनंतकालतक यह भव्य जीव पड़ा रहे परन्तु इसको न कभी आकुलता होती है, न शीतता व्यापती है, न निर्वलता आती है किन्तु इसके विरुद्ध समय समय आत्मवलकी पुष्टि होती जाती है। इस जलमें न कोई विकलत्रय है, न जलकायिक जीव हैं, न इसके छाननेकी जरूरत है, न इसके साफ करनेकी। यह प्राणी इसी ही वापिकाके अमृतजलको पीता है और परम पुष्टि पालेता है, तब इसको किसी और वस्तुके खानेपीनेकी जरूरत नहीं रहती है। यह विवेकी प्राणी इसी ज्ञानवापिकामें सदा सुखसे बैठा हुआ इससे न निकलनेका संकल्प करके इसीमें गुम होजाता है।

४४२–ज्ञानांकुश।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित हो ज्ञानांकुशके द्वारा मनरूपी हस्तीको अपने वशमें करके उसे अपने इच्छित क्रीड़ास्थल स्वानुभूति वाटिकामें रमण करा रहा है। इस ज्ञानांकुशमें बड़ी शक्ति है। यह भेदज्ञानके अभ्याससे सतेज किया गया है। इसमें अनंतानुबन्धी कषाय संवन्धी मलीन जग असर नही करता है। यह ज्ञानांकूश मन हस्तीको स्वानुभूति वाटिकामें रमाते रमाते शुक्लध्यानके मार्गमें लेजाता है, जहांसे मुक्ति महल सीधा दिखता है। ज्ञानी आत्मा इसीकी सहायतासे जब विलकुल निकट पहुंच जाता है तब परमात्म धामकी विनयवश मनरूपी हाथीसे उतर पड़ता है। उसे वहीं छोड़कर आप अपने परमोपकारी ज्ञानाकुशको लिये हुए निर्मल मुक्ति-महलके पहले दरबारमें पहुंच जाता है। वहां

इंद्रादिक देव एक बड़ी सभाके मध्य उसका स्वागत करते हैं। यह ज्ञानी वीर आत्मानन्दके अपूर्व रसके स्वादमें मग्न उनकी ओर दृष्टिपात न करता हुआ उनके लिये परमोपकारी होजाता है। भक्तजन मोक्ष-मार्गको समझ लेते हैं। कूछ काल विश्राम कर यह सर्व पुद्गलकी संगति और रजसे छूटकर शिवमहलमें जाकर अनत-कालके लिये निराकुल सुखसागरमें मग्न होजाता है। मैं जब देखता हूं तब इस शिवमहलको अपने ही आत्माके लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशोंके मध्यमें ही पाता हूं। बस मैं इसी महलमें जाकर परम सुन्दर व परम योग्य निज स्वात्मानुभूति तियासे मिलकर द्वैततासे अद्वैततामें आकर अतिशय तृप्तिको पारहा हूं।

४४३--आत्मप्रतिष्ठा।

एक ज्ञानी आत्मा अपनी अनादिकालीन अप्रतिष्ठासे ग्लानित चित्त हो तथा अपने अनुपम सर्वोत्कृष्ट स्वरूपको विचार कर अब अपनी परमप्रतिष्ठाके हेतुसे सर्व संसारसे उन्मुख होकर एक अपने ही शुद्ध असंख्यात प्रदेशरूप घरमें ही तिष्ठना अपना परम हित समझता है और इसीसे अपने गृहमें बैठ गया है। बैठनेके साथ ही जो भीतर दृष्टिपात करता है तो वहां अनुपम भंडार देख पाता है जिसके दर्शन मात्रसे परमानंदित होजाता है। जो निधि आज-तक न देखी थी वह दीख जाती है। बस निश्चय करलेता है कि इस निधिका विलसना ही मेरी आत्मप्रतिष्ठा है। अब मुझे कुछ नहीं चाहिये—सर्व प्रकारकी इच्छासे निर्वृत्त होजाता है। लोका-लोकके सर्व पदार्थोंके सर्व गुण पर्याय निर्मलज्ञानकी निधिमें एक साथ अपनी परम मनोहरता बता रहे हैं. समताभावका मनो-

दर्शन होरहा है जिसके देखनेके साथ ही रागद्वेष मोहादि भावोंकी क्रूरता एकदम नष्ट होजाती है, अतीद्रिय आनन्दकी अद्भुत शोभा छारही है। वास्तवमें यहां इस शुद्ध आनन्दका एक वृक्ष ही फल रहा है जिसमें स्वानुभवके परम सार अमृतमई फल लग रहे हैं। यह कल्पवृक्षसे अनन्तगुणा और विलक्षण पदार्थका देनेवाला है। आत्माके जीतव्यके लिये जिस ज्ञानचेतनाकी आवश्यक्ता है उसका यहां अटूट भंडार भरा है। अनन्त वीर्यरूप शक्ति ऐसी बलवती है जो आत्मीक निधिकी रक्षा करती हुई इस घरमें किसी भी विरोधको प्रवेश नहीं करने देती है। यहां कोई भी विघ्नबाधाका खटका नहीं रहा है। ऐसे निज घरमें विलास करता हुआ यह आत्मा अपनी पूर्ण आत्मप्रतिष्ठाका पात्र होगया है। वास्तवमें यही उसका परमात्मपद है जो सर्वोत्कृष्ट अनुपम तथा सर्व प्रकारसे गृहण योग्य और सदा ही सुखरूप है।